

गुप्तकालीन उत्तर भारत
का
राजनीतिक इतिहास

डॉ० प्रशान्त कुमार जायसवाल

3538

पारिजात - प्रकाशन
पटना-१

प्रथम संस्करण, १९६२

मूल्य : रु० ६·५० न. पै.

प्रकाशक

राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली।

मुद्रक

बि० प्र० ठाकुर

लीडर प्रेस, इलाहाबाद

P. K. SRIVASTAVA
M. A. B. COM

गुप्तकालीन उत्तरभारत
का
राजनीतिक इतिहास

डॉ० प्रशान्त कुमार जायसवाल
एम० ए०, पी-एच. डी.



पारिजात-प्रकाशन
डाकबंगला रोड, पटना-१

The Political History of the Northern India During Gupta Period

By
Dr. P. K. Jayaswal

मूल्य १० रुपये मात्र

प्रथम संस्करण—अगस्त १९६५ : (C) लेखक
प्रकाशक—पारिजात-प्रकाशन, डाकबंगला रोड, पटना-१
मुद्रक—रमेशचन्द्र भार्गव, भार्गव प्रेस, पटना-३

गुप्तकालीन उत्तरभारत
का
राजनीतिक इतिहास

(काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से पी-एच० डी० उपाधि के लिए स्वीकृत शोध प्रबन्ध—The Minor Kings and Dynasties of Northern India during Gupta Period.)

डॉ० प्रशान्त कुमार जायसवाल, एम० ए०, पी-एच० डी०

आमुख

गुप्तकाल के इतिहास पर अबतक कई शोध-प्रबन्ध और पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं जिनसे गुप्तकालीन राजाओं और राजवंशों के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है, परन्तु विद्वानों ने इन राजाओं और राजवंशों का इतिहास प्रस्तुत करते समय उत्तर भारत की उभड़ती हुई तत्कालीन राजनीतिक स्थिति का ध्यान नहीं रखा। फलस्वरूप उनका इतिहास आनुवंशिक ही रह गया—घटनाओं का क्रमबद्ध तिथिपरक विवरण ही उसमें है। निश्चय ही तिथिपरक इतिहास का महत्व है, लेकिन मात्र घटनाओं का क्रमबद्ध तिथिपरक विवरण ही इतिहास नहीं है। इतिहास में कार्यकारण सम्बन्ध का अत्यधिक महत्व है। इस प्रकार किसी काल विशेष का इतिहास लिखते समय तत्कालीन समाजपरक प्रवृत्तियां और भावनाओं का भी विवेचन आवश्यक है। एक वैज्ञानिक इतिहास का निर्माण तभी संभव होगा जब घटनाओं में कार्यकरण-संबंध को ढूँढ़ा जाय। गुप्तकाल में भी कोई 'प्रेरक भावना' थी जिसके कारण शक्ति सम्पन्न और धन-धान्यपूर्ण हो गुप्तकाल 'स्वर्णयुग' के नाम से भारतीय इतिहास में प्रसिद्ध हुआ। वह प्रेरक भावना क्या थी, इसका सम्यक् अध्ययन अब तक लिखे गये इतिहास ग्रंथों में नहीं हो सका है। साथ ही उस काल में प्रवाहित होनेवाली उस धारा का भी, जो देखने में तो क्षीण थी किन्तु परिणाम में प्रबलतम थी, अत्यधिक महत्व है जिसके वशीभूत हो राजा-महाराजा एक-दूसरे के विरोधी और समर्थक थे। अतः इस भावना का भी समुचित मूल्यांकन अपेक्षित है। बिना इसके मूल्यांकन के गुप्तकालीन उत्तर भारत के राजनीतिक इतिहास का विवेचन अधूरा ही है। अतः इन्हीं प्रेरक प्रवृत्तियों से प्रभावित हो हमने अपने शोध के लिए प्रस्तुत विषय चुना।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध पाँच अध्यायों में विभक्त है। विषय-प्रवेश करने से पूर्व 'पृष्ठभूमि' को समझ लेना आवश्यक है। अतएव सर्वप्रथम पृष्ठभूमि लिखी गई। इसमें आलोच्य काल के राजाओं और राजवंशों के स्वरूप

(नेचर) और प्रकार (काइंड्स) की विवेचना की गई है। यहाँ हमने उस प्रेरक भावना और छोटे-छोटे राजाओं की द्वन्द्वात्मक प्रवृत्तियों का विवेचन किया है जिसके कारण गुप्तकाल इतना सम्पन्न हो 'स्वर्णयुग' के नाम से अभिहित हुआ। विचार की दृष्टि से यह पहला ही प्रयास है। इस अध्याय में लेखक की मौलिक देन गुप्तशासन के संगठन के सम्बन्ध में है। अब तक प्रायः सभी विद्वान डा० बेनी प्रसाद के ही मत को मानते रहे जिन्होंने गुप्त शासन को (Feudo-federal) कहकर अभिहित किया है। लेकिन लेखक ने यह सिद्ध किया है कि गुप्त शासन (Feudo-federal) नहीं अपितु (Imperialistic federal organisation) था।

पहले अध्याय में समुद्रगुप्त के दिग्विजय से पूर्व उत्तर भारत के राज्यों की स्थिति की विवेचना की गई है। इस काल में उत्तर भारत में बहुत से राजवंश थे जो 'विजिगीषु' बनना चहते थे। गणतंत्रो में भी नृपतंत्री व्यवस्था प्रवेश करने लगी थी। मालवों, यौधेयों और लिच्छवियों का उदाहरण दिया जा सकता है। इस प्रकार गणतंत्रों के लिए यह काल संक्रमण का काल था। नृपतंत्री व्यवस्था से प्रभावित होने के कारण ही मालवगण में बहुत से स्वतंत्र सरदार पैदा हो गये थे जो संभवतः 'विजिषुवु' भी बनना चाहते थे। राजाओं की इस महत्वाकांक्षा के कारण उत्तर भारत की राजनीति में अशांति व्याप्त थी। कारण था प्रबल केन्द्रीय शक्ति का अभाव। विशाल साम्राज्य की स्थापना में ऐसे अवसर महत्वाकांक्षी नृपतियों के लिए अनुकूल होते हैं। अतः मगध के महत्वाकांक्षी गुप्तों ने इस अवसर का पूर्ण उपयोग किया।

दूसरे अध्याय में समुद्रगुप्त के दिग्विजय का वर्णन किया गया है। उसके दिग्विजय की उत्तर भारत में कैसी राजनीतिक प्रतिक्रिया हुई, इसका भी सम्यक् विश्लेषण यहाँ किया गया है। समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् ही इस दिग्विजय के विरुद्ध प्रतिक्रिया हुई पर उसके पुत्रचन्द्रगुप्त द्वितीय ने प्रतिक्रिया-वादियों को पनपने नहीं दिया। इन विद्रोहों का दमन कर उसने उत्तर भारत के राजाओं और राजवंशों को अपने प्रचण्ड शासन के अधीन किया। इतने बड़े साम्राज्य पर वह पाटलिपुत्र और उज्जयिनी से शासन करता रहा। किन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् उसके उत्तराधिकारियों के

लिए पाटलिपुत्र और उज्जयिनी से इतने बड़े साम्राज्य पर शासन करना असम्भव हो गया। फलस्वरूप सुशासन के लिए कुमापुगुप्त के काल से साम्राज्य के कई प्रशासकीय केन्द्रों की स्थापना करनी पड़ी एवं राज्यों में व्याप्त विद्रोहाग्नि को शान्त करने के लिए प्रशासक के रूप में कहीं-कहीं स्थानीय राजवंशों के व्यक्तियों को ही नियुक्त करना पड़ा। कुमारगुप्त का काल गुप्तों का चरमोत्कर्ष-काल था। इस काल में देश का आंतरिक स्थिति पूर्ण शान्त थी। फलतः विद्या, कला, कौशल, वाणिज्य आदि का अत्यधिक विकास हुआ। किन्तु विद्रोही राज्य छिपे-छिपे गुप्त सत्ता के विरुद्ध विद्रोह के अवसर की ताक में लगे हुए थे। कुमार गुप्त जब मृत्यु-शय्या पर पड़ा था, तब यह विद्रोह पुष्यमित्रों के आक्रमण के रूप में प्रकट हुआ। लेकिन शक्तिशाली स्कन्दगुप्त ने इसका दमन कर दिया। दूसरा अध्याय यद्यपि यहीं समाप्त होता है, तथापि उत्तर भारत की राजनीतिक प्रतिक्रिया की परिसमाप्ति तीसरे अध्याय में होती है।

समुद्रगुप्त के दिग्विजय के पश्चात उत्तर भारत की राजनीतिक प्रतिक्रिया को हमने दो अध्यायों में इसलिए विभक्त किया है कि गुप्त सत्ता के विरुद्ध कुमारगुप्त प्रथम के जीवनकाल तक साम्राज्य के किसी कोने से विद्रोहाग्नि धधकी नहीं थी। यद्यपि गुप्त सम्राट् उत्तर भारत की राजनीतिक प्रतिक्रियाओं को दृष्टि में रखते हुए शासन की तदनुरूप व्यवस्था करते रहे तथापि कुमार गुप्त प्रथम की मृत्यु के पश्चात गुप्त साम्राज्य और गुप्त-वंश में गृहकलह के कारण हम इस विद्रोहाग्नि को प्रज्वलित होते देखते हैं जिसने गुप्त-वैभव को जलाकर भस्म कर दिया। इस प्रकार इस प्रतिक्रिया में भी 'नरम' और 'गरम' दो धाराएँ प्रवाहित होती रहीं। कुमारगुप्त प्रथम के जीवन-काल तक 'नरम' धारा का जोर रहा। उसकी मृत्यु के पश्चात ही 'गरम' धारा फूट पड़ी। इस 'नरम' को 'गरम' धारा से अलग करने के हेतु ही इस अध्याय को क्रमशः दो भागों में विभक्त किया है। गुप्तों के शिथिल पड़ जाने के कारण उत्तर भारत में बहुत से छोटे-छोटे राज्यों का उदय हुआ। तीसरे अध्याय में इन चोटे राज्यों की भी विवेचना की गई है।

छठी शती ईसवी के प्रथम चरण में भारत के पश्चिमोत्तर भाग में हूणों का उत्पात शुरू हो गया था। किसी शक्तिशाली नृपति न रहने के कारण वे मगध तक बढ़ते चले आये। लेकिन म्लेच्छों के विरुद्ध एक ही मोर्चा

लेने की भावना अभी शेष थी। गुप्त सम्राट् नरसिंहगुप्त 'बालादित्य' के नेतृत्व में एक संघ (कन्फेडरेसी) बना। हूणों को पराजित करने में इस संघ को सफलता भी मिली। ऐसा प्रतीत होता है कि इस संक्रमण काल में हूण आदि म्लेच्छों से अपनी देश और संस्कृति की रक्षा करने के लिए बहुत सी छोटी-छोटी शक्तियाँ पैदा हुई। इन छोटी शक्तियों के उदय एवं सामान्तवादी प्रथा के विकास के कारण आगे गुप्त साम्राज्य जैसा आदर्श साम्राज्य स्थापित करना कठिन हो गया। जब कभी कोई राजवंश राज्य विस्तार की दृष्टि से किसी राज्य पर आक्रमण करता था तब अन्य राज्य उसकी शक्ति को संतुलित रखने के लिए एक होकर उसका सामना करते थे। इसी कारण भारतीय इतिहास में गुप्त सत्ता जैसी अन्य कोई सत्ता कायम नहीं हो सकी। अंततोगत्वा हूण आक्रमण ने रहे-सहे गुप्त-वैभव को भी विनष्ट कर दिया। हूण आक्रमण और उत्तर भारत की राजनीतिक प्रतिक्रिया प्रस्तुत अध्ययन का चौथा अध्याय है।

हमारा पांचवां अध्याय शक्ति संतुलन काल का अध्याय है। सामन्तवाद के विकास के कारण शक्ति-सम्पन्न सुदृढ़ साम्राज्य की नींव डालना कठिन था। कठिन इस अर्थ में कि महत्वाकांक्षी नृपतियों ने एक सामन्त को दूसरे सामन्त से लड़ाना अपनी नीति का आधार बना लिया था। बराबर लड़ते-झगड़ते रहने से साम्राज्यों की शक्ति क्षीण होती गयी। और सामन्तवाद के विकास के कारण राज्यों में अशांति, आतंक और अव्यवस्था का साम्राज्य फैला। यह अव्यवस्था मध्ययुग तक बनी रही।

अन्त में परिशिष्ट है, जिसमें सर्वप्रथम नेपाल के लिच्छवियों, उड़ीसा के राजवंशों और वलभी के मैत्रक शासकों के सिक्कों आदि का विवेचन है। नेपाल के लिच्छवियों के इतिहास का विश्लेषण करते हुए लेखक ने सर्वप्रथम नेपाल के प्रारम्भिक लेखों में अंकित तिथियों का संवत् निर्धारित किया है। संवत् निर्धारित करते समय उत्तर भारत की राजनीतिक गतिविधियों का नेपाल की राजनीति में प्रतिक्रिया का ध्यान रखा गया है। जब हम इस दृष्टिकोण से नेपाल के इतिहास पर विचार करते हैं तो नेपाल की घटनाओं का क्रमबद्ध-तिथिपरक इतिहास भी सरलता पूर्वक प्रकट हो जाता है। इस विवेचन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जिस दृष्टि से लेखक ने आलोच्य काल के नेपाल के इतिहास का विश्लेषण किया है उस दृष्टि से

आज तक प्रयत्न नहीं किया गया है। परिशिष्ट दो में उड़ीसा के राजवंशों की विवेचना की गई है। उड़ीसा के राजवंशों में 'विग्रह', शैलोद्भव,, और 'मानवंश' मुख्य हैं। आलोच्य काल में उत्तर भारत में जितने सम्राट् हुए उनका उड़ीसा पर (कोंगोदमण्डल) पूर्ण प्रभाव था। ये सम्राट् उड़ीसा को अपने प्रभाव-क्षेत्र में लाने का प्रयास क्यों करते थे, इसका विवेचन करते हुए उड़ीसा के इन तीन राजवंशों के इतिहास का विश्लेषण किया गया है। परिशिष्ट तीन में वलभी के मैत्रक शासकों के सिक्कों का विवेचन है।

मेरे प्रस्तुत शोध-कार्य के सूत्रधार परम पूज्य गुरुवर्य प्रोफेसर डा० अवध किशोर नारायण (आचार्य भारती महाविद्यालय एवं अध्यक्ष प्राचीन भारतीय, इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, का० वि० वि०) हैं जिनके अमूल्य निर्देशन ने इस कार्य को सरल एवं दीप्तिपूर्ण बना दिया। मैं उनके प्रति अपनी विनीत श्रद्धा प्रकट करता हूँ और हार्दिक रूप से आभारी हूँ।

मेरे परम श्रद्धेय गुरुवर डा० विश्वंभरशरण पाठक (रीडर, प्राचीन भारतीय इतिहात, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, का० वि० वि० अब अध्यक्ष प्राचीन भारतीय इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, गोरखपुर विश्वविद्यालय) ने इस प्रबन्ध की स्वरूप-रचना में अपने अमूल्य सुझावों को देकर मेरे प्रति जो स्नेह दर्शाया, वह अविस्मरणीय है। मैं उनके इस स्नेह भाव के प्रति हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करता हूँ। मैं अपने मित्र श्री रामस्वरूप मिश्र एम० ए० का आभारी हूँ जिन्होंने शोध-कार्य में समय-समय पर सहायता प्रदान की। साथ ही पुरातत्व विभाग, काशी विश्व-विद्यालय के ड्राफ्टमैन-आर्टिस्ट श्री मधुर जी और फोटोग्राफर भी धन्यवाद के पात्र हैं।

—प्रशान्त कुमार जायसवाल

संकेत-सूची

अ० हि० इं० :	Early History of India.
अ० हि० ना० इं० :	Early History of North India.
अ० इं० सें० ए० :	Early Empires of Central Asia
आर्कें० सर्वे० रि० :	Archaeological Survey Reports.
आर्कें० सर्वे० इं० रि० :	Archaeological Survey India Reports
इं० क्यू० के० :	Catalogue of the Coins in Indian Museum
इं० हि० इं० :	Imperial History of India
इं० आ० के० :	Indian Archaeology Review
इं० एं० :	Indian Antiquary
इ० हि० क्वा० :	Indian Historical Quarterly
इं० हि० का० :	Proceedings of the Indian History Congress
उ० हि० रि० ज० :	Orissa Historical Research Journal
एपि० इ० :	Epigraphia Indica
ए० भ० ओ० रि० इं० :	Annual of the Bhandarkar Oriental Res. Inst.
एज इं० यू० :	The Age of Imperial Unity
का० इं० इ० :	Corpus Inscriptionum Indicaum
कैटलाग :	Catalogue of the Coins in Ind. Museum, Smith

कैटलाग :	Catalogue of the Coins of the Gupta Dynasties and Sasanka king of Gauda (British Mus.) —Allan
कें० हि० इं० :	Cambridge History India
क्वा० एं० इ० :	Coins of Ancient India
ज० एं० सो० ब० :	Journal of the Asiatic Society of Bengal
ज० बां० इ० :	Journal of the Bombay University
ज० आ० ब्रा० रा० ए० सो० :	Journal of the Bombay Branch Royal Asiatic Society
ज० बि० उ० रि० सो० :	Journal of the Bihar Orissa Research Society
ज० बि० रि० सो० :	Journal of the Bihar Research Society
ज० डि० ले० :	Journal of the Department of Letters
ज० इं० हि० :	Journal of India History
ज० न्यू० सो० इं० :	Journal of the Numismatic Society of India
ज० रा० ए० सो० :	Journal of the Royal Asiatic Society
ज० यू० पी० हि० सो० :	Journal of the U. P. Historical Society
ज० ए० सो० :	Journal of the Asiatic Society
ज० गं० झा रि० इं० :	Journal of the Ganga Nath Jha Research Institute

ज० आ० हि० रि० सो० :	Journal of the Andhra Historical Res. Society
ज० आ० रि० सो० :	Journal of the Assam Research Society
ज० प्रो० ए० सो० बं० न्यू० सि० :	Journal and Proceedings of the Asiatic Society Bengal, New Series
डि० कि० म० :	Decline of the Kingdom of Magadha
डा० क० ए० :	Dynasties of the Kali Age
कै० म्यू० पंज० :	Catalogue of the Coins of Punjab Museum
पो० हि० एं० इं० :	Political History of Ancient India
मे० आर्क० सर्वे० इं० :	Memoirs of the Archaeological Survey of India
मध्यभारती :	Jabalpur University Bulletin
भारती :	Bulletin of the College of Indology, BHU.
सि० इं० :	Select Inscriptions bearing on Indian History and Civilization
से० बु० ई० :	Sacred Book of the East
न्यू० क्रा० :	Numismatic Chronicle
हि० ए० इं० :	History of Ancient India
हि० ना० ई० इं० :	History of North-Eastern India
ना० प्र० प० :	नागरीप्रचारिणी पत्रिका
प्रो० ओ० का० :	Proceedingad Transactions of All India Oriental Conference

बयाना होर्ड :	Catalogue of the Gupta Cold Coins in the Bayana Hoard
ऋ :	ऋग्वेद
वृ० :	वृहदारण्यक उपनिषद्
ऐ० :	ऐतरेय ब्राह्मण
महा :	महाभारत
मनु :	मनुस्मृति
प्रा० भा० अ० अ० :	प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन ।
प्रा० भा० शा० प० :	प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति ।

————

विषय-सूची

गुप्तकालीन उत्तर भारत का राजनीतिक इतिहास

पृष्ठभूमि

आलोच्य काल के राजाओं-राजवंशों के स्वरूप की विवेचना करने से विदित होता है कि सामन्त-पद्धति का विकास हो चुका था।[1] इस काल में इस शब्द का अर्थ अधीन शासक के रूप में होने लगा था।[2] यहाँ हम इन्हीं सामन्तों अथवा सामन्त राज्यों की विवेचना करेंगे जो किसी प्रभुराज्य अथवा प्रभुशासक के अधीन होते हुए भी अपनी आन्तरिक स्वायत्ता को सुरक्षित रखे हुए थे।[3] इन सामन्तों की स्वायत्तता तब तक बनी रहती थी जबतक प्रभुराज्य अथवा प्रभुशासक अप्रसन्न नहीं होते थे। दूसरे अर्थ में जब तक वे अपने प्रभु को प्रसन्न रखने में सफल रहते थे तबतक उनकी 'स्वतन्त्र सत्ता' का हरण नहीं होता था। यदि हम गुप्तों के पतन एवं यशोवर्मा की मृत्यु के पश्चात् उत्तर भारत में सम्राट्-पद के लिए राजवंशों में संघर्ष के इतिहास पर विचार करें तो इस प्रकार का उदाहरण मिलेगा जब प्रभुशासक अप्रसन्न होकर अधीन शासकों की स्वायत्तता को छीन लिया करते थे।[4] इस (सम्राट्) पद के लिए मौखरि और परवर्त्ती गुप्त यही दो राजवंश मुख्य रूप से प्रतियोगी थे। मौखरियों और परवर्ती गुप्तों में इसके लिए

---

१ कालिदास, विक्रमोर्वशीयम् ३·१६ :

२ 'सामन्त' शब्द की विस्तृत विवेचना लल्लनजी ने की है। देखिए, ज० रा० ए० सो० १९६३।

३ इन शासकों की सरकार भी अपने अधिपति के केन्द्रीय सरकार से मिलती-जुलती थी। इस प्रकार का उदाहरण परिव्राजकों और मैत्रकों का दिया जा सकता है जिनके अपने अमात्य, संधिविग्रहिक, दूतक, भौगिक आदि थे। (देखिए, का० इं० इं० ३, पृ० १००, १०५, १०६, १२०, १२४, १२६, १३४ और १७१)।

४ देखिये, पाँचवाँ अध्याय।

संघर्ष भी हुआ, जिसमें मौखरि पराजित हुए। सम्राट्-पद के लिए राजवंशों में इस संघर्ष के एवं केन्द्रीय सत्ता के अभाव के कारण उत्तर भारत में सामन्त राज्य अपने-अपने क्षेत्रों में स्वतंत्र राज्य की घोषणा करने लगे थे। सत्ता के इस होड़ में देश के विभिन्न प्रदेशों के विभिन्न राज्य नई स्फूर्ति लेकर अपनी-अपनी शक्ति-संगठित करते दीखते हैं। बंगाल में गौड़ वंश नए रूप में बल अर्जित कर रहे थे, वलभी के मैत्रक किसी भी आपत्ति का सामना करने के लिए सैन्यसंगठन करने में लगे हुए थे।[1] मौखरियों को पराजित कर जब परवर्त्ती गुप्त नृपति महासेन गुप्त (५६२-६०० ई०) ने विजय प्रयाण किया और एक विस्तृत साम्राज्य की नींव डाली तो वलभी के मैत्रकों ने उसकी अधीनता स्वीकार करने में सम्भवत: आनाकानी की, जिसके दण्डस्वरूप एवं उनकी बढ़ती हुई शक्ति को संतुलित बनाये रखने के लिए ही उसने धरसेन द्वितीय (५७१ से ६०० ई०) को जो उस समय वलभी का 'महासामन्त' था, अपदस्थ कर सामन्त कर दिया।[2] इस प्रकार उसको भी उसके सामन्तों के समान बना दिया जिससे वे आपस में टकराते रहें।

स्वभावत: यह जिज्ञासा हो सकती है कि जब धरसेन द्वितीय को उसके सामन्त के समान बना दिया गया तो उसके सामन्त (सामन्त महाराज सिंहादित्य) का महासेन गुप्त के साथ कैसा संबंध था? क्या उसने धरसेन का साथ छोड़ दिया? ऐसा हम इस आधार पर सोचते हैं कि धरसेन द्वितीय और सामन्त सिंहादित्य के अभिलेख एक ही स्थान से प्राप्त हुए हैं और सिंहादित्य के गु० सं० २५५ में अभिलिखित पालिताना से प्राप्त लेख[3] में मैत्रकों का महाराज के रूप में वर्णन नहीं मिलता, जबकि इसके पूर्व के सिंहादित्य के पूर्वजके लेख में मैत्रकों का 'प्रभु' के रूप में विवरण मिलता है।[4] इससे यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सिंहादित्य का सम्बन्ध परवर्ती गुप्तों से अच्छा था। वह सम्भवत: धरसेन द्वितीय को अब बराबरी के स्तर का समझने लगा।

---

१ वही।

२ देखिये, गु० सं० २५२ में अभिलिखित उसका लेख।

३ एपि० इं०, ११, पृ० १६।

४ ज० यू० बा० ३, ४, पृ०-७७-८०, १७५-१७७।

फिर, इन 'सामन्तों' को 'अधीन शासक' ही बनाकर क्यों छोड़ दिया जाता था ? इसकी यदि हम ऐतिहासिक विवेचना करें तो इसका समाधान मिलेगा। सिकन्दर द्वारा भारत पर आक्रमण के काल में देश में बहुत से छोटे-छोटे गणराज्य थे, जिनको देश की स्वतंत्रता की अपेक्षा अपनी स्वतंत्रता अधिक प्यारी थी। अपनी स्वतंत्र सत्ता को बनाये रखने के लिए, यदि उनकी स्वाधीनता में कोई बाधा डालने की चेष्टा करता था, तो वे उनसे जूझ पड़ते थे, रक्त की नदियाँ बहा दिया करते थे। बाहरी आक्रामकों को देखकर भी वह अपना आपसी वैमनस्य नहीं भुला पाते थे। फलस्वरूप सुसंगठित सिकन्दर की सेना के सामने एक-एक कर पराजित होते गए। यद्यपि सिकन्दर को भी लोहे के चने चबाने पड़े। सिकन्दर के जाने के तुरत बाद जब चन्द्रगुप्त मौर्य, विष्णुगुप्त कौटिल्य की सहायता से मगध की गद्दी पर बैठा तो उन दोनों ने देश की उक्त पराजय का सिंहावलोकन कर एक 'चक्रवर्ती राज्य' की स्थापना की। चन्द्रगुप्त मौर्य उसका प्रथम चक्रवर्ती 'राजा' हुआ।[1] नीलकंठ शास्त्री के अनुसार चन्द्रगुप्त और कौटिल्य सम्भवत: गणराज्यों के विरुद्ध थे।[2] अल्तेकर ने भी लिखा है, बहुत संभव है कि मौर्य साम्राज्य में बहुसंख्यक गणतन्त्र विलीन हुए होंगे। इसीलिए अर्थशास्त्र उनके बारे में विशेष वर्णन नहीं करता है। संभव है कि कुछ गणराज्य सामन्तों के समान अधीनता स्वीकार कर करद राज्यों के रूप में बचे भी होंगे। मौर्य साम्राज्य के प्रान्तीय शासक या राज्यपाल उन पर नियंत्रण रखते होंगे।[3]

किन्तु मौर्यों के पतन के पश्चात् जब भारत के पश्चिमी और पश्चिमोत्तर सीमा के सिंहद्वार की अर्गला के प्रहरी कोई नहीं रह गये, तब यवनों के पश्चात् शक, पह्लव, कुशाण, सासानी आदि एक के बाद एक आये। उन्होंने यहाँ के मूल निवासियों को पराजित कर उन पर शासन किया और बस भी गये। किन्तु भारतीय समाज सहज ही उनको मान्यता देने के लिए तैयार नहीं था उनकी परम्परा प्राप्त अपनी निश्चित आचार संहिता थी। उसीकी प्रेरणा से तत्कालीन समाज ने इन आक्रमकों को 'म्लेच्छ' की संज्ञा दी और इन

१ एज आफ दि नंदाज एण्ड मौर्याज, पृ० ७२।

२ वही, पृ० १७३।

३ प्रा० भा० शा० प०, पृ० २८५।

म्लेच्छों से आर्यावर्त की पवित्र भूमि के उद्धार का अनवरत प्रयास किया। म्लेच्छों के विरुद्ध भारतीय जनता की इस भावना का परिचय मनु के भाष्य में मिलता है, जहाँ भाष्यकार मेधातिथि ने लिखा है कि महत्वाकांक्षी नृपति को म्लेच्छों के देश को भी जीतकर वहाँ चातुर्वर्ण्य की स्थापना करनी चाहिए।[1] उस काल में यह बड़ी प्रेरक भावना थी। सम्भवतः इसी कारण पहली शती ईसवी पूर्व से तीसरी शती ईसवी तक देश में बहुत सी छोटी-छोटी शक्तियाँ पैदा हो गईं। गणराज्य भी उठ खड़े हुए, जिनको मौर्यकाल में सम्भवतः दमन कर दिया गया था।

म्लेच्छों से अनवरत संघर्ष के कारण ये छोटी-छोटी शक्तियाँ भी राजनीतिक रूप से जागरूक हुईं। अल्तेकर के विचारानुसार सम्भव है उन्होंने यह भी सोचा हो कि गणतन्त्र की अपेक्षा नृपतंत्र द्वारा विदेशी आक्रमण से अधिक सुरक्षा हो सकती है।[2] संभवतः इसलिए भी इस काल में, मौर्य काल की भाँति, राज्यों का उन्मूलन करना कठिन हो गया था। इसके अतिरिक्त वे किसी आक्रामक को आते देख संगठित भी हो जाया करते थे। यौधेय-कुणिन्दा-आर्जुनायनों का इस प्रकार का एक संघ (फेडरेशन) भी बना था।[3] इसी प्रकार चौथी शती ईसवी में जब चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य बंगाल की ओर विजय के लिए बढ़ा तो वहाँ के नृपतियों ने भी एक होकर मोर्चा (कनफेडरेशन) बनाया था।[4] इस मोर्चे में नेपाल के शासक भी रहे होंगे।[5]

किन्तु लल्लन जी गोपाल[6] ने विजित राजाओं को अधीनता स्वीकार कराकर छोड़ देने का भिन्न कारण बताया है। उनके विचारानुसार इसका मुख्य कारण धर्मविजय सिद्धांत था। इस सम्बन्ध में इनका कथन है कि 'धर्मविजय' की प्रवृत्ति भारतीयों में दृढ़ रूप से रूढ़ थी।[7] और धर्मविजय

---

१ मनु० २,२३१ पर मेधातिथि का भाष्य।
२ प्रा० भा० शा० प०, पृ० ११२।
३ देखिये, पहला अध्याय,।
४ देखिये मेहरौली लौहस्तम्भ लेख।
५ देखिये, आगे 'नेपाल के लिच्छवि'।
६ ज० रा० ए० सो०, १९६२, पृ० २६।
७ वही : This tendency is very old and deep-rooted in the Indian tradition.

में पराजित राजाओं को अधीन करके राज्यों को लौटा दिया जाता था। किन्तु इस विचार को हम मुख्य कारण के रूप में नहीं ग्रहण कर सकते क्योंकि 'धर्मविजय' का सिद्धान्त एक आदर्श था और आदर्श का व्यावहारिक जीवन में हमेशा पालन हो यह आवश्यक नहीं।

इसके अतिरिक्त एक और भी कारण बतलाया जा सकता है जिसके कारण पराजित नृपतियों को अधीनता स्वीकार कराकर छोड़ दिया जाता था। इस सम्बन्ध में हम उस प्रवृत्ति की ओर ध्यान आकर्षित कर सकते हैं जिसमें दानादि कार्यों को पुण्य समझा जाता था। दान कलियुग में धार्मिक जीवन का मुख्य अंग समझा जाता था।[1] यह प्रवृत्ति-वैसे तो बहुत प्राचीन काल से भारतीय जन-जीवन में प्रचलित थी किन्तु इसके जिस रूप का हम वर्णन करने जा रहे हैं, अर्थात् जिससे सामन्त-पद्धति के विकास को बल मिला, वह द्वितीय शती ईसवी से प्रारम्भ हुआ।[2] इस प्रकार की भूमि अथवा गाँव जब राज्य की ओर से दान किये जाते थे तो वे सब प्रकार के सरकारी बन्धनों से मुक्त हो जाया करते थे। उस भूमि अथवा गाँव पर तब दान प्राप्त करने वाले का शासन हो जाता था और उसको राज्य की संरक्षता प्राप्त होती थी।[3]

इस प्रकार के अधिकतर दान ब्राह्मणों को मिलते थे। राज्य की ओर से किये गये इस प्रकार के दानों के पीछे धार्मिक उद्देश्य ही हमेशा नहीं रहता था राजनीतिक उद्देश्य भी इसके पीछे काम करते थे। प्रमाण के रूप में वाकाटक नृपति प्रवरसेन द्वितीय का लेख देखा जा सकता है।[4] ऐसे राजनीतिक उद्देश्य का परिणाम यह होता था कि यदी विजेता राजा पराजित राजा का उन्मूलन करता था अथवा उसको अपनी अधीनता स्वीकार कराके

---

१ मनु० १, ८६ : तप : परं कृतयुगे ज्ञानमुच्यते।
द्वापरे यज्ञमेवाहुर्दानमेकं कलौयुगे॥

२ आर० एस० शर्मा, आसपेक्टस आफ पौलिटिकल आइडियाज एंड इंस्टीट्यूशंस इन एंसेंट इंडिया, पृ० २०२।

३ द्रष्टव्य परिव्राजक महाराज संक्षोभ का खोह ताम्रपत्र लेख (तिथि गु० सं० २०९) पंक्ति १५-१७।

४ का० इं० इं० ३, पृ० २४२ लेख पंक्ति ३६-४३।

नहीं छोड़ता था तो ऐसी दशा में उसके सामन्त जिनको भूमि-दान कर वह अपनी ओर मिलाये रहता था उसकी सहायता को आते थे ।[१] ऐसी दशा में राजनीतिक अव्यवस्था की सम्भावना अधिक रहती थी । सातवीं शती ईसवी के पश्चात् के राज्यो में सम्भवत: इसी कारण अधिक खुशहाली नहीं रह सकी । इसके अतिरिक्त मैत्रक ध्रुवसेन प्रथम जो सम्भवत: औलिकर यशोधर्मा द्वारा पदच्युत कर दिया गया था, अपनी खोई हुई स्थिति को पुन: अपने सहयोगियो और सामन्तों की सहायता से प्राप्त कर सकने में सफल हुआ ।[२]

बड़े सामन्तों के अधीन छोटे सामन्त होते थे । किन्तु गुप्तों का जब तक राजनीतिक प्रभाव रहा (सम्भवत: ५०० ईसवी तक) छोटे और बड़े सामन्तों के द्योतक शब्दों का उल्लेख हम नहीं पाते हैं । सब या तो 'महाराज', 'भट्टारक', 'उपरिक' थे अथवा 'नृप' । परन्तु गुप्तों के राजनीतिक प्रभाव में ज्यों-ज्यों ह्रास होने लगा छोटे और बड़े सामन्तों में विभेद स्पष्ट दृष्टिगोचर होने लगा । बड़े सामन्त 'महासामन्त' और भट्टारक उपाधि से अभिहित किये जाने लगे और छोटे 'सामन्त' और 'महाराज' उपाधि से । छठी शती ईसवी में सौराष्ट्र प्रदेश में पालिताना नामक स्थान से प्राप्त अभिलेखों के विवेचन से विदित होता है कि महासामन्त ध्रुवसेन प्रथम के अधीन 'गारुलक कुल' का 'सामन्त महाराज' वराहदास था ।[३] उसी प्रकार कलिंग राष्ट्र में

---

१ शर्मा, वही, पृ० २११ Theoretically the emperor injoyed the power of discussing his official s but in practical they and their discendents continued to be in office because of their local strength.

२ देखिये मैत्रक ध्रुवसेन प्रथम का लेख जिससे विदित होता है कि वह 'सामन्त महाराज' से 'महासामन्त' महाराज हुआ (देखिये, इं० एं० ७, पृ० ६८, दि भवनगर इंस्क्रप्शंस, पृ० ३५-३६, एपि० इं० २१, पृ० १७६ और वीरजी, एसेंट हिस्ट्री आफ सौराष्ट्र) । हमारे अनुमान का मुख्य आधार गारुलक नृपति वराहदास का लेख है जिसमें वह ध्रुवसेन प्रथम को अधिपति बतलाता है और बहुत से युद्धों में विजयी बतलाया गया है। यह लेख गु० सं० २३० में लिखा गया। ध्रुवसेन प्रथम ने अपनी खोई हुई स्थिति को गु० सं० २२१ में प्राप्त किया । इससे अनुमान किया जा सकता है कि ध्रुवसेन को वराहदास की सहायता प्राप्त थी।

३ ज० यू० बा०. ३, पृ० ७७-८० ।

'विग्रह कुल' के शासक पृथ्वी विग्रह 'भट्टारक के गु० सं० २५० में अभिलिखित सुमण्डल ताम्रपत्र लेख से विदित होता है कि पद्मखोल्य का शासक 'महाराज' धर्मराज उसके अधीन शासक था।[१]

सामन्त राज्य पर सम्राट् का नियंत्रण सामन्त के पद और सम्राट् के सामर्थ्य के अनुसार होता था। सम्राट् की आज्ञाओं का पालन करना सामन्तों का कर्त्तव्य था। सामन्तों के दानपत्रों और ताम्रशासन पत्रों में प्रभुशासक का नाम सर्वप्रथम होना आवश्यक था। जब तक प्रभुशासक शक्तिशाली रहते थे अधीनस्थ राज्य उसके नामों का उल्लेख करते। उदाहरण के लिए गु० सं० १६५ में एरण प्रस्तर स्तम्भ[२] लेख में मातृविष्णु ने सम्राट् के नाम का उल्लेख किया है। किन्तु सम्राट् के कमजोर पड़ते ही अधीनस्थ राज्य उसके नाम का उल्लेख न कर सम्राट् के पद अथवा वह जिस वंश का होता था उस वंश का उल्लेख करने लगते थे। वलभी के मैत्रकों ने अपने अभिलेखों में केवल सम्राट् के पद का उल्लेख किया है जिसके अधीन वे शासक थे।[3] उस समय कौन उनका 'प्रभु' था यह उनके अभिलेखों से विदित नहीं होता।[४]

किन्तु एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है, वह यह कि कौन-सी ऐसी शक्ति थी जो गुप्तों के प्रति सम्मानसूचक शब्दों के प्रयोग के लिए मैत्रकों और परिव्राजकों को नैतिक बंधन में बाँधे हुए थी? जबकि हम जानते हैं कि बुधगुप्त की मृत्यु होते ही बंगाल, उत्तरप्रदेश, राजस्थान और मध्यप्रदेश आदि क्षेत्रों में कई स्वतंत्र राज्यों की स्थापना हो चुकी थी (बंगाल में गोपचन्द्र, समाचार देव और धर्मादित्य आदि स्वतन्त्र हो गये)। छठी शती ईसवी के प्रथम चरण में इनके स्वतन्त्र होने का काल आँका गया है।[५] बघेलखण्ड में पाण्डव वंशी नृपति स्वतन्त्र हो गये। इनका काल पांचवीं शती ईसवी का अन्तिम चरण माना गया है।[६] मथुरा में 'नृपमित्र' नामक राजा

---

१ इं० हि० क्वा० २६, पृ० ७५।

२ उपाध्याय, प्रा० भा० अ० अ०, २, पृ० ७६।

३ वही, पृ० १३६ (परम भट्टारक-पादानुध्यातो)।

४ वही, पृ० ६३ (गुप्तनृपराज्य-भुक्तो)।

५ क्लासिकल एज, पृ० ७७।

६ वही, पृ० ३१।

स्वतन्त्र हो गया।[१] इसी तरह राजस्थान में भी 'गौर' अथवा 'गौरि' स्वतंत्र हो गये। इनके लेखों से इनका काल मा० सं० ५४७ मालूम हुआ है। इसके अतिरिक्त मंदसोर से प्राप्त मा० सं० ५२४ में अभिलिखित लेख से विदित होता है कि नृपति 'प्रभाकर' ने गुप्तों से अपना संबन्ध विच्छिन्न कर लिया था।[२] कोई असम्भव नहीं कि प्रभुशासक की 'प्रभुता का भय' ने अधीन शासकों को इस प्रकार के सम्मानसूचक शब्दावलियों के प्रयोग के लिए बाध्य किया हो।[३] किन्तु इस भय का क्या कारण था, इसका समाधान हमें सोचना होगा।

यवन, शक, पह्लवों के आने के पश्चात् तत्कालीन समाजशास्त्रियों ने भारतीय जन-जीवन को इनके प्रभाव से बचाने के लिए एवं इन आक्रामकों को अपनी पवित्र धरित्री से निकाल बाहर करने के लिए भारतीय जन-जीवन में इनके विरुद्ध भावना का प्रचार किया। इसके लिए उन्होंने इन बाहरी आक्रमणकारियों को 'म्लेच्छ' कहा। म्लेच्छों के विरुद्ध भारतीय जनता की इस भावना के प्रचार के कारण[४] प्रायः सभी लोग वर्णाश्रम धर्म की रक्षा-हेतु म्लेच्छों के आक्रमण को 'राष्ट्रीय संकट' समझ संगठित हो जाया करते थे जिससे संघ बन जाया करता था। उदाहरणार्थ यौधेयों-कुणिन्दों और आर्जुनायनों के बने संघ (फेडरेशन) को ले सकते हैं। ये जातियाँ केवल बाह्य आक्रमणों के ही समय संयुक्त नहीं होती थी बल्कि शासन में भी इन्होंने एक झण्डे के नीचे रहना सोच लिया था। यह हम इसलिए कह रहे हैं, कि यौधेय-सिक्कों पर अंकित 'द्वि' और 'तृ' का भेद विद्वानों ने यह बतलाया है कि वह क्रमशः कुणिन्द और आर्जुनायनों के लिए प्रयुक्त हुआ है।[५] इस प्रकार सिक्के ढालने का अधिकार इन गणों ने यौधेय गण को सौंप दिया था। इन्हीं म्लेच्छों के नाम पर यदि गुप्त शासकों ने भी अपने अधीन शासकों का

---

१ एपि० इं० ३४, पृ० ११-१३।

२ वही, २७, पृ० १५ लेख पंक्ति ८ श्लोक १० (गुप्तान्वयारिद्र मधूमकेतुः प्रभाकरौ भूमिपतिर्यमेनम्)।

३ ज० रा० ए० सो०, १९६३, पृ० ३४ नो० २।

४ मनु० २,२३ (यदि कश्चित्क्षत्रियादि जातीयो राजा साध्वाचरणो म्लेच्छान् पराजयेत् चातुर्वर्ण्य वासयेत)।

५ अल्तेकर, वाकाटक गुप्त एज, पृ० ३२।

एक संघ बना लिया, और उनसे सिक्के ढालने का अधिकार अपने हाथ में ले लिया हो तो आश्चर्य नहीं। क्योंकि इस प्रकार का आदर्श तृतीय शती ईसवी में पाते हैं। इस प्रकार के संघ (फेडरेशन) में राष्ट्रीय और राजनीतिक स्वार्थों को दृष्टि में रखकर एक अनुबन्ध होता है। राष्ट्रीय स्वार्थ से तात्पर्य है कि राष्ट्रीय संकट के समय सब राज्य एक होकर दुश्मन (संकट) का सामना करेंगे। इसी तरह राजनीतिक स्वार्थ से तात्पर्य यह है कि कोई राज्य दूसरे राज्य के अमन-चैन को अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए नष्ट नहीं करेगा।[1] इस प्रकार भावनाओं के वशीभूत होकर ही वे एक नहीं होते थे।

गुप्तसम्राट् महत्वाकांक्षी और साम्राज्यवादी थे। वे अपने साम्राज्य को सुरक्षित बनाये रखना चाहते थे और चाहते थे कि उनके अधीन राज्यों में भी अमन-चैन बना रहे तथा देश की सुख-समृद्धि में वृद्धि हो। म्लेच्छों के विरुद्ध भारतीय जनता की भावना और संघ-निर्माण की प्रवृत्ति हम अभी देख चुके हैं, जिसे गुप्तों ने अक्षरशः अनुसरित किया। निश्चय ही, इस तरह के संघ में देश का सांस्कृतिक और भौतिक विकास होता है। इस तरह के विकास का उज्जवल प्रतीक गुप्त काल है। इसी कारण इस युग को 'स्वर्णयुग' के नाम से अभिहित किया गया है।

श्री बेनी प्रसाद[2] ने गुप्तकाल के ऐसे संघ को सामन्तवादी संघ (फ्युडो-फेडरल आर्गनाइजेशन) के नाम से अभिहित किया है। किन्तु गुप्तकाल के इस संघ के लिए यह नाम उपयुक्त नहीं लगता। फिर, सामन्त नृपतियों का संघ (फेडरेशन) भी तो नहीं बन सकता। सामन्त राज्यों के सम्बन्ध में ऐसा कहा जाता है कि उनमें एकता सम्भव नहीं है। वे आपस में झगड़ते ही रहते हैं। गुप्तों के पतन के पश्चात् सामान्तों को हम इसी रूप में झगड़ते हुए पाते हैं। किन्तु गुप्त जब शक्तिशाली थे किसी को संघ तोड़ने का

---

१ चार्ल्स ड्रे कमीर (किंगशिप एण्ड कम्यूनिटी इन अर्ली यंडिया, आक्सफोर्ड, यूनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई १९६२, पृ० १८७) ने भी कहा है कि बुधगुप्त के काल तक गुप्त साम्राज्य में बर्बर आक्रमणों और सामन्त-पद्धति होने पर भी एक प्रकार की एकता थी। इस संगठन का कारण उन्होंने सामन्तों का संघ बतलाया है।

२ स्टेट इन एंसेंट इंडिया, पृ० २८५।

साहस नहीं था। जो ऐसा करता था उसका दमन कर दिया जाता था। पुष्यमित्रों ने सम्भवतः संघ तोड़ने का प्रयास किया था और वे नष्ट कर दिये गये[1]।

अब प्रश्न यह है कि यदि गुप्त साम्राज्य संघात्मक था तो उसका स्वरूप क्या था ? यह हम देख चुके हैं कि गुप्त साम्राज्य महत्वाकांक्षी थे और बाह्य आक्रमणों से अपने साम्राज्य की सुरक्षा एवं अधीन राज्यों में अमन-चैन रखना चाहते थे जिससे उनकी 'श्री' में वृद्धि हो सके। इसके लिए उन्होंने एक संघ का निर्माण किया। यह संघ पूर्णतः साम्राज्यवादी था, और गुप्त-शासन इस संघ का प्रधान था। अतः इसे साम्राज्यवादी संघ (इंपिरियलिस्टिक फेडरल आर्गनाइजेशन) कहा जाय तो कोई अत्ययुक्ति नहीं होगी।

सम्भवतः उक्त राष्ट्रीय भावना (म्लेच्छों को देश से खदेड़ देने वाली) के ही कारण हुणों कोप्रारम्भ में सफलता न मिल सकी। वलभी के मैत्रक और कालिन्दी और नर्मदा के बीच भूभागों के शासकों ने सम्भवतः एक होकर हुणों का सामना किया। किसी ने इस अवसर से लाभ उठाने की चेष्टा नहीं की। अपनी स्वार्थ-सिद्धि के निमित्त हुणों को निमंत्रित नहीं किया।

इस प्रकार के संघ में राज्यों की सहायता बनी रहती थी। वे अपने आंतरिक मामलों में स्वतंत्र रहते थे केवल सिक्के नहीं ढाल सकते थे। सिक्के ढालने का अधिकार केवल केन्द्रीय सरकार को था। गुप्त शासनान्तर्गत अधीन राज्यों के सिक्के सम्भवतः इसलिए नहीं मिल सके हैं।

कुछ लोगों का ऐसा कहना है कि संघ से विलग रहने वाले सामन्तों को भी सिक्के ढलवाने का अधिकार नहीं था।[2] प्रश्न हो सकता है जब सामन्तों को भी सिक्के ढलवाने का अधिकार नहीं था और संघ-शासन में भी राज्यों को सिक्के ढलवाने का अधिकार नहीं था तो हम क्यों कहें कि गुप्त काल में 'संघात्मक संगठन' (फेडरल आर्गनाइजेशन) नाम की कोई

---

१ देखिये स्कन्दगुप्त का भीतरी लेख पंक्ति ११ : समुदित बलकोशान्पुश्यमित्रांश्च जित्वा क्षितिपचरण पीठे स्थापितो वाम पादः।। देखिये आगे भी पृ० १०४।

२ अल्तेकर, प्रा० भा० शा० प०, प० २७२।

संस्था रही होगी? परन्तु इस बात की निस्सारिता मालूम हो जाती है जब हम सामन्त नृपतियों को सिक्के ढालते हुए पाते हैं। भारतीय इतिहास में विदेशियों, में शक-शासकों के काल में उनके अधीन शासक, इंद्रवर्मा का पुत्र सेनापति अस्ववर्मा और उसका भतीजा सस, अपने विदेशी प्रभुओं के नाम पर अपने सिक्के ढलवाते थे।[1] ऐसे सिक्कों पर एक ओर प्रभु राजा की मूर्त्ति और उसका नाम और दूसरी ओर किसी देवी अथवा देवता का चित्र और खरोष्ठी लिपि में अधीन शासक का नाम रहता था जो इन सिक्कों को ढलवाता था। सिक्कों को जिसको कि लोग परिव्राजक महाराज हस्तिन् का बतलाते हैं मान लिया जाय तो प्रमाणित होता है कि सामन्त सिक्के ढलवा सकते थे। किन्तु जहाँ तक परिव्राजक महाराज हस्तिन् के सिक्कों का प्रश्न है, उसका अभी तक कोई सिक्का नहीं मिला है।[3] अतएव लोगों का ऐसा कहना कि सामन्त नृपतियों को भी सिक्के ढलवाने का अधिकार नहीं था युक्तियुक्त नहीं है।

इस प्रकार इन विवेचनों से यही निष्कर्ष निकलता है कि गुप्तशासन का स्वरूप संघात्मक था, जिसकी संज्ञा हमने साम्राज्यवादी संघ दी है। इस प्रकार के शासन में देश का जितना विकास होता उतना एकात्मक संगठन (युनिटरी टाइप आफ् गवर्नमेन्ट) के निर्देशन में चलती सरकार की देख रेख में सम्भव नहीं होता। संघ के बन जाने से अंतर्राज्यीय व्यापार बढ़ जाते है, चोरी-डकैती कम हो जाते हैं। इससे साम्राज्य के कोष में वृद्धि भी हो जाती है। सम्भवतः इसीलिए गुप्त सम्राट् इतने अधिक सोने के सिक्के ढलवा सके। यही कारण है फाहियान[2] ने अपने यात्रावृत्तान्त में कहा है कि देश में अमन-चैन था, चोरी-डकैतियाँ नहीं होती थीं, देश के एक छोर से दूसरे छोर तक बिना किसी अनुमति पत्र (पासपोर्ट) के कोई व्यक्ति विचरण कर सकता था। बदमाशों का भय नहीं था। मृत्युदण्ड की सजा नहीं थी। किसी अपराध पर प्रायः दण्ड के रूप में जुर्माना हुआ करता था। जिस प्रकार की खुशहाली का वर्णन फाहियान ने किया है वैसा चित्रण न तो हम मौर्यकाल में पाते हैं, न हर्षकाल में।

---

१ पं० म्यु०कै०, १, पृ० १४७-५०।

२ देखिये, तीसरा अध्याय।

३ देखिये, गिल्स, दि ट्रैवेल्स आव फाहयान, कैंब्रिज, १९२३।

मौर्य काल में चोरी-डकैती अथवा स्त्री बलात्कार आदि अपराधों के लिए कठोर दण्ड का विधान था। इन अपराधों के करने पर मृत्यु दण्ड की सजा भी हो जाया करती थी।[१] पूरे साम्राज्य की देखभाल के लिए एक बड़ी सेना थी। न कोई हाथी रख सकता था न घोड़ा।[२] किन्तु गुप्त काल में ऐसी बात नहीं थी। अपराधों का दण्ड साधारण था।[3] लोग हाथी-घोड़ा भी रख सकते थे।[४]

उसी तरह 'गुप्तों' के पतन के पश्चात् 'युवान-च्वांग' जब भारत आया तो सब बदला हुआ था। 'फाहियान' की भाँति वह देश के एक छोर से दूसरे छोर तक निश्चिंत हो भ्रमण नहीं कर सका। वह रास्ते ही में लूट लिया गया था। अतएव उसकी सुरक्षा के लिए सम्राट् हर्षवधन को उसके साथ आदमी भेजने पड़े थे।[५]

इस पूरे विवेचन का संक्षेपण करते हुए यदि हम 'मैत्रकों 'और' परिव्राजकों' द्वारा 'गुप्तों' के प्रति सम्मानसूचक शब्दों के प्रयोग के बारे में सोचें तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचेंगे कि इस काल में जातिगत एकता थी तथा जन-जीवन और भावनाओं में गुप्त-वैभव ने अपना जड़ जमा लिया था। अतएव

---

१ देखिये बेशम, दि वण्डर दैट वाज इंडिया, पृ० ११६
(Even the benevolent Asoka, for all his distaste for the taking of life, did not abolish the death penalty.)

२ मैक्रिंडल, एसेंट एंडिया एज डेस्क्राइब्ड बाइ मैगास्थनीज एण्ड एरियन, पृ० ६०।

३ बेशम, वही, प० ११६।
('Humanitarian ideas, probably encouraged by Buddhism, were effective in Gupta times in moderating the fierce punishment of earlier days.)

४ देखिये, डा० रामशरण शर्मा, वही पृ० २१४-१५
(...... in the Gupta period owners of elephants and horses were regarded as natural protectors of the people, a function which was formerly discharged by regularly appointed officers of the state.)

५ देखिये बील, लाइफ आफ युवान-च्वांग।

जन-मानस से इसको एकाएक निकाल फेंकना कठिन था। यही कारण है कि 'गुप्तों' के पतन के पश्चात् भी उनके अधीनस्थ राज्य उनको सम्मान देते रहे।

गुप्त साम्राज्यांतर्गत राज्यों के संचालन के लिए 'राज्यपालों' की भी भी नियुक्ति होती थी। कहीं-कहीं पर 'राजप्रतिनिधियों' के रूप में राज-कर्मचारियों की भी नियुक्ति करनी पड़ती थी। इन 'राजप्रतिनिधियों' (पोलिटिकल एजेंटों) को सामन्त राज्यों के साधारण निरीक्षण का अधिकार रहता था। वे समय-समय पर प्रांत की अंतः स्थिति पर केंद्रीय सरकार को प्रतिवेदन भेजते थे और उसके आदेश के अनुसार अपनी नीति निश्चित करते थे। दशपूर के शासक बंधुवर्मा[1] के मालव संवत् में अभिलिखित एक लेख से विदित होता है कि ४३६ ईसवी के लगभग कुछ विद्रोहियों ने दशपुर आक्रमण किया। ऐसे विद्रोही क्षेत्र में किसी-न-किसी 'राजप्रतिनिधि' का होना आवश्यक था। कुमारगुप्त प्रथम के काल में इस प्रदेश का 'राजप्रतिनिधि' संभवतः गोविन्दगुप्त था।[2] इस प्रदेश से मालव संवत् ५२४ में अभिलिखित एक लेख से विदित होता है कि गोविन्दगुप्त इस प्रदेश का शासक था।[3] सम्भवतः इसके विद्रोही स्वरूप की ही एक झाँकी इस लेख से भी मिलती है जिससे विदित होता है कि प्रभाकर जो सम्भवतः पहले 'गुप्तों' के अधीन था, इस काल में स्वतन्त्र हो गया।[4]

संभवतः ४३५ ईसवी तक गुप्त साम्राज्य के पश्चिमी भाग का शासन पूर्वी मालवा के सागर जिले से ही होता था। गु० सं० ११६ में अंकित तुमैन लेख से विदित होता है कि इस प्रदेश का शासक घटोत्कचगुप्त था।[5] किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि इस प्रदेश से पूरे पश्चिमी क्षेत्र का न तो निरीक्षण हो पाता था और न उनका प्रतिनिधित्व। सम्भवतः इसीलिए

---

१ का० इंई०, नं० १८।

२ किन्तु अल्तेकर ने (प्रा० भा० शा० प०, पृ० ३०६) गोविन्दगुप्त को मालवा का राज्यपाल बतलाया है। राज्यपाल और राजप्रतिनिधि के संक्षिप्त विवेचन के लिए आगे देखिये।

३ एपि० ई० २७।

४ देखिये तीसरा अध्याय।

५ वही।

४३६ ईसवी में मंदसोर में कुछ आततायियों ने साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह किया जिसके दमन के लिए कुमारगुप्त को अपने भाई गोविन्दगुप्त को वहाँ भेजना पड़ा।[१]

कुमारगुप्त से पूर्व पूर्वी प्रदेशों का शासन पाटलिपुत्र से हुआ करता था। किन्तु पूर्वी प्रदेशों के सही प्रतिनिधित्व के लिए इस काल में पुण्ड्रवर्द्धन को राजधानी बनाकर 'दत्त' नामक शासकों को वहाँ का 'उपरिक' (राज्यपाल) बनाया। साम्राज्य के पूर्वी और पूर्वोतर प्रदेशों को राजनीतिक गतिविधियों पर ध्यान रखने के लिए ही पुण्ड्रवर्द्धन को राजधानी बनाया गया था।[२] इसके अतिरिक्त यहाँ के 'दत्त' नामक शासक को समुद्रगुप्त ने पराजित किया था।[३] कालान्तर में जो 'दत्त' नामधारी पुण्ड्रवर्द्धन 'उपरिक'[४] अथवा 'उपरिक महाराज'[५] हुए वे सम्भवतः इसी 'दत्त' कुल के थे। उसी तरह काशी और कोशल क्षेत्र की राजनीतिक गतिविधियों को देखने के लिए सम्भवतः कोशाम्बी को गढ़ बनाया गया जहां पर साम्राज्य की ओर से बुधगुप्त की मृत्यु के पूर्व तक किसी-न-किसी की नियुक्ति होती रही। स्कन्दगुप्त के काल में इस प्रदेश की राजनीतिक गतिविधियों पर नजर रखने के लिए 'महाराज' भीमवर्मा की नियुक्ति हुई थी[६] इसी तरह बुधगुप्त के काल में 'महाराज' लक्षणम की नियुक्ति हुई।[७]

किन्तु ऐसा लगता है कि साम्राज्यांतर्गत राज्यों का ठीक से प्रतिनिधित्व नहीं हो पा रहा था। सम्भवतः इसीलिए कुछ राज्यों में 'संघ' से सम्बन्ध विच्छिन्न करने की प्रवृति जगने लगी थी। कुमारगुप्त की मृत्यु के समय पुष्यमित्रों ने सम्बन्ध-विच्छेद करना भी चाहा था। परन्तु गुप्त अभी शक्तिशाली थे। स्कन्दगुप्त ने इनका दमन कर दिया और 'चक्रवर्ती' बना रहा। रीवाँ के सुपिया नामक स्थान से प्राप्त गु० सं० १४१ में अभिलिखित

---

१ वही।
२ देखिये डि० किं० म०, पृ० ७६।
३ देखिये दूसरा अध्याय।
४ एपि० इं०, १५, १२६, १३२।
५ वही, पृ० १३४, १३८।
६ देखिये, तीसरा अध्याय।
७ वही।

एक लेख में स्कन्दगुप्त को 'चक्रवर्ती' उपाधि से अभिहित किया गया है।[1] किन्तु केन्द्र से सम्बन्ध विच्छेद करने की भावना उसके मृत्यु के तुरत पश्चात् पुनः भड़की। सौराष्ट्र और गुजरात का संभवतः ठीक से प्रतिनिधित्व न होने के कारण वहाँ विद्रोह हो गया। मैत्रक सेनापति भट्टार्क ने वहाँ के राज्यपाल के विरुद्ध विद्रोह कर दिया।[†] किन्तु 'मैत्रकों' ने अपने लेखों में गुप्तों के प्रति सम्मान सूचक शब्दों का प्रयोग किया है। बुंदेलखण्ड के 'परिव्राजक' भी इस काल में स्वतंत्र हो गये। 'मैत्रकों' की भाँति वे भी गुप्त परिवार के सदस्य बने रहे।

बंगाल में भी असन्तोष था।[2] यही कारण है कि बुधगुप्त के काल में वहाँ के शासक 'उपरिक महाराज' कहलाने लगे।[3] सम्भवतः उनके अधिकारों में कुछ वृद्धि करनी पड़ी थी। इसके अतिरिक्त बंगाल के असंतोष को यदि कोई अन्य प्रमाण पुष्ट करता है तो वह है बुधगुप्त के ही काल में पुण्ड्रवर्धन भुक्ति के 'उपरिक महाराज' ब्रह्मदत्त के स्थान पर जयदत्त की नियुक्ति। किन्तु इससे भी बंगाल के असंतोष का निराकरण नहीं हो सका। इस असन्तोष का निदान तब सम्भव हुआ जब बंगाल का विभाजन हो गया। इसकी

---

१ वही।

† नोट : जिस प्रकार अर्वाचीन काल में भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध विद्रोह कर स्वतंत्र हो गया, किन्तु, राष्ट्रकुल का सदस्य बना हुआ है, सम्भवतः उसी प्रकार वलभी के मैत्रक भी गुप्त सम्राट के प्रतिनिधि के विरुद्ध विद्रोह कर, अपने को स्वतंत्र कर, गुप्त-परिवार के सदस्य बने रहे।

२ बंगाल के असंतोष और उसके विद्रोही स्वभाव का परिचय वहाँ के वे अभिलेख देते हैं जिन पर दानादि कार्यों का वर्णन है। ये दान पत्र केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों के सम्मुख लिखे जाते थे। और वह भूमि जो, दान दी जाती थी केवल 'कर' से मुक्त होती थी, जबकि परिव्राजकों और मैत्रकों के दानपत्रों की विवेचना करने से विदित होता है कि वह भूमि जिसका दान किया जाता था, वह न केवल 'कर' से ही मुक्त होती थी बल्कि प्रशासकीय अंकुशों से भी मुक्त रहती थी। इससे बंगाल के विद्रोही स्वभाव का अनुमान किया जा सकता हैं।
—देखिये, रामशरण शर्मा, वही, पृ० २१८ भी।

३ देखिये तीसरा अध्याय।

पुष्टि के लिए हम विजयसेन के मल्लसारुल ताम्रपत्र लेख को उद्धृत कर सकते है।[१] इस लेख में विजयसेन को महाराजाधिराज गोपचंद्र का 'वर्धमान भुक्ति' का प्रशासक बतलाया गया है।[२] विजयसेन की पहचान विद्वानों ने वैण्यगुप्त के गु० सं० १८८ में लिखित गुणैधर ताम्रपत्र लेख[3] के 'महाराज महासामन्त' विजयसेन से है।[४] एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य है, वह यह कि जहाँ गुणैधर लेख में विजयसेन को 'महाराज श्री महासामन्त' उपाधि से पुकारा गया है वहां मल्लसारुल लेख में उसको केवल 'महाराज'[५] विरद से अभिहित किया गया है। अब प्रश्न यह है की राजनीतिक स्थिति क्या थी ? इसका समाधान तब हो जाता है जब हम मल्लसारुल लेख के विजयसेन को अपने नाम का 'मुद्रांकन' करते हुए पाते हैं।[६] 'मुद्रांकित' करने का यह अधिकार उसको इसके पूर्व नहीं था।[७]

बुधगुप्त की मृत्यु के पश्चात् हूण-आक्रमण ने 'संघ' की सम्पूर्ण कल्पना को ही नष्ट कर दिया। 'हूण' आक्रमण के अतिरिक्त यदि अन्य किसी ओर से इस कल्पना को हानि पहुची तो वह थी शासकों द्वारा जागीरों का, भूमि का दान करना। डा० शर्मा के मतानुसार (अभिलेखों के आधार पर) गुप्तकाल में राजकर्मचारियों को पारिश्रमिक के रूप में वेतन दिया जाता था।[८] यद्यपि उस काल के साहित्यिक ग्रन्थों की विवेचना करने से विदित होता है कि राजकर्मचारियों को सैनिक[९] अथवा प्रसासकीय सेवाओं के बदले में जागीर आदि भेंट करने की प्रवृत्ति गुप्त काल से प्रारम्भ हो गयी थी जिसको पल्ल-

---

१ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० ३५६।
२ वाकाटक गुप्त एज, पृ० २१०।
३ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० ३३१।
४ वही, पृ० ३५६, नो० ५, सिनहा, डि० कि० म०, पृ० १०१, क्लासिकल एज, पृ० ७७।
५ देखिये लेख पंक्ति, १६।
६ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, प्लेट नं० ४८।
७ सिनहा. डि० कि० म०, पृ० १०३।
८ आसपेक्टस आफ पोलिटिकल आइडियाज एण्ड इंस्टीट्यूशंस इन एसेंट इंडिया, पृ० २०५।
९ मनु० ७, ११५-२०, बृहस्पति १६, ४४।

वित एव पुष्पित होने का अवसर, गुप्तों के पतन के पश्चात् छठी शती ईसवी में मिला।[1] इससे शक्ति का विकेन्द्रीकरण हुआ। राजस्व अब सीधे केन्द्रीय सरकारी कोष में नहीं आ पाता था। वह सामन्तों-जागीरदारों की कोठी भी भरने लगा।[2] परिणामस्वरूप ही हम जिस संख्या और किस्म में गुप्त सिक्कों को पाते हैं उस संख्या और किस्म में छठी शती ईसवी के बाद के शासकों के सिक्कों को नहीं पा सके हैं।[3]

शासन को सुचारु रूपसे चलाने के लिए योग्य शासक और सुसंगठित सेना के अतिरिक्त पुष्ट कोष की भी आवश्यकता रहती है। परन्तु शक्ति का विकेन्द्री करण हो जाने के कारण इस काल में राज्य की आय घट गयी थी। क्योंकि आय के जो साधन थे उनको विभाजित कर दिया गया था। यदि 'युवान-चत्रांग' का कथन विश्वसनीय हो तो हमें मानना अवश्य पड़ेगा कि मंत्री व उच्चाधिकारियों को नकद वेतन के स्थान पर गांव दिये जाते थे।[4] इस प्रकार राज्य की आय के ये सामन्त माध्यम बने। और राज्य की आय के लिए केन्द्रीय सरकार को एक प्रकार से इन सामन्तों पर निर्भर रहना पड़ता था। इस आय की ही भांति केन्द्रीय सरकार को लड़ाई के समय सामन्तों की सेना पर निर्भर रहना पड़ता था। ऐसे समय में सामन्त सहायता के बदले मनमानी शर्तें लगाते थे। उदाहरणार्थ ११वीं शती ईसवी में बंगाल के राजा रामपाल को अपने सामन्तों की सैनिक सहायता प्राप्त करने के लिए संभवतः बहुत अधिकार छोड़ने पड़े थे।[5]

शुक्रनीति[6] के आधार पर हम इस समय के सेना-विभाग का विस्तृत वर्णन कर सकते हैं। सेना में कुछ दस्ते केन्द्रीय सरकार के थे, कुछ सामन्तों के। कुछ दस्ते अपने-अपने अधिकारी लेकर आते थे, कुछ दस्तों पर केन्द्रीय अधिकारी नियुक्त करना पड़ता था। "मालव", "खश", "कर्णाट," 'लाट"

---

१ शर्मा, वही, पृ० २०७-११।
२ वही, पृ० २०५।
३ वही, पृ० २०७।
४ वाटर्स, युवान-च्वांग।
५ संध्याकर नन्दी, रामचरित १,४५, हिस्ट्री आफ बंगाल, १, पृ० १५६।
६ २,१४०।

इत्यादि प्रान्तों के सैनिक शौर्य के लिए प्रसिद्ध थे। जो राजा उनको अधिक वेतन देता, उसके सैन्य में वे लड़ते थे। बाण के 'हर्षचरित' से भी विदित होता है कि केन्द्रीय सरकार की सेना में सामन्तों की भी सेना थी। 'हर्षचरित' में ऐसा उद्धरण मिलता है कि जब राज्यवर्द्धन कवच पहनने की आयु प्राप्त कर चुका तो प्रभाकर वर्द्धन ने उसे हूणों से युद्ध करने के लिए पुराने मंत्रियों और अनुरक्त महासामन्तों की देखरेख में सेना के साथ उत्तरापथ की तरफ भेजा।[1]

प्रमुशासक को सामन्तों की सेना की आवश्यकता इसलिए पड़ती थी कि राजकर्मचारियों को, जिनको जागीर आदि भेंट कर दिया जाता था उनको जागीर की सुरक्षा-हेतु सेना रखने का भी अधिकार प्राप्त हो जाता था। और केन्द्रीय सरकार की इतनी आय थी नहीं कि वह एक बड़ी सेना रख सके। अतएव सामान्तों पर अंकुश और आतंक फैलाये रखना आवश्यक था, जिससे केन्द्रीय सरकार के विरुद्ध वह न जा सकें और उसकी भरसक सहायता करते रहें। इसके लिए प्रभु शासकों को सम्भवतः बहुत से 'मूर्धाभिषिक्त सामन्तों' को दरबार में स्थान देना पड़ता था।[2] जिनमें से प्रायः आर्थिक दृष्टि से अक्षम होते थे।[3] और यह हम जान चुके हैं कि सामन्त, प्रायः आपस में झगड़ते ही रहते थे।

छोटे राज्यों में अधिक संख्या में सामन्त होने के कारण राजा सामन्तों के राजा हुए, न कि प्रजा के। संभवतः इसीलिए छठी शती ईसवी के शासकों ने 'सामन्त चूडामणि'[4] 'सामन्त-महाराज'[5] और 'महासामन्त'[6] आदि उपाधियों को धारण किया। इस परिस्थिति में प्रजा की स्थिति दयनीय हुई। एक ८४ गाँवों का सामन्त भी अपना खर्चीला दरबार रखता था व

---

१ वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित-एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० ८७।
२ बाण, कादंबरी, पृ० १६३-४।
३ ज० रा० ए० सो०, १९६३, पृ० ३५।
४ मौखरि अनन्तवर्मा की बराबर गुहाभिलेख, का० इं० इं० ३, पृ० ४६, पंक्ति ४ और अपसद लेख आदित्यसेन का भी देखिये।
५ देखिये मैत्रकों के लेख।
६ वही।

उसका विदेश मंत्री भी रहता था।[1] अनेक सामन्तों के खर्च का बोझ प्रजा को वहन करना पड़ता था। सामन्त आपस में लड़ते थे एवं अपने प्रभु से झगड़ पड़ते थे। वे अपने प्रभु के शत्रुओं के साथ बिना उससे पूछे संधि करने लगे थे और उसके मित्रों के साथ युद्ध। फलस्वरूप लूट-पाट, बदमाशी आदि बुराइयाँ बढ़ने लगीं। इनके शमन के लिए सम्भवत: कड़े दण्ड का भी विधान करना पड़ा। यही कारण है कि मौर्य या गुप्त शासन की तुलना में हर्ष का शासन कम कार्यक्षम था।[2] 'युवान-च्वांग' ने हर्ष कालीन शासन-पद्धति पर प्रकाश डालने की कोशिश की है किन्तु वह अतिशयोक्तिपूर्ण है। उसने लिखा है कि अपराधियों की संख्या बहुत कम थी। जब कि स्वयं राजधानी के थोड़े फासले पर ही डाकुओं द्वारा वह पकड़ा गया था। और यदि बलिदान के समय की आकस्मिक आँधी से डाकू न डरते तो वे उसकी बलि भी दे डालते। गुप्त साम्राज्य की तुलना में खतरनाक अपराधों के लिए इस समय क्रूर दण्ड दिया जाता था, जैसे कर्ण या नासिका या हस्त या पाद का छेद। ऐसे अपराधियों को देश के बाहर भी निकालते थे या जंगल में छोड़ देते थे। आर्थिक व भौतिक उन्नति के लिए सरकार सतर्क रहती थी। किन्तु उसकी कार्यक्षमता, गुप्त शासन की तुलना में कम थी और उसमें मौर्यों के समान अनेक विध शासन विभाग भी न थे।[3]

इससे स्पष्ट हो जाता है कि गुप्त काल में 'साम्राज्यवादी संघात्मक संगठन' (इंपिरियलिस्टिक फेडरल आर्गनाएजेशन) था जो कालान्तर में सामन्तवादी पद्धति के विकास के कारण नष्ट हो गया।

प्रभुशासक के दरबार में सामान्तों की उपस्थिति अपेक्षित थी। शिलालेखों में अनेक जगह सम्राटों के दरबार के वर्णन में अनेक सामन्तों की उपस्थिति के उल्लेख मिलते हैं। सम्राट् स्कन्दगुप्त के कहांव लेख[4] में बड़े आलंकारिक रूप से यह लिखा गया है कि अभिवादन के लिए झुकते हुए नृपतियों द्वारा वायु के जो झोंके उत्पन्न हुए, उसके कारण सारी उपस्थान

---

१ प्राकृत व संस्कृत शिलालेख, पृ० २०५-७।
२ अल्तेकर, प्रा० भा० शा० प०, पृ० ३१६।
३ वही, पृ० ३२०।
४ यस्योपस्थान-भूमिर्नृपति-शत-शिरः-पात-वातावधूता

भूमि हिल गयी। जिसके चरण नृपतियों के राजमुकुट में लगाई गई मणियों के कारण प्रकाशित हो गये हों, इस प्रकार का वर्णन नेपाल के मानदेव प्रथम के किसी संवत् ३८६ में अंकित छांगुनारायण-लेख में मिलता है[1]।

अब प्रश्न यह है कि क्या उस काल में सामन्तों और प्रभुशासकों में अनुवंध होता था अथवा उनको यों ही अधीन बनाकर छोड़ दिया जाता था। इस समस्या पर विचार करते हुए डा० बैशम[2] ने लिखा है कि प्राचीन भारत में मध्यकाल जैसी सामन्त—व्यवस्था नहीं थी। उनके अनुसार विजित राजाओं को अधीनस्थ कर छोड़ दिया जाता था। उनसे कोई अनुवंध नहीं होता था[3]। ऐसी व्यवस्था को उन्होंने अर्द्ध-सामन्ती-पद्धति (ववेसी फ्युडलिजम) की संज्ञा दी है। किन्तु ब्रिटिश विद्वानों के मत का तब खण्डन अपने आप हो जाता है तब हम समुद्रगुप्त के इलाहाबाद वाले लेख पर दृष्टिपात करते हैं। इस प्रशस्ति के अनुसार पराजित राजा जब सामन्त-पद स्वीकार करता था तो उसे कुछ इकरार करना पड़ता था और तब सम्राट् अपने शासन द्वारा पुनः अपने राज्य में प्रतिष्ठित करता था। इस शासन में

---

१ आर० नौली, वही, नं० १ पृ० ४ पंक्ति १४ (सामान्तः प्रणिपातबंधुर्शिरः प्रभ्रष्टमौलि् सृजः)।

२ बैशम, वही, पृ० ६४

(Most British historians would prefer the narrower definition, according to which attent India never had a true feudal System. Somthing very like European feudalism did evolve among the Rajputs after the Muslim invasions, but this is outside our period. Ancient India had, however, a system of overlordship, which was quasi-feudal, though never as fully developed as in Europe, and resting on a different basis.)

३ Ibid '...vassals usually became so by conquest rather than by contract, though the Arthashastra advises a weak king to render voluntary homage if necessary to astronger neighbour...I deal, the vassal was expected to pay regular tribute to his emperor, and to assist him with troops and funds in war.'

उन शर्तों का भी उल्लेख रहता था जिन पर राज्य वापस किया जाता था[१]। 'आटविक' राजाओं को समुद्रगुप्त ने परिचारक बनाकर और सीमान्त प्रदेश के राजाओं को कर-दान-आज्ञा-प्रणाम-कन्योपायनदान-गरुत्मदंक स्वविषय-भुक्ति-शासन याचना पर छोड़ा। सामन्तों का सम्राट् के साथ यह भी समझौता था कि वे समय-समय पर दरबार में और राजभवन में उपस्थित होकर अपनी सेवायें अर्पित करें[२]। कहांव लेख जिसकी पीछे चर्चा की गई है, से विदित होता है कि स्कंदगुप्त का अभिवादन करने नृपति आये। 'हर्षचरित' से भी ज्ञात होता है कि अनेक संभ्रान्त सामन्तों की स्त्रियाँ रानी यशोवती के महादेवी-पट्टाभिषेक के समय सुवर्ण-घटों से उनका अभिषेक कराकर अपनी सेवाएँ अर्पित करती हैं[३]। सम्राट् को नियमित कर देना भी जरूरी था, या तो यह कर सम्राट् के दरबार में भेज दिया जाता था या सम्राट् अपनी यात्रा में इसे वसूल करते थे[४]। इसका विरोध अथवा उल्लंघन करने वाले को बड़ी-बड़ी लांछनाएँ सहनी पड़ती थी।

इस सम्बद्ध में वाण ने 'हर्षचरित' में लिखा है कि कुछ शत्रु-महासामंत दरबार में कृपाण बाँधकर प्राणभिक्षा प्राप्त करने की सूचना देते थे। कुछ अपना सर्वस्व अपहरण हो जाने के बाद भाग्य के अन्तिम निर्णय तक दाढ़ी बढ़ाकर छावनी में हाजिरी देते थे और प्रणामांजलि अर्पित करने के लिए उत्सुक रहते थे। वाण ने लिखा है कि उनके लिए यह सम्मान ही था। सम्राट के प्रासाद के अभ्यंतर से जो अन्तर प्रतीहार बाहर जाते थे उनसे शत्रु-सामन्त बड़ी उत्सुकता से पूछते रहते थे -'भाई, क्या भोजन के अन्तर सम्राट् सजाए हुए भुक्तास्थानमंडप में दर्शन प्रदान करें। अथवा क्या वे आह्यास्थानमंडप में आयेंगे? इस प्रकार शत्रु-महासामन्त दर्शन की आशा लगाए

---

१ अल्तेकर, प्रा० भा० शा० प० पृ० २७३।

२ अग्रवाल, हर्षचरित-एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २१८।

३ हर्षचरित्, पृ० १६७ (सेवासंभ्रान्तानन्तसामन्तसीमन्तिनी-समावर्जित-जाम्बूनदघटाभिषेकः)

४ इं० ए०, ११, पृ० १२६।

दरबार में पड़े रहते ।[१] इस प्रकार अनुबंध का सिद्धान्त था जिसका उल्लंघन करने पर ये यातनाएँ भी सहनी पड़ती थीं ।[२]

तत्कालीन राजनीतिक इतिहास में यदि इन सामन्तों का कुछ योगदान था तो वह यह कि ये 'शक्ति संतुलन' को बनाये रखने की चेष्टा करते थे । किन्तु इस रूप में वे 'गुप्तों' के पतन के पश्चात् ही जा सके । जो भी शक्ति अपना प्रभुत्व जमाने की चेष्टा करती थी ये राज्य एक होकर अपने स्वत्व की रक्षा हेतु उससे लड़ाई के लिए तैयार हो जाते थे । इस प्रकार जहाँ ये 'एक होकर' शक्ति-संतुलन का काम करते वहाँ युद्ध होने की संभावनाओं में वृद्धि भी करते थे ।' मौखरि' और परवर्त्ती गुप्तों में युद्ध सम्भवत: 'शक्ति-संतुलन' को बनाये रखने के लिए ही हुआ था । उसी तरह 'वर्धन' जब 'मौखरि शक्ति' और 'परवर्ती गुप्तों' (महासेन गुप्त) की सहानुभूति पाकर एक साम्राज्य की नींव डालने में लगे हुए थे, उस समय, महासेन गुप्त की मृत्यु होते ही सम्भवत: उसके विद्रोही भाई देवगुप्त ने 'वर्धन' शक्ति को संतुलित रखने के लिए 'एक संगठन' (कोड्लिशन) बनाया जिसमें 'गौड़' और सम्भवत: गुर्जर' और 'मैत्रक' भी रहे होंगे ।[१] 'वर्धन' की बढ़ती हुई शक्ति पर रोक लगाने के लिए ही ये एक हुए होंगे क्योंकि इसके पूर्व महासेनगुप्त के काल में वे उसके अधीन थे और उसकी मृत्यु होते ही वे स्वतंत्र हुए थे । वे अपनी स्वतत्रता की रक्षा करना चाहते थे । उनमें भी 'विजिगीषु' बनने की चाह थी । संभवत: इसीलिए इस काल में छोटे राज्यों

१—अग्रवाल हर्षचरित–एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० २१८ ।

२—शुक्रनीति (१ । १८६) के अनुसार तो प्रभुशासक जब रुष्ट होते थे तो सामन्तों की पदवी छीनकर उन्हें पदभ्रष्ट या हीनसामन्त कर देते थे, किन्तु उनकी भृति या आय उन्हें मिलती रहती थी । उनका दरबार बंद कर दिया जाता था और जनता पर जो उनका शासन था वह भी छीन लिया जाता था ।

शुक्रनीति की रचना काल के लिए देखिये—डा० गोपाल-दि शुक्रनीति, ए नाइंटींथ सेंचुरी टेक्सट, बुलेटिन, स्कूल आफ ओरिंटल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज १९६२, पृ० ५२४, ५५६ और डा० मजूमदार-डेट एण्ड कन्कॉर्डेन्स आफ दि शुक्रनीतिसार, दि जर्नल आफ बिहार रिसर्च सोसाइटी १९६१ ई० २१४-२३३

१ देखिये, पांचवाँ अध्याय ।

को नष्ट नहीं किया जाता था, बल्कि उनकी सशस्त्र तटस्थता की नीति को कायम रखा जाता था जिससे वे शक्तिशाली राज्यों के विरुद्ध अपने स्वत्व की रक्षा कर सकें एवं साम्राज्यवादियों के मनसूबों को नष्ट करने में सफल हो सकें।[1]

'गुप्तों' ने तो इन राज्यों का एक 'संघ' बनाकर शासन किया किन्तु उनके पतन के पश्चात् 'विजिगीषुओं' ने अपनी प्रभुता को बनाये रखने के लिए इन सामन्तों को एक दूसरे के मुकाबले रखा। इससे अव्यवस्था ही बढ़ी। यही कारण है कि 'गुप्तों' के बाद भारतीय इतिहास के किसी काल को हम उन्नत और सशक्त नहीं पाते। 'मैत्रकों' की शक्ति को संतुलित रखने के लिए ही सम्भवत: महासेनगुप्त ने धरसेन द्वितीय को महासामन्त-पद से च्युत कर सामन्त बना दिया था जिससे 'गारुलक कुल' के सामन्त महाराज से इनकी अनबन बनी रहे।[2] वे आपस ही में उलझते रहें।

विवेच्य काल के राजाओं को हम तीन श्रेणियों में विभाजित करेंगे। पहले में सार्वभौम सत्ताधिकारी, दूसरे में अधीन शासक और तीसरे में स्वतंत्र शासक।

(क) सार्वभौम सत्ताधिकारी (सम्राट् अथवा प्रभुशासक)

इस श्रेणी के शासकों में 'राजाधिराज', 'परमराजाधिराज', 'राज-राजाधिराज', 'राजाधिराजाश्रित', 'महाराजधिराज', 'परम भट्टारक', 'परमदैवत',[3] 'परमेश्वर' आदि उपाधि धारण करने वाले नृपति थे।[4] इस प्रकार की उपाधि धारण करने वाले शासक साम्रज्यवादी अथवा पूर्ण स्वतंत्र

---

१ अल्तेकर, प्रा० भा० शा० प०, पृ० २७७। घोषाल (स्टडीज इन इंडियन हिस्ट्री एण्ड कल्चर, पृ० ५१०) ने भी लिखा है कि—
"The real weakness of the Indian administrations lay in the influence of the great feudatory families whose power and ambition constituted a perpetual threat to the stability of the central government."

२ देखिये, पीछे।

३ देखिये सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, नोली, वही, एपि० इं०, २७, पृ० २३।

४ देखिये का० इं० इं०, खंड ३।

समझे जाते थे। 'परमदैवत' और 'परमेश्वर' उपाधियाँ शासक के देवतांशत्व के बोधक थे।[१] राजा का देवतांशत्व समाजसम्मत था।[२] इस प्रकार का विचार तब अधिक लोकप्रिय हुआ जब विदेशियों का, द्वितीय शती ईसवी पूर्व में, भारत में प्रवेश हुआ जो अपने साथ रोमन-ईरानी और यूनानी प्रभाव भी साथ लाये थे, जिनमें राजा का देवतांशत्व लोकसम्मत था।[3] इन्हीं आक्रामकों के काल में वैदिक प्रतिक्रिया भी हुई जिसने अवतारों की कल्पना का प्रचार किया। अब राजा को विष्णु का अवतार समझा जाने लगा।[४] भीटा मुहर का राजा गौतमीपुत्र अपने राज्य को विष्णु की देन समझता था। यौधेय-गण अपने को कार्तिकेय के विशेष विश्वासभाजन मानते थे, यद्यपि इसमें संदेह है कि वे अपने को उस देवता का प्रतिनिधि मानते थे या नहीं।[५]

विवेच्य काल के इतिहास का अध्ययन करने से विदित होता है कि इस काल में भी अनेक धार्मिक सम्प्रदाय थे जिनको राज्यों का संरक्षण भी प्राप्त था। शासकों में धार्मिक सहिष्णुता[६] तो पायी जाती थी किन्तु अधिकतर शासक हिन्दू (ब्राह्मण) धर्मावलम्बी थे जिनमें सम्भवतः शैव और भागवत मतावलम्बियों की संख्या ही अधिक थी। इस प्रकार भिन्न-भिन्न राज्य भिन्न-भिन्न देवता और धार्मिक सम्प्रदायों के उपासक थे। अतएव, प्रभु-शासकों ने संभवतः भिन्न-भिन्न संप्रदायों और देवताओं के उपासक राजावों पर शासन करने की दृष्टि से 'परमदेव' उपाधि को धारण किया। किन्तु प्रभुशासकों में भी केवल गुप्त सम्राटों ने ही इस उपाधि को धारण किया। उनके पतन के पश्चात स्वतंत्र शासकों ने जो कि पहले गुप्तों के अधीन थे इस उपाधि को धारण नहीं किया। यह आश्चर्य की बात है कि न तो पूर्वी बंगाल के 'महाराजाधिराजों' (गोपचंद्र, धर्म्मादित्य और समाचारदेव),

१ क्लासिकल एज, पृ० ३४३।

२ अल्तेकर, प्रा० भा० शा० प०, पृ० ४७।

३ घोषाल, हिस्ट्री आफ इंडियन पोलिटिकल आइडियाज, पृ० २६५।

४ अल्तेकर, प्रा० भा० शा० प०, पृ० ४७।

५ वही।

६ वाकाटक-गुप्त एज, पृ० ३६४-६८।

ने, नही नेपाल के (पाँचवीं शती ईसवीं से आठवीं शती ईसवी तक) राजाओं ने, न वलभी के 'मैत्रकों' ने और न थानेश्वर के 'वर्धन' एवं कामरूप के 'वर्मनों' ने ही 'परमदैवत' उपाधि को धारण किया।[1]

'परमदैवत' उपाधि के सम्बन्ध में ध्यान योग्य यह है कि इस उपाधि का प्रचलन केवल पूर्वोत्तर भारत के ही अभिलेखों में हुआ है। यह प्रश्न किया जा सकता है कि केवल पूर्वोत्तर भारत में ही इस उपाधि का प्रचलन क्यों रहा? गुप्त-साम्राज्य के अन्य क्षेत्रों में ही इस सम्बध में भी इसका प्रचलन क्यों नहीं हुआ?[2] इस सम्बन्ध में एक सम्भावना व्यक्त की जा सकती है। वंगाल स्वभाव से विद्रोही था यह हम देख चुके हैं।[3] फिर यहाँ का शासन गुप्तों के सीधे शासन (डाइरेक्ट कन्ट्रोल) में था अर्थात् 'पुण्डूवर्द्धन' से वंगाल पर शासन गुप्त सम्राटों द्वारा नियुक्त 'राज्यपाल' (उपरिक अथवा उपरिक महाराज) करते थे—'राजप्रतिनिधि' नहीं। 'राज्यपाल' और 'राजप्रतिनिधि' में यही अंतर है कि राज्यपाल को किसी कार्य के क्रिया-न्वयन का अधिकार प्राप्त होता है वहाँ राजप्रतिनिधि को वह प्राप्त नहीं होता। राजप्रतिनिधि प्रभुशासक के स्वार्थ (इन्टरेस्ट) को ध्यान में रखकर कोई काम करता है। किन्तु राज्यपाल को दोनों के (प्रभु शासक और उक्त प्रदेश का भी) हितों का ध्यान रखना पड़ता है। अतएव उसके विद्रोही स्वभाव एवं गुप्त-राज्य के अधिक निकट होने के कारण ही गुप्त सम्राटों (विशेषकर कुमारगुप्त प्रथम और बुधगुप्त) ने 'परमदैवत' उपाधि को धारण किया।

विवेच्य काल में 'परमेश्वर' विरुद को संभवतः, केवल यशोधर्मा ने ही अपनाया। यशोधर्मा के मालव संवत् ५८९ के मंदसोर लेख में ऐसा वर्णन

१ घोषाल, हिष्ट्री आफ इंडियन पौलिटिकल आइडियाज, पृ० ३६७ (किन्तु, विवेच्य काल में नेपाल में 'परमदेवत' उपाधि का प्रचलन हम पाते हैं। देखिये नौली, वही, पृ० २. २८, उसी तरह कामरूप के शासक को भी इसका प्रयोग करते हुए देखते हैं।)

२ प्रो० नारायण (प्रा० भा० इ० सं० एवं पु०, काशी विश्वविद्यालय) के विचारानुसार इस उपाधि का क्षेत्रीय महत्व था। इसीलिए गुप्तों ने केवल पूर्वी भारत में ही इसका प्रयोग किया।

३ देखिये, पीछे।

मिलता है जहाँ सार्वभौम शासक के रूप में 'परमेश्वर' विरुद्ध का प्रयोग हुआ है। इस विरुद का प्रचलन सातवीं और आठवीं शती ईसवी में खूब हुआ।[१]

(ख) अधीन शासक

इस प्रकार के शासक 'महाराज', 'भट्टारक', 'उपरिक महाराज' आदि उपाधि धारण करते थे। 'गुप्तों' के राजनीतिक-प्रभाव-काल तक उनके अधीन शासक प्रायः इन्हीं उपाधियों को धारण करते थे। इन शासकों के अधीन भी कोई शासक थे अथवा नहीं इसका पता नहीं चल सका है। उदाहरण के लिए 'महाराज' सुरश्मिचंद्र जिसको कालिन्दी और नर्मदा के बीच के प्रदेशों का, लोकपाल के गुणों से युक्त, पालक कहा गया है, एरण के शासक 'महाराज' उपाधि प्रयुक्त हुआ है। इस लेख में एक के लिए अर्थात् सुरश्मिचंद्र के लिए 'मातृ-विष्णु का (निकटस्थ) प्रभु बतलाया गया है।[२] सुरश्मिचंद्र के लिए भी। जहाँ कालिन्दी और नर्मदा के बीच की भूमि का, लोकपाल के गुणों से युक्त, पालन करने वाला कहा गया है वहीं दूसरे के लिए अर्थात् मातृविष्णु को 'चारो समुद्रों तक विस्तृत यशवाले, कभी समाप्त न होने वाले, युद्ध में अपने शत्रुओं को परास्त करने वाले महाराज मातृविष्णु......'कहा गया है।[३] इस प्रकार लेख से यह विदित नहीं हो पाता कि इनमें से कौन छोटा और बड़ा था। जबकि बाद के अभिलेखों की विवेचना करने से छोटे और बड़े सामन्तों में विभेद स्पष्ट मिलता है। बड़े सामन्तों को 'महासामन्त महाराज'[४] अथवा 'भट्टारक'[५] और छोटे को अर्थात् बड़े के अधीन शासक को 'सामन्त महाराज'[६] और 'महाराज'[७] उपाधि से अभिहित किया गया है।

---

१ देखिये का० इ० इं०, ३।
का० इं० इं०, ३।
२ अल्तकर, प्रा० भा० शा० प०, प० २७१।
३ का० इं० इं० ३,।
४ द्रष्टव्य, मंत्रकों के अभिलेख।
५ द्रष्टव्य पथ्वी विग्रह का सुमण्डल ताम्रपत्र लेख।
६ देखिये मैत्रकों के अभिलेख।
७ देखिये, पथ्वी विग्रह का सुमण्डल ताम्रपत्र लेख।

अब प्रश्न यह है कि क्या वस्तुत: 'महाराज' मातृविष्णु 'महाराज' सुरश्मिचंद्र के अधीन सामन्त था। इस पर विचार करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि 'महाराज' मातृविष्णु 'महाराज' सुरश्मिचंद्र के अधीन नहीं, बल्कि 'परमभट्टारक महाराजाधिराज' बुधगुप्त के अधीन शासक था। 'महाराज' मातृविष्णु ने 'महाराज' सुरश्मिचन्द्र के नाम का संभवतः इसलिए उल्लेख किया कि वह इस पूरे प्रदेश की, जिसमें संभवत: एरण का प्रदेश भी पड़ता था, राजनीतिक गतिविधियों पर दृष्टि रखने के लिए प्रभुशासक द्वारा नियुक्त प्रतिनिधि था। लेकिन मजूमदार ने इसको 'राज्यपाल'[१] बतलाया है। किन्तु वह 'राज्यपाल' नहीं था। उस समय 'राज्यपाल' प्रायः उन स्थानों पर नियुक्त किये जाते थे जहाँ का शासन सीधे केन्द्रीय सरकार के हाथ में होता था। परन्तु हम जानते हैं कि कालिन्दी और नर्मदा के बीच के प्रदेश में इस काल में छोटे-छोटे राज्य उठ रहे थे। मथुरा में 'नृपमित्र'[२] पाँचवीं शती के अन्तिम चरण में अपनी स्वतंत्रता की घोषणा कर रहा था, उसी तरह बांदा और रीवां में 'पाण्डववंशी'[3] नृपति स्वतंत्र हो रहे थे। अहिच्छत्र में भी हरिगुप्त[४] स्वतंत्रता की घोषणा कर रहा था। सागर जिले का अपना सैनिक महत्व था ही, वहाँ पर मातृविष्णु का शासन था। ऐसे हलचल में राज्य का संचालन 'राज्यपाल' नहीं 'राजप्रतिनिधि' ही योग्यता से निभा सकता था। और प्रायः ऐसी दशा में 'राजप्रतिनिधि' ही राज्य के स्वार्थ की दृष्टि से भेजे जाते थे। अतएव हम सुरश्मिचन्द्र को राजपाल नहीं बल्कि 'पोलिटिकल एजेंट' अथवा 'राजप्रतिनिधि' कहेंगे। इन 'राजप्रतिनिधियों' को सामन्त राज्यों के साधारण निरीक्षण और नियंत्रण का अधिकार रहता था। सुलेमान सौदागर के कथनानुसार सामन्त राजा इन प्रतिनिधियों की अगवानी सम्राटोचित सम्मान से ही करते थे। ये प्रतिनिधि गुप्तचरों द्वारा बराबर इसकी सूचना रखते थे कि कहीं सामन्त राजा विद्रोह की तो नीयत नहीं रखता।[८]

---

१ वाकाटक गुप्त एज,।
२ एपि० इं० ३४, पृ० ११-१३।
३ देखिये, तीसरा अध्याय पृ० ६३५ आगे
४ एपि० इं० ३३, पृ० ६५-६८।
८ प्रा० भा० शा० प०, पृ० २७२।

इस कथन की पुष्टि एक अन्य प्रमाण से भी होती है जिससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि 'महाराज' मातृविष्णु 'महाराज' सुरश्मिचन्द्र का सामन्त नहीं बल्कि 'महाराजाधिराज' बुधगुप्त के अधीन शासक था। गु० सं० २५० के पृथ्वी विग्रह के सुनण्डल ताम्रपत्र लेख को देखने से विदित होता है कि पृथ्वी विग्रह -जो परवर्ती गुप्त शासनांतर्गत कलिंग राष्ट्र का 'भट्टारक' था के अधीन एक 'महाराज' था जो पद्मखोल्य पर शासन करता था। यह शासक अपने को 'श्री पृथिवीविग्रह भट्टारक तत्पादानुध्यात' कहता है। किन्तु मातृविष्णु के लेख से सुरश्मिचंद्र के लिए इस प्रकार की कोई ध्वनि नहीं निकलती है। अतएव यही कहना उपयुक्त होगा कि 'महाराज' सुरश्मिचद्र 'राज्यपाल' की हैसियत से नहीं बल्कि 'राजप्रतिनिधि' की हैसियत से इस प्रदेश में था।

(ग) स्वतंत्र शासक

इस श्रेणी में दशपुर के 'वर्मा' शासकों को रखा जा सकता है। ऐसे शासक इस काल में संभवत: 'नृप' उपाधि धारण करते थे[1]।

निम्नलिखित कारणों को ध्यान में रखकर हमने वर्मा शासकों को इस श्रेणी में रखा है -

(१) दशपुर का सैनिक महत्व

(२) पराक्रमी जाति

(३) स्वतंत्रता के उपासक

दशपुर अथवा पश्चिमी मालवा सैनिक महत्व का स्थान था। वहाँ से पश्चिमी और पश्चिमोत्तर भारत तथा दक्षिण भारत की राजनीतिक गतिविधियों पर नजर रखा जा सकता था। यही कारण है कि 'गुप्तों' के पतन के पश्चात् मालवा का यह भाग राजनीतिक उथल-पुथल का केन्द्र बना। अपनी राजनीतिक स्वायत्तता को बनाये रखने के लिए ही सम्भवत: 'मैत्रकों' ने मालवा का कुछ भाग हड़प लिया था। 'युवान्-च्यांग'[2] के यात्रावृत्तांत में जिस मो-ल-पो का वर्णन मिलता है वह संभवत: इसी पश्चिमी

---

१ देखिये का० इं० इं० ३।

२ वाटर्स, वही, २, पृ० २४२।

मालवा के ही किसी भाग की ओर इंगित करता है।[1] हर्षवर्द्धन के काल में मालवा का यह भाग जिस पर उस समय 'गुर्जर' राज्य कर रहे थे 'बफर राज्य' था।[2]

पराक्रमी जाति और स्वतन्त्रता के उपासक हमने इनको इसलिए कहा है क्योंकि यहीं के लोगों ने (मालवों ने) चौथी शती ईसवी पूर्व में सिकन्दर महान् का सामना किया था (तब वे मालवा में नहीं रहते थे) और अपनी बहादुरी दिखलाकर सिकन्दर की सेना में भय का संचार किया था। ५७ ई० पू० में भी इन्हीं मालवों ने 'शक' शासन के विरुद्ध विक्रम दिखलाया था और विक्रमादित्यों की परंपरा की स्थापना की। कालान्तर में जब गुप्त-शक्ति शिथिल हो चली थी तो यहीं के यशोधर्मा ने 'हूणों' को पराजित किया था। ऐसी बहादुर जाति की शक्ति को भेद-नीति से ही शिथिल किया जा सकता था। समुद्रगुप्त ने वह किया भी। इलाहाबाद प्रशस्ति लेख में कहा गया है कि उस ने अनेक राजवंशों की स्थापना की थी।[3] दशपुर में संभवतः 'वर्मा' शासकों की स्थापना की।[4] इस निष्कर्ष पर हम इन शासकों की वंशानुक्रमणिका को देखकर पहुँच सकते हैं। इन का प्राचीनतम लेख मालव संवत् ४६१ में अंकित है। इस लेख से विदित होता है कि इसके रचयिता, नरवर्मा के पूर्व दो नृपति और हो चुके थे। यदि उन दोनो शासकों का काल कम से कम बीस-बीस वर्ष भी मान लिया जाय तो प्रथम शासक जयवर्म्मा का काल ३६४ ईसवी के लगभग पड़ता है जो स्पष्टतः समुद्रगुप्त का समकालिन था। इस प्रकार 'गुप्तों' के वे कृतज्ञ थे। कुमारगुप्त के काल में दशपुर में विद्रोह हुआ।[5] उशका दमन करने के लिए 'वर्मा' शासक बंधुवर्मा को 'गुप्त' को मदद की आवश्यकता हुई होगी। और कुमारगुप्त ने अपनी सेना भेजकर संभवतः उसका दमन भी कर दिया। किन्तु किसी देश की सेना एक बार भी यदि किसी दूसरे देश की भूमि में घुस जाती है तो उसको निकाल बाहर करना मुश्किल होता है। सेना से प्रवेश कर जाने से

१ देखिये, पांचवां अध्याय।
२ क्लासिक्स एज, पृ० १०५।
३ समुद्रगुप्त का प्रयाग स्तम्भ लेख, पंक्ति २३।
४ देखिये, दूसरा अध्याय।
५ देखिये आगे।

जिस देश की सेना रहती है उसका शासक उस देश की राजनीति में परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से भाग लेने लगता है। सुरक्षा और सुव्यवस्था के नाम पर वहाँ उसकी सेना और 'राजप्रतिनिधि' (पौलिटिक्ल एजेंट) रहने लगते हैं[१]। (ब्रिटिश-शासन काल में १९वीं शती ईसवी के पंजाब से हम इसकी समता कर सकते हैं)।[२] किन्तु बाह्य-दृष्टि से यही लगता है कि वह स्वतंत्र राज्य है। मालवा (दशपुर) की संभवतः यही दशा थी। मालवा के शासक अपनी परंपराओं का पालन करते थे। वहाँ के सभी अभिलेखों में मालव संवत् का ही प्रयोग हुआ है और वहाँ के शासकों ने भी (अभिलेखों को देखने से स्पष्ट नहीं होता कि वे किसी के अधीन थे) किसी की अधीनता स्वीकार नहीं की।

१ कुमारगुप्त के काल में मालवा में गोविन्दगुप्त राजप्रतिनिधि के रूप में वहाँ की गतिविधियों को देख रहा था। उसके साथ सेना भी थी। इसका प्रमाण मालव संवत ५२४ में अंकित मंदसोर के लेख से मिलता है।

२ देखिये, ग्रिफिथ, दि ब्रिटिश इम्पैक्ट आन इंडिया, पृ० ६४-६६।

पहला अध्याय

समुद्रगुप्त के दिग्विजय से पूर्व उत्तर भारत के राज्यों की स्थिति

मौर्यों के पतन के पश्चात् भारत के पश्चिमी और पश्चिमोत्तर सीमा के सिंहद्वार की अर्गला के प्रहरी कोई नहीं रह गये। आक्रमणकारियों से जमकर लोहा लेनेवाली शक्ति के अभाव के कारण बाहरी आक्रमणकारियों को अवसर मिला [1]। यवनों के बाद शक, पह्लव, कुशाण, सासानी आदि एक के बाद एक आए। उन्होंने यहाँ के मूलनिवासियों को दबाकर उन पर शासन किया और बस भी गये। किन्तु भारतीय समाज सहज ही उनको मान्यता देने के लिए तैयार नहीं था। उसकी परम्पराप्राप्त अपनी निश्चित आचार संहिता थी। उसी की प्रेरणा से तत्कालीन समाज ने इन आक्रमकों को म्लेच्छ की संज्ञा दी और इन म्लेच्छों से आर्यावर्त्त की पवित्र भूमि के उद्धार का अनवरत क्रम जारी रखा। आर्यावर्त उस पूरे प्रदेश को कहा गया है जहाँ तक आर्यों का शासन था और यदि म्लेच्छ उस प्रदेश में प्रवेश कर गये हैं तो आर्यावर्तवासियों का यह धर्म हो जाता है कि आर्यों की इस पवित्र भूमि से म्लेच्छों को निकाल बाहर करें [2]। आर्यावर्त के जिन क्षेत्रों पर इनका शासन था [3], वहाँ के निवासियों ने इनके विरुद्ध संघर्ष छेड़ भी दिया। म्लेच्छों के विरुद्ध भारतीय जनता की इस भावना का परिचय 'मेधातिथि' के मनुस्मृति-भाष्य में मिलता है जहाँ भाष्यकार ने लिखा है कि महत्वाकांक्षी नृपति को म्लेच्छों के देश को भी जीतकर वहाँ चातुर्वर्ण्य की स्थापना

---

१ नारायण : इंडो ग्रीक्स, भूमिका, पृ० १०।

२ क्लासिकल एज, भूमिका पृ० १०।

३ सौराष्ट्र, पंजाब और मालवा के अतिरिक्त म्लेच्छों (शक-कुशाणों) के अधीन मगध (अल्तेकर, ज० न्यू० सो० इ०, १२, २, पृ० १२२) बंगाल, उड़ीसा आदि के कुछ प्रदेश भी थे (बनर्जी, ज० न्यू० सो० इं०, १३, २, पृ० १०७) डा० मदनमोहन सिंह (कुशाण बिहार में) ज० बि० रि० सो० ४७, पृ० ३६४-६७।

करनी चाहिए [१]। सम्भवत: इसी प्रेरक भावना के फलस्वरूप पहली शती ईसवी पूर्व से तीसरी शती ईसवी तक देश में बहुत सी शक्तियाँ पैदा हो गईं। गणतंत्री कबीलों ने इस काल में विदेशियों से संघर्ष में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। जहाँ नृपति व्यवस्था थी वहाँ के राजवंश भी विदेशियों से संघर्ष में पीछे नहीं रहे।

इसी संघर्ष के काल में गणतंत्री व्यवस्था में एक नये विचार का अंकुर प्रस्फुटित हुआ जो नृपतंत्री व्यवस्था की बातें थीं। राजकर्मचारियों के कतिपय पद जो पहले चुनाव द्वारा निर्धारित होते थे अब आनुवंशिक होने लगे।[२] इस सम्बन्ध में डा० अल्तेकर ने लिखा है, नंदसा गाँव के यूप के लेख से पता चलता है कि तीसरी शताब्दी में ही मालवगण राज्य की सत्ता पैतृक परम्परागत होकर ऐसे कुलों के हाथ में जा रही थी जो अपना उद्भव इक्ष्वाँकु राजर्षियों से बताते थे। चौथी शती में यौधेय और सनकानीक गणों के नेता महाराज और महासेनापति जैसी राजसी उपाधियां धारण कर रहे थे। यही दशा लिच्छवि-गणराज्य की भी रही होगी। क्योंकि 'राजपुत्री' कुमारदेवी लिच्छवि-प्रदेश की उत्तराधिकारिणी थी। अस्तु, जब गणराज्यों की सत्ता (आनुवंशिक) अध्यक्षों के हाथ में सीमित हो गई, जो सेनापति थे और राजसी उपाधियाँ भी धारण करते थे, तो गणराज्य और नृपतंत्र में अंतर ही क्या रहा? गणतंत्रों के सदस्यों ने इस नई प्रवृत्ति का विरोध क्यों नहीं किया और गण-व्यवस्था कैसे कमजोर होती गई, इसका ठीक कारण ज्ञात नहीं। राजा के देवत्व की भावना के जोर पकड़ने से प्रभावित होकर ही गणराज्यों ने संभवत: अध्यक्ष-पद के आनुवंशिक होने का विरोध नहीं किया। संभव है उन्होंने यह भी सोचा हो कि गणतंत्र की अपेक्षा नृपतंत्र द्वारा विदेशी आक्रमण से अधिक सुरक्षा हो सकती है।[३] इसके प्रकाश में यदि हम यौधेय सिक्कों के 'द्वि' और 'तृ' का भेद ढूँढ़े, जिसका अल्तेकर[४] ने अर्थ बतलाते हुए कहा है कि यह क्रमश: 'कुणिन्दों' और 'आर्जुनायनों' के लिए प्रयुक्त हुआ है, तो स्पष्ट हो जायेगा कि 'कुणिन्दों' और 'आर्जुनायनों' ने अपनी सत्ता को शक्तिशाली

---

१ मनु० २, २३ पर मेधातिथि का भाष्य।

२ अल्तेकर, प्रा० भा० शा० पं०, पृ० १०४।

३ वही, पृ० ११३।

४ अल्तेकर, वाकाटक गुप्त एज, पृ० ३२।

यौधेयों के अधीन सौंप दी थी। अर्थात् पृथक-पृथक विदेशियों से लड़ने की अपेक्षा उन्होंने एक शक्तिशाली सरदार के अधीन, नेतृत्व में लड़ना अधिक उपयुक्त समझा।

म्लेच्छों से आर्यावर्त की पवित्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए, किसी शक्तिशाली राजवंश के न होने के कारण, पहली शती ईसवी पूर्व से तीसरी शती ईसवी तक देश में छोटी शक्तियों की एक शृंखला उठ खड़ी हुई थीं। आलोच्य काल में 'आभीर' शकों से जमकर लोहा लें रहे थे।[1] मालवा, राजपूताना और पंजाब में गणतंत्री कीबलों ने विदेशियों के विरुद्ध लड़ाई ठानी थी, उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश में 'नागों' तथा 'मधों' ने शकों से अपनी धरती को मुक्त कर लिया था, वैशाली और नेपाल की तराई में कुशाणों के प्रभाव को हटाकर 'लिच्छवि' शक्तिशाली हो गये थे। इस प्रदेश से कुशाणों के सिक्के मिले हैं।[2] बंगाल (दक्षिण-पश्चिमी) में 'बर्मा' उठ खड़े हुए थे,[3] उड़ीसा में 'मानवंशी' नृपति संभवतः पुरी-कुशाणों से लड़ रहे थे।[4]

विवेच्य काल में उत्तर भारत में राजनीतिक शक्तियां थीं उन्हीं की यहां विवेचना की जायेगी। इन शक्तियों को मैंने भौगोलिक इकाइयों में बाँट दिया है और क्रमशः बंगाल के बर्मा, तराई के लिच्छवि, बघेलखण्ड और कोशाम्बी के "मध," पद्मावती और मथुरा के 'नाग' एवं राजपूतानेऔर मध्य-प्रदेश के गणराज्यों का वर्णन करते हुए क्रमशः पश्चिमी और पश्चिमोत्तर भारत के विदेशी शासकों का वर्णन किया है।

बंगाल के वर्मा

मौर्यों के पतन के पश्चात् देश में किसी केन्द्रीय शक्ति के न होने के कारण बहुत सी शक्तियाँ पैदा हो गईं थीं। बंगाल में भी बहुत से छोटे-छोटे राज्य उठ आये थे जो आवश्यकता पड़ने पर एक होकर बाहरी दुश्मनों के

---

१ देखिये, चटटोपाध्याय, अर्ली हि० ना० इं०, पृ० १२४;
मिराशी, का० हं० हं० ४ भूमिका, पृ० ३८।

२ अल्तेकर, ज० न्यू० सो० इं० १२, २, पृ० १२२, बनर्जी, वही, २१३. पृ० १०७।

३ मजूमदार, हिस्ट्री आफ बंगाल, १ पृ० ४५-४६।

४ बनर्जी, हिस्ट्री आफ उड़ीसा, प्रथम खराड।
कुशाणों के यहाँ सिक्के मिले हैं (एसेंट इंडिया नं० १, पृ० ६८)।

विरुद्ध संयुक्त होकर लोहा लेते थे।[१] चन्द्रगुप्त द्वितीय, के काल में इस प्रकार का एक संघ भी बना।[२]

अभिलेखीय प्रमाण से यह विदित होता है कि इस प्रदेश में पुष्करण अथवा दामोदर नदी के किनारे बसे पोखरना राज्य पर 'वर्मा' नामक शासकों का अधिकार था[३]। सुसुनिया लेख से, जो कि इस वंश के इतिहास पर प्रकाश डालने वाला एकमात्र प्रमाण है, यह अनुमान किया जा सकता है कि चन्द्रवर्मा से पूर्व इस प्रदेश का शासक उसका पिता सिंहवर्मा था जो तृतीय शताब्दी के अंत में अथवा चतुर्थ के प्रारम्भ में हुआ होगा[४]। चन्द्रवर्मा इस वंश का शक्तिशाली नृपति था। उसने अपने राज्य का विस्तार फरीदपुर जिले तक किया[५]। इस विस्तृत राज्य की सुरक्षा के लिए उसने एक दुर्ग भी बनवाया जो इसके नाम से "चन्द्रवर्मकोट" प्रसिद्ध हुआ[६]।

वर्मा शासकों की मूलभूमि के विषय पर विद्वानों में मतभेद है। श्री हरप्रसाद शास्त्री ने इनको मालवा के 'वर्मा' वंश का बतलाया है[७]। इनके अनुसार चन्द्रवर्मा जो कि सिंहवर्मा का पुत्र था बंगाल गया और वहाँ दुश्मनों की एक संयुक्त शक्ति को परास्त कर सुसुनिया पहाड़ी पर लेख खुदवाया। सुसुनिया लेख के चन्द्रवर्मा को शास्त्री जी ने मेहरौली के 'चंद्र' से मिलाने की चेष्टा की है[८]। शास्त्री जी के मत का समर्थन करते हुए डा० बसाक ने भी लिखा है कि ये 'वर्मा' दशपुर (मालवा) के ही 'वर्मा' थे[९]। किन्तु बसाक ने चन्द्रवर्मा की मेहरौली के 'चंद्र' से मिलान नहीं किया है बल्कि यह,बतलाया है कि चंगवर्मा अपने पिता सिंहवर्मा और पितामह जयवर्मा की भांति गुप्त

१ मजूमदार, हिस्ट्री आफ बंगाल, १, पृ० ४५-४६।
२ देखिये, मेहरौली स्तम्भ लेख, पंक्ति १।
३ एपि० इं० १२, पृ० ३१७, पृ० १३३।
४ मजूमदार, हिस्ट्री आफ बंगाल १, पृ० ४५।
५ वही।
६ वही, इं० हि० क्वा० २५, पृ० ११०।
७ एपि० इं० १२, पृ० ३२०।
८ वही।
९ हि० ना० ई० इ० पृ० २७।

विजेता के मालवा की ओर प्रायाग के पूर्व एक स्वतंत्र शासक था जिसको गुप्त विजेता की शक्ति के सामने झुकना पड़ा। किन्तु चंद्रवर्मा जो कि बड़ा भाई था वहाँ से भागकर सुसुनिया पहाड़ी (बांकुरा जिलातर्गत) पर चला आया और उसका छोटा भाई नरवर्मा गुप्तों की अधीनता स्वीकार कर दशपुर (वर्तमान मन्दसोर) पर शासन करने लगा[1]। परन्तु डा० सेन ने कहा है कि न चंद्रवर्मा के नाम का और न उसकी राजधानी पुष्पकरण का पश्चिमी मालवा के 'वर्मा' कुल के अभिलेखों में उल्लेख हुआ है, ऐसा दशा में केवल नाम के साम्य के आधार पर (सिंहवर्मा के नाम का उल्लेख दोनों जगह– सुसुनिया लेख में और मन्दसोर के मा० सं० ४६१ में लिखित लेख में-हुआ है) किसी निष्कर्ष पर पहुंचना भारी भूल होगी[2]। उसी तरह सुसुनिया के चन्द्र-वर्मा की मेहरौली के 'चन्द्र' से भी मिलान नहीं की जा सकती। इसकी व्याख्या हम अगले अध्याय में करेंगे।

अब प्रश्न यह है कि यदि ये 'वर्मा' मालवा के नहीं थे तो कहाँ के थे? इसके उत्तर में हम यही कहेंगे कि जिसप्रकार विवेच्य काल में नेपाल और आसाम में 'वर्मा' नामधारी नृपति थे, जो क्रमशः 'लिच्छवि' और 'नरक' कुल के थे, उसी प्रकार बंगाल के 'वर्मा' भी स्थानीय थे, किसी अन्य जगह (मालवा) से यहाँ आकर बसे नहीं थे।

तराई के लिच्छवि

अजातशत्रु द्वारा उच्छिन्न लिच्छवियों को शताब्दियों तक उठने का मौका नहीं मिला। किन्तु विवेच्य काल में वे प्रबल दिखाई पड़ते हैं। स्मिथ[4] और राय चौधरी[5] आदि विद्वानों ने कहा है उत्तर भारत में जब कोई सार्वभौम सत्ता नहीं रह गई तब ये वैशाली और मगध की सीमा में पुनः

---

१ इं० ए०, १६ १८।

२ सम हिस्टारिकल आसपेक्टस आफ दि इंस्क्रप्शंस आफ बंगाल, पृ० २०२।

३ श्रमण भगवान महावीर, अहमदाबाद, १६५२, २, ४६८, ४७१।

४ ज० रा० ए० सो० १८८६, पृ० ५५, ज० रा० ए० सो० १८६३, पृ० ८१, अर्ली हि० इं, पृ० २७६-८०।

५ पो० हि० एं० इं०, प० ५३१।

सक्रिय दिखलाई पड़े।[1] मजूमदार,[2] बेशम,[3] गोखले[4] एवं अन्य विद्वानों के मतानुसार लिच्छवि इस क्षेत्र में काफी प्रभावशाली थे।[5] 'लिच्छवियों' का मगध के पाटलीपुत्र तक प्रभाव के सम्बन्ध में कहने वाले विद्वानों का मुख्य आधार 'कौमुदी महोत्सव'[+] नाटक और 'नेपाल के लिच्छवि' कुल ने जयदेव द्वितीय का किसी संवत् के १५३ वर्ष में अभिलिखित एक लेख है। इस लेख से विदित होता है कि जयदेव प्रथम के २३ पुश्त पहले पाटलिपुत्र में उसका पूर्वज 'सुपुष्य' हुआ था।[6] जहाँ तक लिच्छिवियों का मगध के गुप्त कुल पर प्रभाव का प्रश्न है उसको तो माना जा सकता है, क्योंकि यह उनका प्रभाव ही था कि गुप्तों ने 'लिच्छवि-गुप्त-संबंध' के स्मारक सिक्के ढलवाये।[7] किन्तु पाटलिपुत्र पर उनका शासन नहीं था। चट्टोपाध्याय ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है कि 'लिच्छवि' इस काल में वैशाली और मगध के आस-पास थे ही नहीं।[8] और यदि बसाढ़ (वैशाली) से प्राप्त गुप्त-मुद्राओं[9] को प्रमाण मान लिया जाय तब तो यह प्रमाणित हो जाता है कि गुप्त वंशक्रमानुसार, गुप्तों में द्वितीय नृपति, घटोत्कच के काल ही में वैशाली का यह भाग 'गुप्तों' के अधिकार में था।[10]

---

१ जायसवाल, हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ११२।

२ वाकाटक गुप्त एज, पृ० १२८।

३ वराडर दैट वाज इंडिया, पृ० ५३।

४ समुद्रगुप्त लाइफ एराड टाइम्स, पृ० ३६।

५ ज० बि० उ० रि० सो० ३०, १, पृ० ८, पो० हि० एँ० इ०, पृ० ५३०, ज० रा० ए० सो० बं०, १९३७, न्यू० स० ४७, पृ० १०५।

\+ कौमुदी महोत्सव की ऐतिहासिकता में विद्वानों को संदेह है (सरकार, ज० जां०, हि० रि० सो०, ११ पृ० ५६-६७)

६ इं० एँ०, ६, पृ० १७८ आगे।

७ देखिये, अल्तेकर, क्याना होर्ड, भूमिका, पृ० १५।

८ अर्ली हि० ना० इं०, पृ० १४३।

९ आर्के० सर्वे० रि०, १९०३-४, पृ० १०७, प्लेट ४१, १४।

१० बसाक, हि० ना० ई० इं० पृ० ७।

अब प्रश्न यह उठता है कि जब पाटलिपुत्र भी लिच्छवियों के अधिकार में नहीं था और बसाढ़ पर गुप्तों का अधिकार था तब लिच्छवि इस काल में रहते कहाँ थे ? 'कलियुगराजवृत्तान्त'[१] से विदित होता है कि जिस लिच्छवि कुमारी से चन्द्रगुप्त प्रथम का विवाह हुआ वह नेपाल के शासक की कन्या थी।[२] नेपाल के शासक जयदेव द्वितीय के संवत् १५३ में अभिलिखित लेख[3] से विदित होता है कि उसका पूर्वज 'सुपुष्प' पाटलिपुत्र पर शासन करता था। किन्तु यहाँ पाटलिपुत्र का अर्थ बिहार और उसके आसपास के क्षेत्रों से ही करना चाहिए। ऐसा इसलिए क्योंकि हमारे पास ऐसा कोई प्रमाण नहीं है जिससे ज्ञात हो कि लिच्छवियों का पाटलिपुत्र पर कभी शासव था। इससे अनुमान किया जा सकता है कि 'नेपाल के लिच्छवियों' की कोई शाखा वैशाली और नेपाल के बीच, सम्भवतः नेपाल की तराई में, कहीं शासन कर रही थी।

इस प्रकार वे 'लिच्छवी' जो कभी वैशाली से भागकर नेपाल चले गये थे।[४] बिवेच्य काल में, सम्भवतः उनकी कोई शाखा, नेपाल की तराई में शासन कर रही थी। इस काल के 'लिच्छवि' नृपतंत्री व्यवस्था से संचालित हो रहे थे।[५]

---

१ प्रो० जगन्नाथ, इं० हि० का० १९४४, पृ० ११६ आगे, सिनहा, डि० किं० मं०, पृ० १५-१७।
विद्वानों ने इसकी प्रामाणिकता पर संदेह व्यक्त किया है। उन्होंने इसको १९वीं शती का धोखा कहा है। उनका तर्क अकाट्य है। अतएव हम भी इसके प्रमाण पर विश्वास नहीं करेंगे।

२ ज० बि० उ० रि० सी० ३०, पृ० ७, स्मिथ को भी देखिये, अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० २७९।

३ इं० एं० ९, पृ० १७८ आगे।

४ मिश्र, अर्ली हिस्ट्री आफ वैशाली, पृ० २६१ (किन्तु मिश्र ने जिन संदर्भों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला है उनको देखने से यह स्पष्ट नहीं होता है कि अजातशत्रु के काल में लिच्छवि नेपाल भागे थे।)।

५ देखिये, चटटोपाध्याय, अर्ली हि० ना० इं०, पृ० १४३ और पाठक, ज० न्यू० सो० इं० १९ भाग २, पृ० १२९ भी।
(The coins, therefore, simultaneously celebrate the performances of marriage and consequent amalgamation of the two kingdoms.)

बघेलखण्ड और कौशाम्बी के मघ

पार्जीटर ने तीसरी शती ईसवी में बघेलखण्ड ओर कौशाम्बी क्षेत्र पर शासन करने वालों में 'मघों' को बतलाया है ।[1] पहले ये बघेलखण्ड तक ही सीमित थे बाद में, सम्भवतः महाराज भद्रमघ के काल में, इनके राज्य का विस्तार कौशाम्बी तक हुआ ।[2]

'मघों' के इतिहास पर पुराणों के अतिरिक्त अभिलेखों और सिक्कों से भी प्रकाश पड़ता है । इनके कुछ लेखों पर तिथियाँ भी अंकित है । श्री दयाराम साहनी ने इन अभिलेखों की लिपी के लक्षणों के आधार पर इनको गुप्त काल का कहा है ।[3] और महाराज श्री भद्रमघ के हसनाबाद में अंकित तिथि को गुप्त संवत् में अंकित बतलाया है साथ ही यह भी कहा है कि यह अनुमान मात्र है ।[4] श्री एन० जी० मजूमदार[5] और कृष्णदेव[6] ने इसको चेदि संवत् में अंकित बतलाया है । मार्शल,[7] कोनो[8] और डा० मोतीचन्द्र[9] ने मघ-अभिलेखों में उल्लिखित संवत् को शक संवत् बतलाया है । चेदि और गुप्त संवत् को मानने वालों का मुख्य तर्क अभिलेख की लिपी है । शक संवत् के पक्ष में लिखते हुए डा० अल्तेकर[10] ने यह मत दिया है कि लिपियों की समानता को आधार माना जाय तो कनिष्क के वर्ष १४ में अकित अभिलेख की लिपि भी गुप्त लिपि के समान है तो क्या कनिष्क को गुप्त काल में रखा

---

१ डा० क० एज, पृ० ५०, ५१, ५८, ज० आ० हि० रि० सो० ६ पृ० ४७-४८

२ जयचन्द्र विद्यालंकार, इतिहास प्रवेश, पृ० १६६, वाकाटक गुप्त एज, पृ० ४२ ।

३ एपि० इं०, १८, पृ० १५६ ।

४ वही, पृ० १६० ।

५ वही, २४, पृ० १४६ आगे ।

६ वही, २४, पृ० २५३ आगे ।

७ आर्कै० सर्वे० इं०, १९११-१२, पृ० ४१७ आगे ।

८ एपि० इं० २३, पृ० २४७ आगे ।

९ ज० न्यू० सो० इं० २, पृ० ६५ ।

१० वाकाटक गुप्त एज, पृ० ४१ नोट २ ।

जा सकता है। गुप्त और चेदि संवत् के विरुद्ध उन्होंने कहा है कि इन अभिलेखों की तिथि को गुप्त अथवा चेदि संवत् में मान लेने पर 'मघ' शासक गुप्त शासकों के समसामयिक हो जायेंगे और ऐसे क्षेत्र में शासक थे जो क्षेत्र गुप्तों के सीधे अधिकार में था। किन्तु मघों के अभिलेखों की भाषा को देखते हुए यह नहीं कहा जा सकता कि कौशाम्बी के ये शासक किसी के अधीन थे, जबकि गुप्त शासकों के अधीनस्थ नृपति अपने लेखों में गुप्तों की अधीनता किसी रूप में स्वीकार करते हुए दिखलाई पड़ते हैं। ऐसी स्थिति में गुप्त काल में इन शासकों की स्वतंत्र सत्ता को स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त गुप्तों के अधीन शासक अपने नाम के सिक्के भी नहीं ढलवा सकते थे† (ल० ४०० से ५०० ईसवी तक) जबकि मघों के सिक्के पाये गये हैं। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि मघ स्वतंत्र शासक थे और गुप्तों के पूर्व हुए। यदि मघों के लेखों में अंकित तिथि को शक संवत् में रखें सो यह निश्चित हो जाता है।[1]

'मघों' के लेख ८१ से ९० तिथि में अंकित मिले हैं।[2] इस तिथि को गुप्त संवत् में मान लेने पर इनका काल ४०० ईसवी में निर्धारित होता है जिसको माना नहीं जा सकता क्योंकि हम यह जानते हैं कि इस प्रदेश के शासकों का समुद्रगुप्त ने उन्मूलन कर दिया था और उसके बाद उसका प्रतापी पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय शासक हुआ। अतएव इन ज्ञात तिथियों को शक संवत् ही में हम आवेंगे। शक संवत् को दृष्टि में रखकर ही विद्वानों ने इनका काल ईसवी १२० से लेकर ३०० ईसवी तक आंका है।[3]

मुद्राओं के प्रमाण के आधार पर यह नर्धारित हुआ है कि कौशाम्बी पर ३०० ईसवी के बाद और चन्द्रगुप्त के काल तक 'मघों' का राजनीतिक

---

† लं० ४००-५०० ईसवी तक गुप्तों के अतिरिक्त उत्तर भारत में किसी अन्य नृपति का सिक्का अभी तक नहीं मि ा है।

१ वाकाटक गुप्त एज, ० ४१, नो० २।

२ एपि० इं० १८, ृ० १६०, एपि० ई० २३, पृ० २४५, एपि० इं० २४, पृ० १४६, २५३, का० ृ० इं० ३, नं० ६५।

३ मजूमदार, एंसेंट इंडिया, पृ० १३३, चट्टोपाध्याय, अर्ली हि० ना० इं०, पृ० १४-१६। रायचौधरी, पो० हि० एं० इं०, पृ० ५३२, वाकाटक गुप्त एज, पृ ४१-४६, ज० न्यू० सो० ई०, ८, पृ० ६६।

उत्तराधिकारी 'नव' नामक राजा हुआ। इसके सिक्के 'मघों' के सिक्कों से मिलते जुलते हैं।[१] अल्तेकर ने इसका काल ३०० ईसवी से ३२० ईसवी तक निर्धारित किया है[२]। यह सम्भवतः चन्द्रगुप्त प्रथम द्वारा विजित कर लिया गया[३]। इस प्रकार कौशाम्बी के शासकों की राजनीतिक सत्ता का अपहरण हो गया। महाराज 'नव' का उत्तराधिकारी कौन हुआ, यह ज्ञात नहीं हो सका है[४]। किन्तु चौथी शती ईसवी के मध्य में 'पुष्वश्री' अथवा 'पुष्पश्री' नामक शासक कौशाम्बी पर शासन कर रहा था[५]। चन्द्रगुप्त प्रथम की मृत्यु होते ही गुप्त कुल में उत्तराधिकारी का जो प्रश्न उठा सम्भवतः उसी समय 'पुष्पश्री' स्वतंत्र हो गया। किन्तु समुद्रगुप्त ने उसका दमन कर दिया[६]।

भीटा से प्राप्त एक मुद्रा से महाराज शंकरसिंह के नाम का पता चलता है जिसका काल चौथी शती ईसवी निर्धारित किया गया है[७]।

पद्मावती और मथुरा के नाग

पद्मावती और मथुरा प्रदेश के राजाओं के नाम के अंत में प्रायः 'नाग' शब्द मिलता है। डा० अल्तेकर ने इनके वंश का नाम 'भारशिव' भी बतलाया है[८]। प्रवरसेन द्वितीय के वर्ष १८ में अभिलिखित चम्पक ताम्रपत्र लेख के बयान से भी यह विदित होता है[९]। इन भार शिवों के संबंध में ऐसा

---

१ वाकाटक गुप्त एज, पृ० ४६।

२ वही।

३ पौ० हि० एं० इं० पृ० ५३१।

४ वाकाटक गुप्त एज, पृ० ४६।

५ वही; सरकार ने सिक्के के पुष्पश्री को प्रौष्ठश्री पढ़ा है और इसका काल द्वितीय शती ई० निर्धारित किया है। (एज आफ इंपीरियल यूनिटि, पृ० १७६)

६ वही।

७ अर्ली हि० ना० इं०, पृ० ११७, एज इं०, पृ० १७७, आर्क० सर्व० इं० एन० रि० १९११-१२, पृ० ५३।

८ ज० न्यू० सो० इं०, ५, पृ० २१-२७, वाकाटक गुप्त एज, पृ० ३७।

९ चम्पक ताम्रपत्र लेख, सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० ४१८-२५।

कहा जाता है कि वे पद्मावती[१] के थे[२]। और यदि यह मान लिया जाय कि पद्मावती के भारशिवों के अधिकारों में मथुरा तक के प्रदेश सम्मिलित थे तो यह अनुमान किया जा सकता है कि नागों के अधिकार में मथुरा का प्रदेश भारशिव नाग वंश के तीसरे नृपति के शासन काल में आया[3]। डा० चट्टोपाध्याय ने उस तीसरे नृपति को, जिसने मथुरा तक अपने राज्य की सीमा-रेखा खींची, पुराणों में वर्णित नागवंशावाली में उल्लिखित 'चन्द्रवंश' से समीकृत करने का प्रयास किया है[४]। किन्तु डा० जायसवाल ने मुद्राओं के प्रमाण से यह पहले ही सिद्ध कर दिया है कि मथुरा को नागवंश के अधिकार में लाने वाला शासक वीरसेन था[५]।

विवेच्य काल के नागवंशी नृपतियों में सर्वप्रथम नाम 'भवनाग' का आता है। प्रायः सभी विद्वान इसको तीसरी शती के अंत और चौथी के प्रारम्भ में मानते है[६]। इसको आलोच्य काल में इसलिए रखते हैं क्योंकि यह विदित हो चुका है कि भावनाग की पुत्री का विवाह वाकाटक वंशी प्रवर प्रथम के पुत्र गौतमीपुत्र (जिसकी मृत्यु सम्भवतः पिता के जीवन-काल ही में हो गई थी) से हुआ था और भवनाग की पुत्री से उत्पन्न गौतमी-पुत्र का पुत्र एवं प्रवरसेन प्रथम का पौत्र रुद्रसेन समुद्रगुप्त का समकालिक था, जिसे वाकाटकों के एक ताम्रपत्र लेख में स्पष्ट रूप से 'भवनागदौहित्र' कहा गया है[७]।

भवनाग (ल० ३१०-३४४ ई०) एक शक्तिशाली नाग राजा था। किन्तु उसको कोई पुत्र नहीं थी। उसकी सिर्फ एक संतान थी—पुत्री जो वाकाटक वंशी राजकुमार गौतमीपुत्र को व्याही थी। गौतमीपुत्र के भार शिव पत्नी से रूद्रसेन प्रथम का जन्म हुआ, जो संभवतः भवनाग के साम्राज्य का भी

---

१ पदमावती नागरी (आधु० पदमपवाया) उत्तर पश्चिमी बुंदेलखंड में सिंधु और परा के संगम पर।

२ अर्ली हि० ना० इं० पृ० १२०।

३ वही।

४ वही. नो० २८।

५ जायसवाल, अंधकारयुगीन भारत. पृ० ३८।

६ वाकाटक गुप्त एज, पृ० ३८, चट्टोपाध्याय, अर्ली हि० ना० इं० पृ० १२०।

७ सि० इ०, पृ० ४२० 'भवनागदौहित्रस्य'।

उत्तराधिकारी हुआ ।[१] भवनाग के विषय में ऐसा कहा जाता है कि वह अपने नाती रुद्रसेन प्रथम की सहायता किया करता था ।[२] अर्थात् रुद्रसेन भवनाग को बहुत प्रिय था । पुत्र के अभाव में यदि वह अपने नाती को ही अपने राज्य का उत्तराधिकारी बना दिया हो तो कोई आश्चर्य नहीं ।[३] सम्भवतः इसीलिए रुद्रसेन ने अपने नाम के आगे 'भवनागदौहित्र' लगाया । किन्तु रुद्रसेन पूरे 'नाग' प्रदेश का स्वायी नहीं हो सका । भवनाग के आँख मूँदते ही नाग साम्राज्य गृहयुद्ध में फंसकर सम्भवतः बिखर गया । हमारे इस अनुमान का आधार डा० अल्तेकर का साक्ष्य है । उन्होंने (ज० न्यू० सो० इं०, ५, पृ० २२ आगे) यह सिद्ध कर दिया है कि गणपतिनाग, नागसेन और वाद में विभुनाग भवनाग के ही कुल के थे । और उनका काल इन्होंने चौथी शती इसवी का पूर्वार्द्ध मान है । अर्थात् उस राज्य पर जिस पर कभी भवनाग का एकाधिकार था उसके आँख बंद करते ही बंट गया । राज्य का इस प्रकार से बंट जाना गृहयुद्ध की ही सम्भावना व्यक्त करता है । बेसनगर में गणपतिनाग[४] और पद्मावती में नागसेन[५] स्वतंत्र हो गये । रुद्रसेन प्रथम जो कि 'वाकाटक' पिता और 'नाग' माता से उत्पन्न पुत्र था अपने को 'भावनागदौहित्र' कह कर सम्भवतः यह सिद्ध कर रहा था कि वह नाना के राच्य का असली वारिस था । इससे प्रकट होता है कि 'नागों' का आपस में बैर-विरोध था । देश में 'नागों' की स्थिति अत्यंत शक्तिशाली थी । निश्चय ही, उनका यह स्वतंत्र अस्तित्व उत्कर्ष की ओर बढ़ते हुए गुप्तों के लिए एक चुनौती थी ।[६] हमें ऐसा लगता है कि चंद्रगुप्त प्रथम के राज्य का विस्तार पश्चिम की नागवंशी भवनाग के सुदृढ़ शक्ति के कारण न हो सका । यह ऐतिहासिक तथ्य था कि बिना 'नागा' को परास्त किए गुप्त-

---

१ जे० न्यू०सो० ई०, १६. पार्ट २, पृ० १४० ।

२ क्लासिकल एज, पृ० १७८ ।

३ ज० यू०, सो० ई० १६, पार्ट २, पृ० १४० ।

४ वाकाटक गुप्त एज, पृ० ३७।

५ हर्षचरित, कावेल, पृ० १९२ (नाग-कुल-जन्मनः सारिकाश्रावितमन्त्रस्य श्रासीद्नासो नागसेनस्य पद्मावत्याम्) ।

६ गोखले, समुद्रगुप्त लाइफ एण्ड टाइम्स, पृ० ४६, ४७ ।

साम्राज्य का निर्माण नहीं हो सकता था । अतः समुद्रगुप्त ने 'नागों' की इस फूट से लाभ उठाया और इनका उन्मूलन कर दिया ।[1]

पदमावती और मथुरा के अतिरिक्त इन 'नागों' का केन्द्र पांचाल प्रदेश भी था । जो उत्तर और दक्षिण में विभाजित हो गया था । उसके उत्तरी भाग में उस समय (समुद्रगुप्त के काल में) श्रीनन्दी शासक था जिसके सिक्के भी मिले हैं ।[2] श्री नन्दी के पूर्व सम्भवतः शिवनन्दी उस प्रदेश का शासक था ।[3] दक्षिण भाग का शासक अच्युत था[4] प्रो० वाजपेयी[5] ने सिक्को के इस 'नन्दी' और 'अच्युत' को समुद्रगुप्त के इलाहाबाद वाले लेख के 'नन्दी'[6] और 'अच्युत' से मिलान किया है ।

इस प्रकार समुद्रगुप्त के दिग्विजय से पूर्व तक उत्तर भारत में ग्वालियर, भिलसा, मथुरा, बरेली और उसके आसपास के प्रदेश पर नागवंशी शासकों का आधिपत्य था, जिनको भवनाग के काल तक, चुनौती देने वाला कोई नही था । चन्द्रगुप्त प्रथम सम्भवतः इसी कारण इनको जीत नहीं सका । किन्तु उसके (भवनाग के) आँख मूँदते ही गृह-कलह के कारण नाग साम्राज्य छोटे-छोटे प्रदेशों में विभक्त हो गया ।

राजपूताने और मध्यप्रदेश के गणराज्य

म्लेच्छों को आर्यावर्त की पवित्र भूमि से निष्कासित करने वालों में राजपूताने और मध्यप्रदेश के गणतंत्री कबीले भी थे । यहाँ उन्हीं गणों का वर्णन किया जायेगा जिनका अस्तित्व चौथी शती ईसवी में विद्यमान था ।

विवेच्य काल के गणों के बारे में, समुद्रगुप्त का इलाहाबाद लेख और उसके पुत्र चन्द्रगुप्त द्वितीय के लेख, प्रकाश डालते हैं । इसके अतिरिक्त भी अन्य प्रमाणों से इनकी सत्ता सिद्ध होती है । इनकी विवेचना यहाँ उसी

१ देखिये, समुद्रगुप्त का इलाहाबाद लेख, पंक्ति १३ ।
२ ज० न्यू० सो० इं०, २४, पृ० १६ ।
३ वही ।
४ वही ।
५ वही ।
६ वही, पृ० २२ ।

क्रम से की जायेगी जिस क्रम से समुद्रगुप्त के इलाहाबाद प्रशस्ति में प्रशस्तिकार हरिषेण ने की है ।[१]

'मालव' गण का अधिकार इस काल में मालवा प्रदेश पर था ।[२] इससे पूर्व सिकन्दर के आक्रमण के समय वे पंजाब में थे ।[३] कालान्तर में वे पूर्वी राजपूताना में चले गये । जयपुर राज्य में मालवों के बहुत से सिक्के मिले हैं ।[४] वे मालवा कब आये यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता है ।[५] मालवों के आने के पूर्व इस प्रदेश पर, जो कि उनके नाम के कारण 'मालवा' कहलाया, शकों का अधिकार था । किन्तु मालवों के सतत आक्रमणों के कारण शकों को संभवत: इस प्रदेश को छोड़कर हट जाना पड़ा । तभी से वे (मालव) इस प्रदेश में बस गये । किन्तु डा० बसाक ने इनके इस प्रदेश में आने के सम्बन्ध में लिखा है कि वे सम्भवत: समुद्रगुप्त के काल में मालवा के दशपुर में गये ।[६] उनके अनुसार गुप्त विजेता ने राजपूताने के पुष्करण पर जब चढ़ाई की तभी ये (मालव) इस प्रदेश में आये ।[७]

मालवों के सिक्के भी मिले हैं, जिनको साधारणत: दो विभागों में विभक्त किया गया है[८] । पहले विभाग के सिक्कों पर केवल जाति का नाम लिखा है-'मालानां जय:'[९] । दूसरे विभाग के सिक्कों पर सम्भवत: 'मालव' जाति के प्रमुखों के नाम हैं । किन्तु विद्वानों में इस पर मतभेद है । स्मिथ इसको विदेशी शासकोंद्वारा चलाया गया मानते हैं ।[१०] डगलस और चक्रवर्ती इसको

---

१ पंक्ति २२ (नृपतिभिर्म्मालवार्जुनायन यौधेय-माद्रकाभीर-प्रार्जुन-सनकानीक-काक-खरपरिकादिभिश्च सर्व्व-कर-दानाज्ञाकरण-प्रणामागमन··)

२ चौधरी, इं० हि० क्वा०, २४, पृ० १७१ ।

३ पो० हि० इं० इं०, पृ० ५४४ ।

४ ज० रा० ए० सो०, १८९७, पृ० ८८३, स्मि, कैटलाग, पृ० १६१ ।

५ पो० हि० इं० इं०, पृ० ५४४ ।

६ हि० ना० ई० इं०, पृ० २८ ।

७ वही ।

१ कनिंघम, आर्क० सर्वे० रि०, ६, पृ० १६५-७४, पृ० १४६ ।

२ स्मिथ, कैटलाग, पृ० १७०-७४ ।

३ वही ।

'मालव' प्रमुखों द्वारा चलाया सिक्का बतलाते हैं[1]। लेकिन एलन तो इस बात के लिए तैयार ही नहीं है कि वे सिक्के किसी शासक द्वारा चलाये गये थे। उनके अनुसार उन सिक्कों पर "मालवानां जय:" लिखने की ही चेष्टा की गई थी[2]। उन सिक्को पर जिनको लेकर विद्वानों में मतभेद है, 'भपंयन', 'गोजर', 'माशप', 'मपक', 'मगछ', 'गजव', 'जामक', 'मगौजव', 'मगज' 'मगोजव', 'मरज', 'मजुप', 'महाराय', आदि नाम मिलते हैं[3]। इन नामों के स्वरूप को देखकर डा० सरकार ने एलन के ही मत का समर्थन किया है। उनके अनुसार इन सिक्कों पर 'मालवानां जय:' लिखने का ही निरर्थक प्रयास किया गया था[4]। यहाँ एक बात हम और कह दें, डा० चट्टोपाध्याय ने स्मिथ के विचार का समर्थन किया है और बतलाया है कि सिक्कों के कुछ नाम जैसे 'मगजश' और 'मगोजय' विदेशी (शकों के) नामों के द्योतक हैं[5]। किन्तु डगलस और चक्रवर्ती के कथन को हम अधिक युक्तियुक्त समझते हैं, जिसके मतानुसार ये सिक्के मालवों द्वारा चलाये गए थे। जहां तक विदेशी सरदारों के सिक्कों का प्रश्न है, हम यही कहेंगे कि गण सिक्कों की ढेरी में (जिन्होंने विदेशियों से लड़ने ही में, अपनी भूमि को उनसे मुक्त कराने को ही धर्म समझा) विदेशियों के सिक्के मिल ही नहीं सकते और जैसा कि एलन और सरकार ने कहा है कि इन सिक्कों पर "मालवानांजय: अंकित करने का ही निरर्थक प्रयास किया गया था, इसको कतिपय आधारों के कारण न मानते हुए हमने इन सिक्कों को मालव-प्रमुखों के ही सिक्के बतलाया है। इसलिए कि, जिस काल में इन सिक्कों डाला गया उस काल में गणतंत्री व्यवस्था को मानने वालों में भी नृपतंत्री व्यवस्था की बातें सोची जाने लगीं थीं, यही नहीं 'यौधेयों' में नृपतंत्री व्यवस्था की भांति 'महाराज' होने भी लगे थे। सम्भवत: इसी प्रभाव के कारण 'मालवगण' में बहुत से प्रमुख पैदा हो गये, जिन्होंने अपने-अपने नाम के सिक्के ढालने भी प्रारम्भ कर दिये थे। मालवों

---

१ वही, पृ० १०६।

२ ज० न्यू० सो० इं०, २४, पृ० ४, एलन, कैटलाग, भूमिका, १०७।

३ स्मिथ, कैटलाग, पृ० १७४-७७।

४ ज० न्यू० सो० इं०, २४, पृ० ४।

५ अर्ली हि० ना० इं०, पृ० १२२-२३।

की इस व्यवस्था से समुद्रगुप्त ने लाभ उठाया और दशपुर में व्यवस्थित शासन के लिए, उसने वहां 'वर्मा' बंश की स्थापना की। जयवर्मा जो कि इस वंश का पहला नृपति था समुद्रगुप्त के ही काल में हुआ[१]। राखालदास बनर्जी[२] और बनर्जी-शास्त्री[३] ने भी इन सिक्कों को मालव प्रमुखों द्वारा चलाये सिक्के माना है।

इन सिक्कों की तिथि के संबंध में भी विद्वानों में मतभेद है। रैप्सन ने सिक्कों के लेख की तिथि और उनके स्वरूप (फैब्रिक) के आधार पर इसकी तिथि को पांचवीं शती ईसवी तक खींचा है। किन्तु स्मिथ ने इसके काल को समुद्रगुप्त के ही काल तक आंका है। सरकार स्मिथ के विचार से सहमत हैं[४]। हमें भी यह समीचीन लगता है[५]। क्योंकि ४००-ई० ५०० ई० के बीच किसी अधीन शासक के सिक्के हम गुप्त शासनांतर्गत नहीं पाते[६]।

'आर्जुनायनों' के निवास स्थान को एलन ने दिल्ली-जयपुर-आगरा क्षेत्र में निश्चित किया है।[७] इनके सिक्के भी मिले हैं।[८] कनिंघम ने इनके सिक्कों को मथुरा में पाया था।[९] वराहमिहिर की 'बृहत्संहिता' में त्रैगर्त, पौख

१ देखिये, आगे।

२ प्राचीन मुद्रा, पृ० १४६।

३ ज० बि० रि० सो०, २३, पृ० ३१२।

४ रैप्सन, स्मिथ और सरकार के मतों के लिए देखिये सरकार का लेख-ज० न्यू० सो०, इं०, २४, पृ० १।

५ ज० बि० उ० रि० सो०, २३, पृ० २८७-३ १८ (डा० बनर्जी-शास्त्री ने भी इन सिक्कों का काल चौथी शती ईसवी तक आंका है)

६ जायसवाल, ज० बि० उ० रि० सो०, १८, पृ० २१०
(Samudragupta was very particular about his imperial coinage. The Arjunayanss, the Malavas, the Yaudhayas. and the Naga kings all cease minting their coins in his. reign. He allowed the privileges possessing their own mints to Gandhara Sakas and the Little Yuhchi rulers. but instead of their coins wearing any Kushan imperial signs they had to bear the imperial Gupta marks.)

७ एलन, कैटलाग, भूमिका, पृ० ८३।

८ स्मिथ, कैटलाग, पृ० १६०।

'यौधेय' आदि जातियों के साथ आर्जुनायनों का उल्लेख हुआ है।[1] सम्भवतः इसीलिए आगरा और मथुरा के पश्चिम और वर्तमान भरतपुर और 'अलवर' राज्य में इनका प्राचीन निवास स्थान निश्चित हुआ।[2]

कुशाण शासन के पश्चात् भी 'आर्जुनायनों' ने सिक्के चलाये थे इस पर सन्देह व्यक्त किया जाता है।[3] ऐसा कहा जाता है कि तब 'यौधेयों' के साथ इनके सिक्के ढलने लगे थे। उदाहरण के लिए डा० अल्तेकर एवं अन्य विद्वानों ने यौधेय सिक्कों पर 'यौधेयगणस्य जयः 'के साथ 'द्वि' और 'तृ' संख्या बोधक शब्दों का अंकित होना बतलाया है।[4] इस 'द्वि' और 'तृ' का अर्थ बतलाते हुए उन्होंने कहा है कि 'द्वि' सम्भवतः कुणिन्दों' के लिए 'तृ' 'आर्जुनायनों' के लिए प्रयुक्त हुआ था। इस प्रकार इन्होंने विदेशी आक्रामकों के विरुद्ध सम्भवतः एक 'संघ' बनाया था।[5]

'यौधेयों' की राजनीतिक गतिविधियों को एवं उनके सिक्कों के पाये जाने वाले स्थानों को देखते हुए काला[6] ने उनके कार्य-क्षेत्र की परिधि को राजपूताने से लेकर पश्चिमी उत्तरप्रदेश तक आंका है।[7] इस प्रदेश पर कभी शक कुशानों का शासन था।[8] 'वृहत्संहिता' में गान्धार जाति के साथ 'यौधेय' लोगों का भी उल्लेख है।[9] भरतपुर राज्य के विजयगढ़ नामक एक स्थान के शिलालेख में यौधेय लोगों के अधिपति 'महाराज महासेनापति' उपाधिधारी एक व्यक्ति का उल्लेख है।[10] पंजाब को बहावलपुर रियासत में रहने

---

१ क्या० एं इं०, पृ० ८६-६० ।
२ व्रहत्संहिता, १६-२२, कर्न संस्करण, पृ० १०३ ।
३ वाकाटक गुप्त एज, पृ० ३१ ।
४ वही, पृ० ३२, पो० हि० एं० इं०, पृ० ५४५ ।
५ वाकाटक गुप्त एज, ३२ ।
६ ज० न्यू० सो० इं०, १८, पृ० ४६ ।
(यौधेयों के सिक्के सहारनपुर, देहरादून, दिल्ली, रोहतक, लुधियाना, कांगड़ा और गढ़वाल जिले से मिले हैं।)
७ देखिये, आर्क० सर्वे० उं० रि० २, ६, १४, ७७ ।
८ वाकाटक गुप्त एज, पृ० २६ ।
६ व्रहत्संहिता, १४। २८, १६। २२, कर्न संस्करण, पृ० ६२, १०३ ।
१० का० इं० इं० ।

वाली 'योहिया' नामक जाति 'यौधेय' लोगों की वंशधर मानी जाती है।[१] बहावलपुर राज्य में 'योहियावार' नाम का एक प्रदेश भी है।[२]

डा० अल्तेकर ने 'महाभारत' (महा० १।९५।७५, बम्बई संस्करण) के साक्ष्य पर 'यौधेयों' और 'आर्जुनायनों' को पाण्डव भाइयों-धर्मराज और अर्जुन-का वंशज बतलाया है।[३] 'आर्जुनायनों' का 'यौधेयों' के साथ मिल जाने का कारण भी डा० अल्तेकर ने पाण्डव भाइयों का वंशज होना माना है।[४]

हम देख चुके हैं कि नृपतंत्री व्यवस्था का प्रभाव गणतन्त्रों पर पड़ने लगा था। इस लहर से 'यौधेय' भी सम्भवतः नहीं बन सके। उनके एक लेख से विदित होता है कि उनका मुखिया 'महाराज महासेनापति 'कहलाता था।[५]

'मद्रकों' के निवासस्थान को विद्वानों ने वर्तमान स्यालकोट में बतलाया है।[६] इनके सम्बन्ध में कहा जाता है कि यह ययाति के पुत्र 'अनु' के वंश की शाखा के थे।[७] और 'अनु' जाति का उल्लेख ऋग्वेद[८] तक में हुआ है। ऋग्वेद के आठवें मण्डल से विदित होता है कि 'अनुजाति' पंजाब के परुष्णी प्रदेश के आसपास कहीं रहती थी।[९]

मद्रकों का 'बृहदारण्यक' उपनिषद्[१०] में भी उल्लेख है। उस समय पतंजलि इन्हीं के बीच रहता था। वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी केवल एक

१ कनिंघम, ज्याग्राफी, पृ० २०५।
२ स्मिथ, ज० रा० ए० सो०, १८९७, पृ० ३० वाकाटक गुप्त एज, पृ० ३०, प्राचीन मुद्रा, पृ० १४८।
३ वाकाटक गुप्त एज, पृ० ३२।
४ वही।
५ का० इं० इं०, ३।
६ सरकार, सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० २५८, रायचौधरी, पो० हि० इं० इं०, पृ० ५४५, अल्तेकर, वाकाटक गुप्त एज पृ० ३३।
७ रायचौधरी, पो० हि० ए० इं०, पृ० ६३।
८ क० १।१०८।८, ७।१८।१४, ८।१०।५, ८।७४।१५, ७।१८।१४।
९ ऋ० ८।७४।१५।
१० बृ० ३।३।१।

शाखा के रूप में उत्तर-मद्रों का उल्लेख है, जिनका 'ऐतरेय' ब्राह्मण[१] में हिमालय पर्वत के उस पार उत्तर कुरुओं के पड़ोस में, जैसाकि जिमर का अनुमान है, कश्मीर क्षेत्र में निवास करने वालों के रूप में उल्लेख है। उपनिषद् में वर्णित मद्र-गण भी, कुरुओं की ही भाँति, मध्य देश के कुरुक्षेत्र नामक स्थान में बसे थे।[२]

किन्तु ये (मद्र) जो कभी कुलीन समझे जाते थे[3] कालान्तर में अधोगति को प्राप्त हुए।[४] डा० अल्तेकर के कथनानुसार ये लोग पुनः शक्ति में सम्भवतः तीसरी शती ईसवी में आये। मध्य पंजाब क्षेत्र पर जहाँ उस समय सीथियन जाति की 'गडहर' नामक शाखा के लोगों का शासन था 'मद्रों' ने उनसे कुछ प्रदेश छीन लिया।[५] इनका अभी तक कोई सिक्का नहीं मिला।[६]

'आभीरों' का मुख्य निवास स्थान पश्चिमी राजपूताने[७] का प्रदेश था जिसको पेरिप्लस ने अबीरीया कहा है[८]। इनकी एक शाखा महाराष्ट्र में भी थी। इन दोनों स्थानों से इनके बारे में पर्याप्त सामग्री उपलब्ध हुई है[९]। इसके अतिरिक्त भी उनका एक निवास स्थान था जो भिलसा और झांसी के बीच 'अहिरवार' नाम से जाना जाता है[१०]। श्री सूर्यवंशी ने आलोच्य काल में इनकी अवस्थिति पंजाब के कांगड़ा प्रदेश में बतलायी है। समुद्रगुप्त के लेख के आभीर सम्भवतः इसी प्रदेश के थे[११]।

---

१ ऐ० ८।१४।३।
२ मैकडोनल और कीथ, वैदिक इंडेक्स. अनु० रामकुमार राय. पृ० १३७।
३ पो० हि० एं० इं०. पृ० ६५।
४ वही।
५ वाकाटक गुप्त एज, पृ० २०।
६ वही, पृ० ३३।
७ महा० ६। ३७। १ (शूद्राभिरान् प्रति द्वेशाद यत्र नष्टा सरस्वती।
८ इं०, एं० ३, पृ० २२७ आगे।
९ वाकाटक गुप्त एज, पृ० १४३।
१० स्मिथ, ज० रा० ए० सो०, १८९७, पृ० ८९१, पो० हि० एं० इं०, पृ० ५४५।
११ दि आभीराज, पृ० ११. डा० सरकार ने इन आभीरों को इस काल में अपरान्त में बतलाया है (सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० २५८, नो० १)।

'आभीरों' के मूलनिवास के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। एक के अनुसार ये मध्य एशिया के निवासी थे और सिकन्दर के आक्रमण के पश्चात् भारत आये। इस मत की विवेचना करने वालों में रा० गो० भंडारकर (इं० एं०, १९१२, पृ० १५), केनेडी (ज० रा० ए०, सो०, १९०७), टार्न (ग्री० बै० इं०, पृ० ७१२) द्वारा भण्डारकर, वेबर, कीथ, अल्तेकर और डा० चट्टोपाध्याय (अ० हि० ना० इ०, पृ० १२७) आदि हैं। दूसरे मत का प्रतिपादन डा० बुद्धप्रकाश ने किया है। साहित्यिक प्रमाणों के आधार पर उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि आभीर भारत के ही निवासी थे (ज० बि० रि० सो०, ४०, पृ० २४९-६५)।

'प्रार्जुनकों' की अवस्थिति स्मिथ ने भिलसा के निकट नरसिंहपुर के पास बतलाया है[1]। इनका उल्लेख 'अर्थशास्त्र' में भी हुआ है[2]। रायचौधरी ने इनके निवास स्थान को मालवा और मध्यप्रदेश में ही रखा है[3]।

'सनकानीकों' की अवस्थिति के बारे में चन्द्रगुप्त द्वितीय के उदयगिरी अभिलेख से प्रकाश पड़ता है[4]। इनके निवास स्थान को भिलसा के पास ग्वालियर जिलांतर्गत ईसागढ़ तहसील में बतलाया गया है[5]। इनके संबंध में प्रो० मजूमदार का कथन है कि गणतंत्री कबीले के नहीं थे। तर्क देते हुए इन्होंने लिखा है कि इनमें शासन के मुखिया का चुनाव नहीं होता था बल्कि वह वंशक्रमागत था[6]। इस सम्बन्ध में हम यह कहना चाहेंगे कि प्रो० मजूमदार का ध्यान सम्भवतः डा० अल्तेकर के उस कथन की ओर नहीं गया जहां विद्वान लेखक ने लिखा है कि नृपतंत्री व्यवस्था से प्रभावित होने के कारण ही इन कबीलों में इस प्रकार की व्यवस्था लागू हुई[7]। इस नई प्रवृति के कारण ही सम्भवतः 'सनकानीकों' में उनका मुखिया वंशक्रमागत होने लगा।

---

१ ज० रा० ए० सो०, १८९७ पृ० ८९२ आगे।
२ अर्थशास्त्र, शामशास्त्री, पृ० १९४।
३ पो० हि० एं० इं०, पृ० ५४८।
४ का० इं० इं०, ३, पृ० २५, ३५।
५ सरकार, सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० २७१।
६ वाटाकट गुप्त एज, पृ० १४४।
७ प्रा० भा० शा० प० पृ० ११३।

राजपूताने में भरतपुर के पास 'वारीक' जाति के लोग भी शासन कर रहे थे। विवेच्य काल में इस प्रदेश से विष्णुवर्धन का मा० सं० (?) ४२८ में अंकित एक लेख भी मिला है।[१] फ्लीट ने इसको समुद्रगुप्त के अधीन शासक बतलाया है।[२] सम्भवत: इसी कुल का कोई ईश्वररात, जिसका लेख काठियावाड़ के छोटा उदयपुर से मिला है,[३] जिसने सम्भवत: समुद्रगुप्त के दिग्विजय के काल में उसके भय से उसकी अधीनता स्वीकार नहीं की काठियावाड़ भाग गया था, चन्द्रगुप्त द्वितीय के काल में, पश्चिम-भारत-अभियान के समय, गुप्तों का सामान्त हो गया। ईश्वररात को हम विष्णुवर्धन के कुल का इस आधार पर कह रहे हैं कि विष्णुवर्धन के लेख में उसके पूर्वजों का नाम (यशोरात, व्याघ्ररात) दिया गया है जिनके अन्त में 'रात' शब्द जुड़ा हुआ है।[४] सरकार ने इसको चौथी शती ईसवी के अंतिम चरण में रखा है और इसको चन्द्रगुप्त द्वितीय का सामन्त नृपति बतलाया है।

'काकों' का उल्लेख महाभारत[५] में हुआ है। डा० सरकार ने इनकी अवस्थिति सांची के आसपास बतलायी है।[६] स्मिथ के विचारानुसार सांची के निकट 'काक-नाड' प्रदेश का सम्बन्ध किसी रूप में 'काक' नामक जाति से रहा होगा।[७] इस प्रकार ये काक सांची के ही आसपास कहीं रहते रहे होंगे। सम्भवत: सांची ही में, क्योंकि उसका प्राचीन नाम काकनाडभोट बतलाया जाता है।[८]

---

१ का० इं० इं० ३, पृ० २५२-५४।

२ वही।

३ एपि० इं० ३३, पृ० ३०।

४ वही।

५ महा० ६।६।६४।

६ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० २५८, नो० १।

७ पो० हि० इं० ए०, पृ० ५४६।

८ सरकार, सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० २७३, नो० ३।

'खरपरिकों' को दमोह जिले के आसपास बतलाया जाता है।[१] रायबहादुर डा० हीरालाल ने तो स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि यह जाति 'दमोह' के आसपास के जिलों में अवश्य रहती रही होगी। उस जिले के बटिहागढ़ नामक स्थान में चौदहवीं शताब्दी का एक शिलालेख मिला है जिसमें खर्पार सेना का उल्लेख है। ये प्राचीन खर्परिक से भिन्न नहीं हो सकते। जान पड़ता है, बड़े लड़ाकू होने के कारण इनको सैनिक बनाकर रखना मुसलमानों तक को अभीष्ट था, इसी कारण सुलतान महमूद की ओर से इन लोगों की सेना बटिहागढ़ में रहती थी। पीछे से सैनिक पेशा वाली जातियों की जो गति हुई, वही इनकी भी हुई। अब इन लोगों की एक अलग जाति 'खपरिआ' नाम की हो गई है जो बुंदेलखण्ड में विशेष पाई जाती है।[२]

पश्चिम भारत के शक महाक्षत्रप

शक मध्य एशिया में बसने वाली विशाल सीथियन जाति की एक शाखा थे,। यूहचियों के आक्रमणों के भय से इनको अपने मूल स्थान को छोड़ना पड़ा और भारत में आकर इन्होंने कई स्थानों पर अपना राज्य स्थापित किया। इनके अन्य स्थानों के राज्य तो भारतीय क्षत्रियों के प्रबल विरोध से नष्ट हो गए, पर इस जाति की कुछ शाखा भारतीय जन-जीवन में भी घुल-मिल गई, किन्तु उनकी एक शाखा जो सुराष्ट्र और काठियावाड़ में बसी थी, अब भी विद्यमान थी। सुराष्ट्र के ये शक चष्टनवंशी थे। इनके राज्य का विस्तार मालवा और राजस्थान तक था। किन्तु पूर्व के इन प्रदेशों को, तीसरी शती ईसवी में गणतन्त्री शक्तियों के पैदा हो जाने एवं उनमें (शकों) आन्तरिक विवादों के उठ खड़े होने के कारण, छोड़ना पड़ा।

डा० चट्टोपाध्याय ने विवेच्य काल के शकों के इतिहास को अंधकारमय बतलाया हैं।[3] इस अंधकारमय युग को प्रकाश में लाने के लिए इन्होंने

१ भण्डारकर, इं० हि० क्वा०, १, पृ० २५८ आगे। रे, डा० हि० ना० इं० पृ० ५८६, चटटोपाध्याय, अ० हि० ना० इं०, पृ० १५६, पो० हि० एं० इं०, पृ० ५४६, वाकाटक गुप्त एज, पृ० १४३।

२ डा० हीरालाल, मध्यप्रदेश का इसिहास, पृ० १८-१९।

३ अर्ली हि० ना० इं०, पृ० १२७।

तत्कालीन राजनीतिक गतिविधियों पर ध्यान खींचने का प्रयास किया है।[१] इस काल के इतिहास पर यदि सम्यक दृष्टि डाली जाय तो शकों की गतिविधि को जाना जा सकता है।

जिस समय उत्तर भारत की शक्तियाँ शकों की सत्ता को नष्ट करने में लगी हुई थीं, ईरान में उसी समय (२२६ ईसवी के लगभग) पार्थवों के स्थान पर 'सासानी' वंश की स्थापना हुई थी। इस वंश का संस्थापक आर्दशीर था। इसने विद्रोह करके ईरान-साम्राज्य के कई प्रान्त छीन लिये थे और 'शाहनशाहे—ईरान' की उपाधि धारण कर ली थी।[२] इसी वंश में 'बरहान द्वितीय' भी हुआ था, इसने 'सासानी' राज्य की सीमा-रेखा को भारतीय भूमि पर भी खींवा। उसके इस कार्य का वर्णन-करते हुए हर्जफील्ड ने लिखा है कि यही भारत की वह अनुल्लिखित सासानी चढ़ाई थी जिसकी स्मिथ ने अपने ग्रंथ में कल्पना की थी।[3] इस आधार पर हर्जफील्ड इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि २८४ ईसवी में 'बरहान द्वितीय' की विजयों के बाद 'सासानी' साम्राज्य में पूरब के निम्न देश थे—

सम्पूर्ण खुरासान, जिसमें सम्भवत: ख्वारिज्म और सुग्द भी थे, सकस्तान, विस्तृत्तम अर्थ में मकरान और तूरान सहित सिंधुनद का निचला कांठा और मुहाना, कच्छ, काठियावाड़, मालवा और इन देशों के पीछे का पहाड़ी प्रदेश।[४] सम्भवत: इसीलिए डा० रायचौधरी ने 'महाक्षत्रपी' और क्षत्रपी का अंत 'सासानी' हस्तक्षेप के कारण बतलाया है।[५] परन्तु विद्वानों में सासानियों द्वारा पश्चिमी भारत का विजय विवाद का विषय बना हुआ है। डा० रमेशचन्द्र मजूमदार ने पाइकुली अभिलेख में अवंति के राजा की चर्चा की है—पश्चिमी भारत पर सासानी आधिपत्य विवादस्पद है।[६] डा० अल्तेकर

---

१ वही।

२ अलबीरूनीज इंडिया (अनु० सखाउ, १, पृ० १००, देखिए, डा० जयशंकर मिश्रः 'ए पोलिटिकल एंड सोशल स्टडी अव अलबीरूनीज इंडिया।'' (अप्रकाशित पी एच० डी० की थीसिस, काशी विश्वविद्यालय), पृ० १०८।

३ हर्जफील्ड, पाइकुली, १९२४, पृ० ४२।

४ वही, पृ० ४३।

५ पो० हि० एं० इं०, पृ० ५११।

६ क्लासिकल एज, पृ० ५२।

ने भी प्रो० हर्जफील्ड की उस स्थापना का खण्डन, इस आधार पर किया है कि उन प्रान्तों में सासानी' सिक्के नही मिलते ।[१] अत: प्रमाणों के अभाव में यह कहना ठीक नहीं लगता कि शकों के पतन का कारण 'सासानी' रहें होंगे। शकों की शक्ति क्षोण होने का जो भी कारण माना जाय, किन्तु हमें तो ऐसा[२] प्रतीत होता है कि आंतरिक और बाह्य दबाव के कारण क्रमश: 'महाक्षत्रप और 'क्षत्रप'[३] नष्ट हो गये। परन्तु कालोपरान्त 'महाक्षत्रप' फिर उठ खड़े हुए।

सिक्कों के आधर पर (२९३-३३२ ई०) निम्न 'क्षत्रपों का पता चलता है—

महाक्षत्रप भतृदाम का पुत्र	
विश्वसेन	(ई० २९३-३०४)
रुद्रसिंह द्वितीय	(ई० ३०४)
यशोदामा द्वितीय	(ई० ३१७-३२)

यशोदामा द्वितीय के ३३२ ईसवी के बाद यदि फिर किसी तिथि की जानकारी हो सकी है तो वह है 'महाक्षत्रप' स्वामी रुद्रसेन की, 'महाक्षत्रप' स्वामी रुद्रदामा द्वितीय के पुत्र की। इस प्रकार यशोदामा द्वितीय और रुद्रसेन (तृतीय) के बीच लगभग १६ वर्ष का अंतर पड़ जाता है। चष्टन वंश की वंशतालिका देखने से यह ज्ञात नहीं होता कि रुद्रसेन द्वितीय का इस वंश के साथ वैसा संबंध था। इन तीन 'क्षत्रप' शासकों के बाद एकाएक ३४८ ईसवी में 'महाक्षत्रप' रुद्रसेन (तृतीय) का अविभवि (मजूमदार के मतानुसार) यह अवगत कराता है कि इन 'महाक्षत्रपों' का चष्टनवंशी महाक्षत्रपों से सम्भवत: कोई सम्बन्ध रहा होगा[४] डा० चट्टोपाध्याय ने भी इनको चष्टनवंशियों का सम्बन्धी कहा है।[५]

---

१ वाकाटक गुप्त एज, पृ० ५८-५६।
२ महाक्षत्रपों का सिक्का ईसवी २९३ तक मिला है।
३ इसकी २९३ से ३३२ तक केवल क्षत्रपों के सिक्के मिले हैं। इसवी ३३२ के १६ वर्ष बाद ईसवी ३४८ से पुन: महाक्षत्रपों के सिक्के मिलने लग जाते हैं।
४ क्लासिकल एज, पृ० ४८।
५ अ० हि० न० इं०, पृ० १२७, चट्टोपाध्याय, शकाज इन इण्डिया, पृ० ६६।

यशोदाम द्वितीय और रुद्रसेन तृतीय के बीच के वर्ष के अंतर के इतिहास पर विचार करने से पूर्व हम २९३ ईसवी से ३४८ ईसवी तक के इतिहास को पहले जान लेना चाहेंगे। मजूमदार के मतानुसार ३०४ अथवा ३०५ ई० में रुद्रसिंह द्वितीय ने चष्टनवंशीयों के वैध उतराधिकारी से संभवतः शासन की बागडोर छीन ली।[१] इससे विदित होता हैं कि रुद्रसिंह द्वितीय के काल से लेकर रुद्रसेन तृतीय के काल के प्रारभिक दिनों तक (अर्थात् ईसवी ३०४ से लेकर ३४८ तक) शक शासन संक्रमणकाल से गुजर रहा था। यह हम इस आधार पर कह रहे हैं कि रुद्रसिंह द्वितीय और उसका पुत्र यशोदामा द्वितीय दोनों 'क्षत्रप' उपाधि ही धारण कर सके थे, 'महाक्षत्रप' जैसी सर्वोच्च उपाधि से वंचित रहे, और इन्हीं के शासन काल में राज्य के पूर्वी प्रदेश, मालवा और राजस्थान जिस पर कभी रुद्रदामन् प्रथम का शासन था, इनके हाथ से जा चुका था क्योंकि वहां पर शक्तिशाली 'यौधेयों' का शासन था। किन्तु मालवा प्रदेश जो उनके अधिकार में अबतक बना हुआ था वह भी इस संक्रमण काल के आते ही उनके हाथ से निकल गया। प्रार्जुन सनकानीक, काक, खरपरिक आदि जातियां संभवतः इसी काल में शक सत्ता से अपने को स्वतंत्र कर सकीं[२] क्योंकि सांचीं[३] और एरण[४] से प्राप्त अभिलेखों से विदित होता हैं कि शक 'श्रीधरवर्मा' जो कभी उज्जयिनी और सुराष्ट्र की शक सत्ता के अधीन 'महादण्डनायक' था संभवतः इसी काल में शक सत्ता के विरुद्ध विद्रोह कर स्वतंत्र हो गया और राजन् तथा 'महाक्षत्रप' उपाधि धारण कर शासन करना प्रारंभ कर दिया।[५] इस सम्बन्ध में मजूमदार ने लिखा भी है कि 'श्रीधरवर्मा' रुद्रसिंह को शक राज्य का वैध उत्तराधिकारी मानने को तैयार नहीं था।[६] इसीलिए उसने संवत् ३०७ ईसवी में अपने को स्वतंत्र शासक घोषित किया।[७]

---

१ क्लासिकल एज, पृ० ४६।
२ वही, पृ० ४७ (परन्तु मजूमदार ने नाम नहीं बताये है)।
३ बनर्जी, एपि० इं०, १६, पृ० २३०, एन० जी० मजूमदार, ज० प्रो० ए० सो० बं०, १६, पृ० ३३७, का० इं० इं०, ४-५, पृ० १३-१६।
४ मिराशी, १४ सेसन, इं० हि० का०, पृ० १६।
५ वही।
६ क्लासिकल एज, पृ० ४७।
७ वही।

'श्रीधरवर्मा' के किसी संवत् के १३ से २७ तिथि में अंकित लेख मिले हैं।[1] इनकी तिथि को लेकर विद्वानों में मतभेद है। इनमें से कुछ विद्वान् सांची के लेख को शक संवत् २०१ में रखते हैं तो कुछ शक संवत् २४१ में। किन्तु आज प्राय: सभी विद्वान् एन० जी० मजूमदार के ही मत को मानते हैं, जिन्होंने साँची के लेख को २४१ शक संवत् में अभिलिखित माना है।[2] इस प्रकार सांची अभिलेख जिस पर 'श्रीधरवर्मा' के शासन काल का वर्ष १३ अंकित है, शक संवत २४१ के बराबर हुआ। यह समीचीन भी है, क्योंकि यदि इस लेख को शक संवत् २०१ अर्थात् ईसवी संवत् २७९ में रखें तो शक राज्य में किसी विशेष राजनीतिक उथल-पुथल का पता नहीं चलता, जबकि शक संवत् २४१ अर्थात् ईसवी संवत् ३१९ में इसको रखने से शक राज्य में हुए राजनीतिक उथल-पुथल का दृश्य हमारे सामने स्पष्ट हो जाता है।+ इस तरह के राजनीतिक उथल-पुथल के वातावरण में इस प्रकार की घटनाओं का होना स्वाभाविक था।

अब हमें उस सोलह वर्ष के इतिहास को देखना है जिसमें न क्षत्रियों और न 'महाक्षत्रपों' का ही सिक्का मिला है। इस बीच के काल को उत्तराधिकार की लड़ाई का काल कहा जा सकता है, क्योंकि रुद्रसेन तृतीय जो कि अपने को 'महाक्षत्रप' कहता है (उसका पिता रुद्रदामा द्वितीय भी अपने को 'महाक्षत्रप' कहता है, इसका अबतक न कोई सिक्का मिला है और न अभिलेख। वह सिर्फ अपने पुत्र रुद्रसेन तृतीय के सिक्कों से ही जाना जाता है।) जब कि इसके पूर्व के शासक अर्थात् रुद्रसिंह द्वितीय और यशोदामा द्वितीय, जिनको कि उनके सिक्कों पर केवल 'क्षत्रप' ही कहा गया है (इनके सम्बन्ध में मजूमदार ने कहा है कि इन लोगों ने शक सत्ता को उसके वैध उत्तराधिकारी से छीन लिया था) के बीच सत्ता के लिए यदि झगड़ा हुआ हो तो कोई संदेह नहीं। डा० चट्टोपाध्याय ने तो कहा है कि सम्भवत: इसी अशांति के काल में रुद्रदामा द्वितीय ने सत्ता-अपहरण का प्रयास किया और कुछ काल

---

१ देखिये, मिराशी, का० इं० इं० ४, पृ० ६०५।
२ क्लासिकल एज, पृ० ४७, दि शकाज इन इंडिया, पृ० ७१।
३ वही, पृ० ४६।
+ देखिये पीछे।

तक शासन भी किया।[१] 'महाक्षत्रप' स्वामी रुद्रदामा द्वितीय के पश्चात् उसका पुत्र 'महाक्षत्रप' स्वामी रुद्रसेन तृतीय ईसवी ३४८ में शासक हुआ। किन्तु उसकी यह सफलता कुछ वर्षों के लिए ही हुई।[२] इसके चांदी के केवल शक २७० से लेकर शक २७३ तक मिले हैं। उसके बाद (पुनः नौ वर्ष बाद) ईसवी संवत् ३६० में मिलना प्रारम्भ होता है। इससे विदित होता है कि उस काल में फिर कोई राजनीतिक उथल-पुथल हुई।[3] इस राजनीतिक उथल-पुथल का वर्णन अगले अध्याय में किया जायगा।

पश्चिमोत्तर भारत के 'षाहिषाहानुषाहि' शकमुरुन्ड और सासानी

पश्चिमोत्तर भारत से तात्पर्य कश्मीर तथा उसके नीचे के समतल मैदानी भाग, रावलपिण्डी, पेशावर और सिंध के कुछ भाग से है। विवेच्य काल में उस प्रदेश पर 'दैवपुत्र षाहिषाहानुषाहि, 'शकमुरुण्ड'' एवं 'सासानियों' का शासन था। समुद्रगुप्त के इलाहाबाद प्रशस्ति-लेख से विदित होता है कि 'दैवपुत्र षाहिषाहानुषाहि, ''शकमुरुण्डों'' ने उसकी (समुद्रगुप्त) अधीनता स्वीकार कर ली थी।[४]

डा० भण्डारकर ने इन 'दैवपुत्रों' के बारे में कहा है कि ये कुषाण जाति के थे और देश से मार भगाये गये थे।[५] डा० सरकार ने भी इनको इसी रूप में माना है।[६] डाक्टर मजूमदार ने भी इनको कुशाण शासक कहा है।[७] 'शकमुरुण्डों' के संबंध में कोनो[८] और चट्टोपाध्याय[९] का ऐसा विचार है कि ये या तो शक जाति की कोई शाखा थे अथवा चीनी शब्द 'वांग' की भांति उपाधि-सूचक कोई शब्द था। डा० सरकार ने भी इसको उपाधि सूचक अर्थ

---

१ शकाज इ० इंडिया, पृ० ६०।
२ क्लासिक्ल एज, पृ० ४८।
३ वही (मजूमदार ने यह नहीं बताया है कि वह किस प्रकार की उथल-पुथल थी)।
४ देखिये, समुद्रगुप्त का लेख, पंक्ति २३-२४।
५ इं० हि० क्वा०, १, पृ० २५६।
६ सिलेक्ट इंस्क्रप्टशंस, पृ० २५८।
७ क्लासिकल एज, पृ० ५७।
८ का० इं० इं०, २, पृ० २०।
९ अर्ली हि० ना० इं, पृ० १६०।

में लिया है।[१] ये (शकमुरुण्ड) भी कुशाणों की ही भांति मार भगाये गये थे।

विवेच्य काल का इतिहास देखने से विदित होता है कि यह प्रदेश सासानियों के हाथ में चला गया था।[२] 'सासानी' अपने विजित प्रान्तों के शासन के लिए 'राज्यपाल' की नियुक्ति करते थे।[३] ये 'राज्यपाल' अपने सिक्के भी ढालते थे।[४] डाक्टर चट्टोपाध्याय ने इस 'सासानी' प्रभाव के विषय में लिखा है कि कनिष्क तृतीय की मृत्यु (१८०-२१० ईसवी) और कुशाण साम्राज्य को सासानियों द्वारा अधिकृत किये जाने के बाद हिन्दूकुश के पूर्व कुशाणों के प्रदेश के प्रशासक सँभवत: स्वतंत्र हो गये।[५] सिक्कों की प्रामाणिकता से यह विदित होता है इस प्रदेश पर सीथियन जाति की तीन शाखाएँ शासन कर रही थी।[६]

पेशावर में मिले सिक्कों की ढेरी से प्राप्त सिक्कों पर 'शाक' लेख मिलता है। डा० चट्टोपाध्याय,[७] मजूमदार[८] ओर अल्तेकर[९] के मतानुसार 'शाक' संभवत: इस आपद्काल में उस प्रदेश के स्वामी हो गये थे। सिक्कों के ही प्रमाण से पंजाब-क्षेत्र पर शासन करती हुई दो अन्य जातियों का भी पता चलता है। डा० अल्तेकर के मतानुसार ये दोनों जातियाँ—'शीलद' और 'गडहर' मध्य-पंजाब-क्षेत्र पर समुद्रगुप्त के शासन काल तक शासन

१ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० २५८, नो० १।
२ रेप्सन, इंडियन क्वायंस, पृ० ३०।
३ वही, मार्टिन, ज० रा० ए० सो० बं० ले० ३, न्यू० स०, ४७, पृ० ३३,४१।
४ क्लासिकल एज, पृ० ५३,५४।
५ कनिंघम, न्यू० क्रानिकल, १८६३-६४, पृ० १२१-२२, स्मिथ, ज० ए० सो० बं०. ६३, १८६४, पृ० १८७, स्मिथ, कैटलग, ८५ मार्टीन, ज० रा० ए० सो० बं० ले०, ३, न्यू० स० ४७, पृ० ३३, ४१, बनर्जी ज० प्रो० ए० सो० बं० ४, पृ० ८१ आगे।
६ अर्ली हि० ना० इं०, पृ० १३५।
७ क्लासिकल एज, पृ० ५३।
८ वाकाटक गुप्त एज, पृ० २०।
९ वही।

करती रहीं ।[१] डा० चट्टोपाध्याय[२] और मजूमदार इस संबंध में एक मत हैं !

चार 'शाक' प्रमुखों के अब तक सिक्के मिले हैं जिन पर निम्न नाम अंकित हैं—'स्य' अथवा 'सस्य', 'शयथ', 'सित', 'सेन' अथवा 'सेण' ।[3] 'शीलद' जाति के तीन प्रमुखों 'भद्र,' "बचणं" और 'पासन' के नाम अब तक जाने जा सके हैं ।[४] सिक्कों से दो 'गडहर' प्रमुखों के नाम का पता चलता है—'पेरय' और 'किराद' । इन 'गडहरों' के सिक्कों पर समुद्रगुप्त[५] और चन्द्रगुप्त[६] का भी नाम मिलता है जो इस तथ्य का द्योतक है कि यह प्रदेश गुप्तों के अधिकार में था ।

समुद्रगुप्त द्वारा पश्चिमोत्तर भारत की विजय के समय तक सासानियों का प्रभाव तत्त प्रदेश से उठ चुका था ।[७] साथ ही गुप्तकालीन सामग्री से भी ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता, जिससे यह स्पष्ट होता हो कि 'सासानी' 'गुप्तो' के अधीन भी रहे होगे ।

---

१ अर्ली हि० ना० इं०, पृ० १३२ ।

२ क्लासिक्ल एज, पृ० ५७. नो० ३ ।

३ वही, पृ० ५३ ।

४ वही ।

५ राखालदास बनर्जी, ज० प्रो० ए० सो० बं०, ४, पृ० ६३ आगे ।

६ स्मिथ, ज० रा० ए० सो०, १८६३, पृ० १४५ आगे ।

७ चट्टोपाध्याय, शकाज इन इंडिया. पृ० ७४ ।

दूसरा अध्याय

राजनीतिक प्रतिक्रिया का काल

(समुद्रगुप्त के दिग्विजय के पश्चात् और पुष्मित्रों के आक्रमण तक)

पिछले अध्याय में हम देख चुके हैं कि समुद्रगुप्त जिस समय दिग्विजय के लिये निकला उत्तर भारत छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था गणतंत्री व्यवस्था को माननेवाले राज्य नृपतंत्री विचारधारा से प्रभावित हो रहे थे और इस कारण उत्तर भारत महत्वाकांक्षी व्यक्तियों का अखाड़ा हो रहा[1]। महत्वाकांक्षी नृपतियों के लिये राज्य विस्तार के लिए यह अच्छा अवसर था। इस समय राज्य विस्तार की इस होड़ में 'वाकाटकों' और 'नागों' के अतरिक्त मगध में 'गुप्तवंशी' भी प्रयत्नशील थे। उत्तर भारत में नागों की शक्ति काफी बढ़ी चढ़ी थी। नागवंश में भवनाग काफी शक्तिशाली नृपति हुआ। किन्तु उसकी मृत्यु होते ही नागवंश में उत्तराधिकार के लिये लड़ाई छिड़ गई। वाकाटक नृपति रुद्रसेन प्रथम भी इस युद्ध में सम्मिलित था[2]। वह भी 'नाग' साम्राज्य के उत्तराधिकारी के लिये उम्मीदवार था[3]। इस दायाधिकार युद्ध में सम्भवतः 'नागों' की शक्ति क्षीण हो गई।

समुद्रगुप्त ने भी जो कि महत्वाकांक्षी नृपति था, लिच्छवियों' की सहायता पाकर, दिग्विजय के लिये प्रस्थान किया[4]। 'नागों' की शक्ति, जों 'गुप्तों' के लिए एक चुनौती थी, दायाधिकार-युद्ध के कारण, शिथिल पड़ गई थी। इस प्रकार गुप्त-महत्वाकांक्षाओं का प्रतिरीध करनेवाली कोई संगठित शक्ति इस समय नहीं थी। अतएव सर्वप्रथम समुद्रगुप्त ने अपने राज्य के निकट की सत्ताओं की राजनीतिक शक्ति का अपहरण किया। उसकी इस चपेट में कौन

---

१ मालवों के सिक्कों को देखने से विदित होता है कि उनमें बहुत से मालव सरदार हो गये थे कि जिन्होंने अपने नाम के सिक्के भी ढाले थे।
२ देखिये, पहला अध्याय।
३ पाटक, ज० न्यू० सो० इं०, पृ० १४० (भवनागदौहित्रस्य)।
४ देखिये, आगे।

कौन से राज्य अथवा राजा आये इसका वर्णन करने के पूर्व हम समुद्रगुप्त के पूर्वजों के संक्षिप्त इतिहास पर प्रकाश डालना चाहेंगे। समुद्रगुप्त के दिग्विजय की पृष्ठभूमि के लिए यह आवश्यक है।

समुद्रगुप्त भारतीय इतिहास के प्रसिद्ध गुप्तवंश का महान् और अग्रणी विजेता था। इस वंश का पहला नृपति श्री 'गुप्त' था[१]। उसने केवल 'महाराज' उपाधि धारण की। केवल 'महाराज' उपाधि धारण करने के कारण डा० चट्टोपाध्याय ने इसको किसी शासक के अधीन सामन्त होने की संभावना व्यक्त की[२]। किन्तु यह विवादास्पद है। अधिक संभावना यही है, जिसको मजूमदार[३] ने भी माना है, कि वह नेपाल के लिच्छवियों, कौशम्बी के मघों, भारशिवों और वाकाटकों की ही भांति, स्वतन्त्र शासक था जो 'महाराज' उपाधि धारण करते थे।

श्री 'गुप्त' के पश्चात् उसका पुत्र घटोत्कच महाराज हुआ। गुप्तवंश के राज्य का उसने विस्तार भी किया। डा० बसाक[४] और डा० चट्टोपाध्याय[५] के मतानुसार तो घटोत्कच को राज्य-विस्तार में अपने पुत्र चंद्रगुप्त से भी सहायता मिली। इस प्रकार प्रारंभिक गुप्तों में वह एक महत्वपूर्ण शासक था,[६] जिसने संभवतः अपने पुत्र की सहायता से प्रयाग, साकेत, मगध और गंगा के किनारों पर बसे प्रदेशों को जीता।[७] यही कारण है कि गुप्त अभिलेखों में घटोत्कच को इतना महत्व दिया गया। चन्द्रगुप्त द्वितीय की पुत्री' वाकाटक रानी प्रभावती गुप्ता के दो लेखों में घटोत्कच को ही गुप्त वंशतालिका में प्रथम स्थान दिया गया है।[८] उसी तरह रींवा से प्राप्त एक लेख से विदित होता है कि गुप्तवंश का प्रथम प्रतापी नृपति घटोत्-

---

१ देखिये, समुद्रगुप्त का इलाहाबाद प्रशस्ति लेख. पंक्ति २८।

२ अर्ली हि० ना० इं, पृ० १४१।

३ क्लासिकल एज०, पृ० २, वाकाटक गुप्त एज पृ० १३३।

४ हि० ना० ई० इं०, पृ० ७।

५ अर्ली० हि० ना० इं०, पृ० १३६।

६ क्लासिकल एज, पृ० ३।

७ पार्जीटर, डा० क० एज, पृ० ५३।

८ पूना ताम्रपत्र लेख, एपि० इं०. १५ पृ० ४१, रिथपुर ताम्रपत्र लेख, ज० प्रो० ए० सो० बं०, न्यू० स०, २० पृ० ५८।

कच था ।[1] इसकी पुष्टि तब और हो जाती है जब बसाढ़ से गुप्त मुद्राओं के साथ 'श्री घटोत्कच गुप्तस्य' अंकित एक मुद्रा मिलती है जिसकी शिनाख्त विद्वानों ने 'महाराज घटोत्कच 'से की है ।[2] इससे विदित होता है कि गुप्त कुल इस समय तक काफी शक्तिशाली हो चुका था और इसका विस्तार बसाढ़ तक हो चुका था ।

घटोत्कच के पश्चात् उसका पुत्र चन्द्रगुप्त प्रथम 'महाराजाधिराज' हुआ । अपने राज्य की श्रीवृद्धि एवं उसको सुदृढ़ बनाने के लिए यह आवश्यक था कि वह आस पास के किसी शक्तिशाली राज्यवंश से सम्बन्ध स्थापित करे । वैशाली के पास (सम्भवत: तराई में) उस समय लिच्छवि शासन कर रहे थे । किसी उभड़ते हुए राज्य के लिए उनसे प्रेम सम्बन्ध बनाये रखना आवश्यक था । चन्द्रगुप्त ने नीति से काम लिया और उसने लिच्छवि कन्या कुमारदेवी को अपने राज्य की महादेवी बनाया । गुप्तों के लिए यह विवाह सम्बन्ध बहुत महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ । इसीलिए उन्होंने इसके स्मारक सिक्के भी ढलवाये । समुद्रगुप्त तो अपने को 'लिच्छवि दौहित्र' कहने में गर्व का अनुभव करता था । बेशम,[3] गोखले,[4] स्मिथ,[5] रायचौधरी,[6] मजूमदार[7] आदि विद्वानों ने इससे अनुमान किया है कि 'लिच्छवियों' का मगध की राजनीति पर काफी प्रभाव था ।[8] सम्भवत: अब दोनों कुलों की देखरेख में शासन होने लगा । यदि हम यह कहें कि इस विवाह सम्बन्ध ने 'द्वैराज्य

१ देखिये गु० सं० १४१ में अभिलिखित स्कन्दगुप्त का सुपिया लेख ।

२ आर्क० सर्वे० रि०, १६०३-४, पृ० १०१, ज० रा० ए० सो०, १६०५, पृ० १५३, हि० ना० ई० इं०, पृ० ७, अर्ली हि० इं पृ० २८०, नौ० १ ।

३ वंडर दैट वाज इंडिया, पृ० ६३ ।

४ समुद्रगुप्त लाइफ एंड टाइम्स, पृ० ३६ ।

५ अर्ली० हि० इं०, पृ० २७६ ।

६ पो० हि० एं० इं०, पृ० ५३० ।

७ एंसेन्ट इंडिया, १६५२, पृ० २४१-४२ ।

८ बसाक, हि० ना० ई० इं०, पृ० ८-६, चट्टोपाध्याय, अर्ली हि० ना० इं०, पृ० १४२-४३, ज० वि० रि० सो०, ३०, ५०८, विरुद्ध मत के लिए देखिये, ज० बि० रि० सो० ४६, पृ० ११७-२०, और पाठक, ज० न्यू० सो० इं० १६ भाग २, पृ० १३५ आगे ।

शासन प्रणाली' को जन्म दिया तो असंगत न होगा।[1] डा० अल्तेकर भी इसी मत के हैं।[2]

चन्द्रगुप्त प्रथम के बाद उसका पुत्र समुद्रगुप्त मगध की गद्दी पर बैठा। इसके सिंहासनारोहण के संबंध में ऐसा कहा जाता है कि वह ईसवी संवत ३३५ के बाद ही गद्दी पर बैठा। उनके अनुसार ईसवी संवत् ३१९ में चन्द्रगुप्त का विवाह लिच्छवि कन्या कुमारदेवी से हुआ होगा और तभी से गुप्त संवत् का आरंभ हुआ। ऐसी दशा में उससे कम से कम बीस वर्ष के बाद ही समुद्रगुप्त का सिंहासनारोहण संभव प्रतीत होता है।[3]

समुद्रगुप्त व्यक्तिगत गुणों में गुप्त सम्राटों की शृंखला में अद्वितीय था। शक्ति, प्रताप और पराक्रम में उसकी समता न थी। दिग्विजय के पश्चात् अश्वमेध कर उसने उसके स्मारक में एक प्रकार के सोने के सिक्के चलाये, जिस पर मुख भाग की ओर यज्ञ का अश्व यूप के अभिमुख खड़ा है पृष्ठभाग पर सम्राज्ञी की आकृति और सम्राट् का विरुद्ध अश्वमेधो पराक्रमः खुदा है।[4]

---

१ द्वैराज्य अथवा दो राजाओं द्वारा शासित राज्य। इस प्रकार की व्यवस्था हो जाने से शताब्दियों तक संघर्ष, प्रतियोगिता तथा रक्तपात आदि से रक्षा हो सकती थी। और हम यह जानते हैं कि लिच्छवियों और मगधों में हमेशा लड़ाई छिड़ी रहती थी। अतएव इन दोनों शक्तियों ने (लिच्छवि और गुप्त) इस झगड़े से बचने के लिए यदि इस प्रकार की व्यवस्था कर ली हो तो आश्चर्य नहीं।

२ देखिये बयाना होर्ड, भूमिका, पृ० १५:

"It is clear that in spite of the growing graetness of the Guptas the licchavis insisted in maintaining their separate identity in the dual kingdom, we have not yet got a single coin of chandragupta I where the name of the licchavis clan and paincess does not appear on the reverse and obverse respectively."

३ चट्टोपाध्याय, अर्ली हि० ना० इं०, पृ० १४८।

४ एलन, कैटलग, पृ० २१।

समुद्रगुप्त का महान् कार्य उसकी दिग्विजय थी। इसके फलस्वरूप प्रयाग और मगध के बीच के गंगातटवर्ती प्रान्तों और आयोध्या के इलाके का छोटा सा राज्य फैलकर साम्राज्य हो गया। दिग्विजयी बनने के लिए उत्तर भारत की किन-किन शक्तियों से समुद्रगुप्त को लड़ाई लड़नी पड़ी और किन-किन शक्तियों ने उसकी अधीनता स्वीकार की यह उसके इलाहाबाद प्रशस्ति लेख में अंकित है। आर्यावर्त[1] के राजाओं में उसने रुद्रदेव, मतिल, नागदत्त, चन्द्र-वर्म्मा, गणपतिनाग, नागसेन, अच्युत, नन्दि बलवर्मा आदि का उन्मूलन किया था।[2] रुद्रदेव कहां का शासक था इस पर विद्वानों में मतभेद है। डा० चट्टोपाध्याय ने इसको कौशाम्बी का शासक बतलाया है।[3] सरकार ने इसका शक महाक्षत्रप रुद्रसेन तृतीय से मिलान किया है।[4] प्रोफेसर मुखर्जी ने इसका 'वाकाटक' नृपति रुद्रसेन प्रथम से सम्बन्ध स्थापित किया है।[5] उनके अनुसार यह रुद्रसेन प्रथम था जिसके अधीन बुंदिलखंड का प्रदेश भी था जो कि समुद्रगुप्त के दिग्विजय के पश्चात उसके हाथ से जाता रहा। इन प्रदेशों को ले लेने के बाद 'वाकाटकों' और 'गुप्तों' में, मुखर्जी के मतानुसार, कोई संधि हुई जिसमें उन्होंने समुद्रगुप्त की प्रभुता को स्वीकार कर लिया। समुद्रगुप्त ने भी उसके आगे वाकाटकों' के राज्य पर आक्रमण नहीं किया।[6]

किन्तु डा० सरकार[7] और डा० चट्टोपाध्याय[8] ने इसको न मानकर अपने-अपने मत का प्रतिपादन किया है। पर उपलब्ध सामग्रियों की विवेचना करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि रुद्रदेव 'शक' रुद्रसेन तृतीय अथवा अन्य कोई दूसरा रुद्र नहीं अपितु 'वाकाटक' रुद्रसेन प्रथम ही था। हम यह देख चुके हैं कि नागवंशी भवनाग की कन्या का विवाह वाकाटक कुल में हुआ

१ इं० हि० क्वा०, २५, पृ० ११० (आर्यावर्त की भौगोलिक स्थिति पर चौधरी का लेख)।
२ इलाहाबाद प्रशस्ति लेख पंक्ति २१।
३ अर्ली हि० ना० इ०, पृ० ११६।
४ इ० हि० क्वा०, १९४४, पृ० ७८-७९।
५ गुप्ता इपायर, पृ० २३।
६ वही, पृ० २३।
७ सिलेक्ट इस्क्रिप्शंस, पृ० २५७, नो० २।
८ अर्ली० हि० ना० इ०, पृ० १५६, नो० ८१।

था और इस सम्बन्ध से उत्पन्न पुत्र (लिच्छवि दौहित्र की भांति), 'भवनाग दौहित्र' कहने में अपने को गौरवान्वित समझता था।[1] वह रुद्रसेन प्रथम 'वाकाटक' था जिसके लिए श्री भवनागदौहित्रस्य प्रयुक्त हुआ था।[2] सम्भवत: वह अपने नाना भवनाग के राज्य का उत्तराधिकारी भी था, क्योंकि नाना को कोई पुत्र सन्तान नहीं थी।[3] परन्तु भवनाग के आंख मूंदते ही नागों में उत्तराधिकार के लिए झगड़ा शुरु हो गया। उसके राज्य के संभवतः तीन उम्मीदवार थे, रुद्रसेन प्रथम 'वाकाटक,' जो कि अपने को 'श्री भवनाग दौहित्रस्य' कहता था; दूसरा पद्मावती का नागसेन और तीसरा मथुरा का गणपतिनाग। मथुरा और पद्मावती पर्यन्त के प्रदेश जो कभी एक झंडे के नीचे थे इस झगड़े के कारण बिखर गये। पद्मावती में नागसेन और वेस-नगर में गणपतिनाग अलग-अलग होकर शासन करने लगे। इस काल में इस क्षेत्र से प्राप्त सिक्कों से विभुनाग का भी पता चलता है।[4] इससे स्पष्ट है कि भवनाग द्वारा स्थापित राज्य उसके आंख मूंदतेही कई भागों में विभक्त हो गये। समुद्रगुप्त के लिए यह उपयुक्त अवसर था। उसने उससे लाभ उठाया और झगड़ते हुए नागों पर चढ़ाई कर उनका राजनीतिक उन्मूलन कर दिया। इस प्रकार अभिलेख का यह रुद्रदेव 'वाकाटक' रुद्रसेन प्रथम ही रहा होगा।

प्रश्न हो सकता है कि यह रुद्रदेव रुद्रसेन तृतीय क्यों नहीं हो सकता?[5] सरकार ने तो बतलाया भी है कि समुद्रगुप्त ने शक 'महाक्षत्रप' रुद्रसेन तृतीय को पराजिव कर उससे मालवा, राजपूताना और काठियावाड़ के कुछ प्रदेशों को छीन लिया था, जिसके, संभवतः, प्रतिक्रिया-स्वरूप समुद्रगुप्त के आंख मूंदते ही गुप्त राज्य पर इन शकों का आक्रमण भी हुआ।[6] किन्तु इस क्षेत्र के इतिहास पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि शकों के हाथ से मालवा और राजपूताने का प्रदेश गणतंत्री और नृपतंत्री शक्तियों के हाथ में

१ देखिये, पहला अध्याय
२ देखिये, सि० इ०, पृ० ४१०।
३ देखिये, पाठक का लेख, ज० न्यू० सो० इ०, १६, भाग २, पृ० १४०।
४ ज० न्यू० सो० इ०, ५, पृ० २७।
५ ए० भं० ओ० रि० इं०, ४, पृ० ३०-४०।
६ प्रो० इं० हि० कां, १६४१, पृ० ७६।

पहले ही से चला गया था। मालवा में बहुत से 'मालव' सरदार उठ खड़े हुए थे जिन्होंने अपने नाम के सिक्के भी ढाले।[१] मालवा प्रदेश के एक 'शक' अधिकारी श्रीधरवर्म्मा ने भी चौथी शती के प्रारम्भ में अपने को सौराष्ट्र और उज्जयिनी की शक सत्ता से मुक्त कर लिया था। राजपूताने में 'योधेयों,' 'आर्जुनायनों' के अतिरिक्त अन्य गणजातियों का शासन था जिन्होंने विदेशी (म्लेच्छ) शासन के विरुद्ध लड़ना अपना धर्म समझ लिया था। इस प्रकार इस क्षेत्र से पहले ही से शक महाक्षत्रपों का प्रभाव उठ गया था। फिर समुद्रगुप्त ने किस रुद्रदेव (रुद्रसेन तृतीय) को पराजित किया? इस का समाधान सिर्फ एक ही है और वह यह कि रुद्रदेव अथवा रुद्रसेन जिसको समुद्रगुप्त ने पराजित किया और कोई नहीं 'वाकाटक' रुद्रसेन प्रथम ही था। डा० अल्तेकर ने कहा भी है कि समुद्रगुप्त ने 'वाकाटक' रुद्रसेन प्रथम को पराजित कर अपने पूर्व हार का बदला लिया।[२]

रायचौधरी[३], बसाक[४], सरकार[५], सालातोर[६], आदि विद्वानों ने मुद्राओं के प्राप्तिस्थान को दृष्टि में रखकर मत्तिल के राज्य की अवस्थिति उत्तरप्रदेश के बुलंदशहर के आसपास बतलाई है[७]। किन्तु मजूमदार[८], चट्टोपाध्याय[९] और भंडारकर[१०] ने इस पर संदेह व्यक्त किया है।

मत्तिल की ही भांति नागदत्त के विषय में भी इन विद्वानों ने उसके राज्य की अवस्थिति के सम्बन्ध में संदेह व्यक्त किया है। डा० अल्तेकर[११] और

---

१ देखिये, पहला अध्याय
२ वाकाटक गुप्त एज, पृ० १०३।
३ पो० हि० एं इं०, ५३४।
४ हि० ना० ई० इं पृ० २७।
५ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० २५७।
६ लाइफ इन दि गुप्त एज, पृ० १०।
७ देखिये. इं० एं०, १८, पृ० २८६।
८ क्लासिकल एज, पृ० ८।
९ अर्ली हि० ना० इ०, पृ० १५६।) इन विद्वानों ने केवल संदेह व्यक्त किया
१० इं० हि० क्वा०, १, पृ० २५४।) है, किसी निश्चित आधार को मानकर किसी निष्कर्ष पर पहुँचे नहीं।
११ वाकाटक गुप्त एज, पृ० ४०।

चट्टोपाध्याय[1] ने इनको 'नागवंशी' नृपति बतलाया है। किन्तु डा० सरकार[2] ने इस नागदत्त को पुंड्रवर्धनभुक्ति के 'दत्त'[3] कुल का पूर्वज कहा है। इस प्रकार वे बतलाना चाहते हैं कि नागदत्त पुंड्रवर्धनभुक्ति का स्वामी था, जिसने समुद्रगुप्त द्वारा पराजित होने पर उसकी सत्ता को स्वीकार कर लिया[4]। सरकार के मतको मानने से सिद्ध होता है कि समुद्रगुप्त की इस विजय से पूर्व पुंड्रवर्धन गुप्त शासकों के अधिकार में नहीं था। किन्तु पुंड्रवर्धन भुक्ति को समुद्रगुप्त के दिग्विजय करने से पूर्व ही गुप्तों के अधिकार में मानने के कारण ही सम्भवत: इन विद्वानों ने नागदत्त को 'नागवंशी' राजा कहकर पुंड्रवर्धन के अतिरिक्त किसी दूसरे स्थान का शासक बतलाया है[5]। इलाहाबाद स्तम्भ लेख के चंद्रवर्मा को विद्वानों ने सुसुनिया के चंद्रवर्मा से मिलान किया है[6]।

गणपतिनाग, नागसेन, अच्युत और नन्दि नागवंशी नृपति थे[7]। इसके राज्यांतर्गत मथुरा, नरवार, बेसनगर, पद्मावती, अहिछत्रा आदि के प्रदेश थे[8]। संभवत: इसी प्रदेश का महाराज महेश्वरनाग भी था (इसका लाहोर से एक लेख भी मिला है। किन्तु इस लेख के प्राप्ति स्थान के सम्बन्ध में

---

१ अर्ली हि० ना० इं, १५६ नो० ८३।

२ इं० हि० क्वा०, १९४४, पृ० ८१।

३ कुमारगुप्त प्रथम के काल में पुन्ड्रवर्धनभुक्ति का 'उपरिक' चिरातदत्त और बुद्धगुप्त के काल में इस प्रदेश का 'उपरिक महाराज' 'जयदत्त' और ब्रह्मदत्त थे -

४ इं० हि० क्वा०, १९४४. पृ० ८१।

५ गुप्तों की मूलभूमि और प्रारंभिक गुप्तों के राज्यविस्तार के लिये देखिये अर्ली० हि० ना० इं० पृ० १३६-४०, वाकाटक गुप्त एज, पृ० १३०, ज० बि० रि० सो०, ३७. भाग ३-४, पृ० ३८-४४, पृ० ४१० आगे इस स्थल पर मैं डा० सिन्हा के मत के सममत हूँ जिन्होने गुप्तों के मूल निवास को मगध में ही निश्चित किया है किन्तु डा० मजूमदार ने डा० सिन्हा के लेख की समालोचना के रूप में अपने लेख में (ज० बि० रि० सो० ३८, पृ० ४१० आगे) डा० सिन्हा के मत का खण्डन किया है।

६ देखिये, पहला अध्याय

७ वही।

८ वही।

संदेह व्यक्त किया जाता है[1]) फ्लीट ने लिपिशास्त्र के आधार पर इस लेख का काल चौथी शती इसवी के अन्तिम चरण में रक्खा है।

बलवर्मा के विषय में कोई विशेष ऐतिहासिक सामग्री नहीं मिलती। बनर्जी ने इसका मिलान आसाम के बलवर्मा से किया है।[2] सालातोर ने इसको मान भी लिया है।[3] किन्तु आसाम के इतिहास पर दृष्टिपात करने से बनर्जी का यह प्रतिपादन समीचीन नहीं जान पड़ता। डा० बसाक ने ठीक ही कहा है कि आसाम का बलवर्मा समुद्रवर्मा का पुत्र था और समुद्रवर्मा समुद्रगुप्त का समकालिक था। ऐसी दशा में बलवर्मा समुद्रगुप्त का समसामयिक नहीं हो सकता।[4] डा० चट्टोपाध्याय ने इस बलवर्मा को 'नागवंशी' नृपति बतलाया है।[5] उसी तरह डा० मिराशी ने इसको 'मघवंशी' बतलाया है और कहा है कि मघों का उन्मूलन कर समुद्रगुप्त ने किसी 'गाण्डुवंशी' जयबल को बघेलखण्ड क्षेत्र की सुव्यवस्था के निमित नियुक्त किया।[6] किन्तु प्रमाणों के अभाव में सत्य क्या था कहा नहीं जा सकता।

लेकिन इस बलवर्मा का वंश-निर्धारण युगशैल के 'पोणवंश' से किया जा सकता है। युगशैल 'पोणवंशियों' की राजधानी थी जो देहरादून जिले में पड़ती थी। इसके सम्बन्ध में ऐसा कहा जा सकता है कि इन लोगों ने भी उत्तर भारत से कुशाणों को मार भगाने में क्षात्र धर्म का पालन किया था। इस वंश में शीलवर्मा नामक शासक बड़ा प्रतापी हुआ था। उसने चार अश्वमेध किये थे।[7] इसका काल तीसरी शती ईसवी के अन्तिम चरण में आंका गया है। शीलवर्मा संभवतः बलवर्मा का अग्रज था। 'वर्मा' नाम-धारी शासक का उल्लेख तीसरी शती ईसवी के अन्त अथवा चतुर्थ के प्रारंभ में यदि किसी वंश में मिला है तो वह 'पोणवंश' में और 'पोणवंशियों' का राज्य समुद्रगुप्त द्वारा उन्मूलित किये गये राजाओं के राज्य से अधिक दूर

१ का० इं० इं०, ३, पृ० २८२-८४।
२ दि एज आफ इंपीरियल गुप्ताज, पृ० १३।
३ लाइफ इन गुप्त एज, पृ० १०।
४ हि० ना० ई० इं०, पृ० २९।
५ अर्ली हि० ना० इं०, पृ० १५६, नो० ८३।
६ स्टडीज इन इंडोलाजी, १, पृ० २१६।
७ इं० आर्क०, १९५३-५४, पृ० १०-११।

नहीं था। तात्पर्य यह कि समुद्रगुप्त ने 'पोणवंशियों' का भी उन्मूलन किया। इस प्रकार कहा जा सकता है कि बलवर्मा 'पोणवंशी' था।

समुद्रगुप्त ने किन्हीं 'कोत' वंशियों को भी पराजित किया था।[१] पूर्वी पंजाब और दिल्ली के पास से कुछ सिक्के भी मिले हैं जिन पर 'कोत' नाम मिलता है।[२] इसके आधार पर चट्टोपाध्याय ने यह बतलाने की चेष्टा की कि इन कोतवंशियों का शासन ऊपर गंगा की घाटी के प्रदेशों पर रहा होगा।[३] समुद्रगुप्त के लेख में इन 'कोत' लोगों के साथ 'पुष्पाह्वये' शब्द भी मिलता है जिसको कुछ लोगों ने पाटलिपुत्र से मिलान किया था। उनके कहने का तात्पर्य था कि गुप्तों के उद्भव के समय इन 'कोत' वंशियों का पाटलिपुत्र पर प्रभुत्व था।[४] किन्तु मजूमदार ने 'पुष्पाह्वये' की शिनाख्त कान्यकुब्ज से कर भ्रम को दूर कर दिया।[५]

आर्यावर्त के राजाओं का पराभव देख कर संभवत: 'आटविक राजाओं ने समुद्रगुप्त का सामना न करने में ही अपना कल्याण समझा। बिना किसी विरोध के उन्होंने उसकी अधीनता स्वीकार कर ली[६]। आटविक राज्य की अवस्थिति को मध्यभारत के डभाला और जंगली इलाकों में बतलाया गया है[७]। समुद्रगुप्त के दिग्विजय से पूर्व इस प्रदेश के शासक वाकाटक थे। रायचौधरी ने वाकाटकों के अधीन 'व्याघ्रदेव' को इस प्रदेश का शासक बतलाया है[८]। प्राचीन जसो राज्य और प्राचीन अजयगढ़ राज्य से इसके अभिलेख भी मिले हैं (का० इं० इं०, नं० ५३-५४, एपि० इं०, १७ पृ० १२-१४, ३६२)। इन लेखों को पढ़ने से स्पष्ट मालूम होता है कि वाकाटक नृपति पृथिवीषेण उनका स्वामी था। 'व्याघ्रदेव' किस वंश का

१ समुद्रगुप्त का इलाहाबाद प्रशस्ति लेख, पंक्ति १४।
२ स्मिथ कैटलाग, पृ० २५८।
३ अर्ली हि० ना० इं०, पृ० १५२, पो० हि० ए० इं०, पृ० ५३७
४ पो० हि० ए० इं०, पृ० ५३७, नो० १।
५ वाकाटक गुप्त एज, पृ० १४०।
६ इलाहाबाद अभिलेख, पंक्ति २१।
७ पो० हि० ए० इं०, पृ० ५२८।
८ वही, पृ० ५४१।

था, यह विदित नहीं हो सका है। प्रमाणों के अभाव में केवल अनुमान द्वारा वंश निर्धारण करना दुस्साहस होगा। डा० रायचौधरी ने 'व्याघ्रदेव' को महाकान्तार के 'व्याघ्र' राज्य के परीक्षित किया है[३]। भंडारकर ने इसको उच्चकल्पवंशी जयनाथ का पिता 'व्याघ्र' बतलाया है[४]। किन्तु भंडारकर के मत को नहीं माना जा सकता। उच्चकल्पवंशियों का जो सबसे पहला लेख मिला हैं वह महाराज जयनाथ का १७४ गु० संवत् में अभिलिखित है। इसी वंश के गु० सं० १९३ में लिखे लेख से विदित होता है कि 'व्याघ्र' सर्वनाथ का पितामह था। यदि महाराज सर्वनाथ के शासन-काल के आरंभिक वर्ष को ५०० ईसवी ही स्वीकार किया जाय और प्रत्येक शासक को कम से कम २५ वर्ष शासन के लिये भी निर्धारित मान लिया जाय तो 'व्याघ्र' का काल ४५० ईसवी निर्धारित होता है। इस प्रकार भंडारकर का मत अपने आप खंडित हो जाता है।

अब देखना यह है कि रायचौधरी अपने मत के प्रतिपादन में कहां तक सफल हुए है। रायचौधरी ने 'व्याघ्रदेव' की महाकांतार के नृपति 'व्याघ्रराज' से पहचान की है। महाकांतार की अवस्थिति उड़ीसा के गंजाम और विजगापट्टम के झारखंड प्रदेश में बतलायी गयी है[१]।

किन्तु चट्टोपाध्याय एवं अन्य विद्वानों ने महाकांतार प्रदेश को उड़ीसा के जैपुर जंगल में बतलाया है[२]। डभाला और उड़ीसा के जंगल (जैपुर) के बीच सैकड़ों मील का अंतर है। डभाला की शिनाख्त जबलपुर से की गई है। ऐसी स्थिति में, डभाला प्रदेश के 'व्याघ्रदेव' को और जैपुर के जंगलों में रहनेवाले 'व्याघ्रराज' को एक नहीं माना जा सकता। अतएव इनका वंश निर्धारण करना सम्भव नहीं।

इन राज्यों से अपनी अधीनता स्वीकार करा कर समुद्रगुप्त प्रत्यंत राज्यों और गणराज्यों की ओर मुड़ा। ये प्रत्यंत राज्य निम्नलिखित थे—समतट, डवाक, कामरूप, नेपाल और कर्तृपुर। समुद्रगुप्त की दिग्विजय से प्रत्यंत

३ वही, पृ० ५४३।
४ इं० हि० क्वा०, १, पृ० २५१।
१ इं० हि० क्वा०, १ पृ० ६८४।
२ अर्ली हि० ना० इं०, पृ० १५३ ज० आ० हि० रि० सो०, १, पृ० २२८।

नृपतियों पर ऐसा आतंक छा गया था कि वे अपने आप उस 'प्रचंडशासन और यशस्वी गुप्त सम्राट् को सब प्रकार के कर प्रदान करने लगे तथा उसकी आज्ञाओं के पालन में निरत रहने लगे[१]। समुद्रगुप्त के प्रति उनका आचरण सर्वथा सामन्त नृपतियों जैसा था। उसके समीप उपस्थित हो उसे सब प्रकार से सन्तुष्ट करना उनका इष्ट कर्तव्य हो गया[२]।

नीचे हम इन प्रत्यंत-नृपतियों की अवस्थिति का संक्षेप में विश्लेषण कर रहे हैं—

(१) समतट—

सरकार,[३] मजूमदार,[४] रायचौधरी[५] आदि विद्वानों ने इस प्रदेश को दक्षिण पूर्वी बंगाल में, कामरूप के दक्षिण, कर्णसुवर्ण (मुर्शिदाबाद जिला) के दक्षिण पूर्व और ताम्रलिप्त (मिदनापुर जिला) के पूर्व में अवस्थित बतलाया है।[६]

(२) डवाक—

इस प्रदेश की अवस्थिति का अबतक सही निर्देश नहीं किया गया है। फ्लीट[७] के अनुसार यह ढाका का प्राचीन नाम था। स्मिथ[८] इसको उत्तरी बंगाल में, बोगड़ा, दिनाजपुर और राजशाही के पास बतलाते हैं। भट्टसलि[९] ने इसे आसाम-नवगाँव जिलांतर्गत वर्तमान 'ढबोक' से परीक्षित किया है।

---

१ "सर्वकरदानाज्ञाकरणप्रणामागमनपरितोषितप्रचण्डशासनस्म"–समुद्रगुप्त, प्रयाग स्तम्भ लेख।

२ प्रयाग प्रशस्ति–हरिषेण।

३ सिलेक्ट इस्क्रप्शंस, पृ० २५८, नो० १।

४ क्लासिक्ल एज, पृ० ८।

५ पो० हि० ए० इं०, पृ० ५४३।

६ सेन, सम हिस्टारिकल आसपेक्टस आफ दि इंस्क्रप्शंस आफ बंगाल, पृ० ६१।

७ का० इं० इं०, पृ० ६।

८ अर्ली० हि० इं०, पृ० २८५।

९ भारतवर्ष, बं० स० १३४८, पृ० ६०।

सरकार और मजूमदार ने भी इसी को माना है।[१] इस प्रकार यह प्रदेश कोपिली-जमुना और कोलांग नदियों की घाटी में बसी थी।[२]

(३) कामरूप—(आसाम का गौहाटी प्रदेश)[३]

इस प्रदेश पर समुद्रगुप्त के काल में 'वर्मा' नामधारी राजा शासन कर रहे थे। इस वंश का पुष्यवर्मा समुद्रगुप्त का समकालिक बतलाया गया है। किन्तु इस विषय पर विद्वानों में मतभेद है। बरुआ,[४] भट्टाचार्य,[५] चौधरी[६] आदि विद्वानों का जहाँ एक मत है वहाँ भट्टसलि[७] का दूसरा। बरुआ, भट्टाचार्य और चौधरी के विचारानुसार समुद्रगुप्त का समकालीन पुष्यवर्मा था जिसने संभवत: अपने अधिपति को प्रसन्न करने के लिए अपने पुत्र और पुत्रवधू का नाम अपने अधिपति और उसकी रानी के नाम पर समुद्रवर्मा और दत्तदेवी रखा। किन्तु भट्टसलि पुष्यवर्मा को समुद्रगुप्त का समकालीन नहीं मानते अपितु उसके पिता चन्द्रगुप्त का समकालीन बतलाया है जिसने अपना प्रेम प्रदर्शित करने के लिए अपने मित्र (चन्द्रगुप्त) के पुत्र और पुत्रवधू के नाम पर अपने पुत्र और पुत्रवधू का नामकरण किया। अपने पक्ष की पुष्टि में भट्टसलि का यह तर्क है कि कोई अधिपति अपने और अपनी रानी के नाम की स्वीकृति किसी अधीन शासक को उसके पुत्र और पुत्रवधू को रखने की नहीं दे सकता।[८] भट्टसलि के इस कथन पर जब हम विचार करते हैं तब यह नहीं सोच पाते कि चन्द्रगुप्त प्रथम के राज्य का विस्तार कामरूप तक हो चुका था अथवा उसका प्रभाव इतनी दूर तक पहुँच गया था जिससे वहाँ का शासक उसकी मित्रता का इच्छुक था। कामरूप को गुप्तों के प्रभाव क्षेत्र में सर्वप्रथम हम समुद्रगुप्त के ही काल में पाते हैं।

१ ज० आ० रि सो० १, पृ० १४-१५, १२४; ५, पृ० १५, ५७।
२ सिलेक्ट इंस्क्रुपशंस, पृ० २५८, नो० १, वाकाटक गुप्त एज, पृ० १४२।
३ सरकार, वही पृ० २५८।
४ देखिये, अर्ली हि० कामरूप।
५ कामरूप शासनावली, भूमिका, पृ० १३।
६ अर्ली हिस्ट्री आफ आसाम, पृ० ११६।
७ इ० हि० क्वा० २१।
८ वही।

अतएव समुद्रगुप्त का समकालीन पुष्यवर्मा था जिसने अपने अधिपति और उसकी रानी के नाम पर अपने पुत्र और पुत्रवधू का नाम रखा।[1] और कामरूप के शासकों ने गुप्तों की अधीनता तबतक स्वीकार की जब तक गुप्तों में अधीन शासकों को अधिकार में रखने की शक्ति रही।[2] अर्थात् पाँचवीं शती के अंतिम चरण तक कामरूप के शासक गुप्तों की अधीनता में थे।

(४) नेपाल—

आधुनिक नेपाल, भारत का सीमावर्ती देश। विवेच्य काल में यहाँ पर लिच्छवियों का शासन था।[3]

(५) कर्तृपुर—

विद्वानों में इसकी अवस्थिति को लेकर मतभेद है।[4] सरकार,[5] मजूमदार,[6] रायचौधरी[7] आदि ने इसकी पहचान कुमाऊँ, गढ़वाल और रूहेलखण्ड क्षेत्र से की है। कुमाऊँ के 'कतुरियाराज' का संभवतः इससे कुछ सम्बन्ध रहा हो। कुछ के मतानुसार 'कर्तृपुर' जलन्धर जिले का 'करतारपुर' है। परन्तु इस मत को स्वीकार करना कठिन है। प्रत्यन्त राज्य के जितने राज्यों का विवरण समुद्रगुप्त के प्रशस्ति लेख में मिलता है वे सभी सीमान्त के हैं और ऊपर बताये गये शेष अभी राज्य पूर्वी और उत्तरी सीमाओं पर स्थित हैं। इसलिए कर्तृपुर को हिमालय-क्षेत्र स्थित, कुमाऊँ, गढ़वाला मानना ही होगा। पावेल प्राइस के विचारानुसार कुमाऊँ और गढ़वाल का 'कतुरिया' और 'कत्यूर राज' 'कुणिन्दों' और 'कत्यूरों' से कुछ सम्बन्ध बतलाता है।[8]

---

१ इ० हि० क्वा० २१, पृ० १४२।
२ देखिये, अर्ली हि० कमरूप वही, पृ० २३।
३ देखिये आगे, 'नेपाल के लिच्छवि'।
४ विभिन्न मतों के लिये देखिये एपि० इ०, १३, पृ० ११४, ज० रा० सो० १८९२, पृ० १६८, इ० हि०, क्वा० १, पृ० २५७, स्मिथ, अर्ली हि० इ०, पृ० २८५. नो० २, ज० इ० हि० १४, पृ० ३०।
५ सिलेक्ट स्क्रप्शंस, पृ० २५८, नो० १।
६ वाकाटक गुप्त एज, पृ० १४२।
७ पो० हि० एं० इ०, पृ० ५४४।
८ ज० यू० पी० हि० रि० सो०, १९४५, पृ० २१७ आगे।

उत्तर भारत के गणराज्यों ने समुद्रगुप्त की शक्ति और शौर्य के सामने झुक जाना ही उचित समझा। इलाहाबाद प्रशस्ति-लेख से ऐसे नौ गण-राज्यों का पता चलता है।[१] पंजाब, राजपूताना और मध्यभारत इनके मुख्य स्थान थे। अल्तेकर ने इनके सम्बन्ध में ठीक ही कहा है कि इन स्थानों के गणराज्यों ने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर ली थी, किन्तु वे अपने आन्तरिक प्रशासन में स्वतन्त्र थे और लगभग पाँचवी शती ईसवी के पूर्वार्द्ध तक उनकी यही स्थिति बनी रही।[२] 'यौधेय लगभग ३८० ईसवी तक स्वतन्त्र स्थिति में बने रहे। इस काल तक उनके सिक्के भी मिले हैं।[३] किन्तु मालवों के सिक्के इस काल तक नहीं मिल सके हैं।[४]

समुद्रगुप्त के लेख से यह भी विदित होता है कि 'उसने अनेक भ्रष्ट राज्यों में राजवंशों की स्थापना की थी।[५] ऐसे राज्यों में जहाँ उसने किसी राजवंश की स्थापना की थी संभवतः उसमें 'मालव' गणराज्य भी था। सिक्कों से भी पता चलता है कि इस गण में बहुत से मालव प्रमुख उठ खड़े हुए थे जिनमें एकता का सर्वथा अभाव था। अन्ततोगत्वा समुद्रगुप्त की अधीनता उन्होंने स्वीकार कर ली। समुद्रगुप्त ने भी दशपुर में शासन की सुव्यवस्था के लिए वहाँ पर 'वर्मा' वंश की स्थापना की। नरवर्मा के मालव संवत् ४६१ में अभिलिखित मन्दसोर प्रस्तर लेख को देखने से ज्ञात होता है कि नरवर्मा का पूर्वज जयवर्मा था † जो समुद्रगुप्त का समकालिक था।

---

१ इलाहाबाद लेख. पक्ति २२।

२ वाकाटक गुप्त एज, पृ० ३२-३३।

३ वही, पृ० ३२।

४ देखिये, पहला अध्याय।

५ इलाहाबाद लेख, पक्ति, २३।

† नरवर्मा के शासन का प्रारम्भिक वर्ष यदि ४०० ईसवी मान लिया जाय—यदि प्रत्येक शासन के शासन काल को कम से कम पच्चीस वर्ष मान लिया जाय—तो जयवर्मा का काल ३५०-७५ ईसवी के लगभग निर्धारित होता है।

समुद्रगुप्त की विजयों की पुष्टि उसके सिक्के भी करते हैं।[१] इस तथ्य पर मजूमदार[२] रायचौधरी[२क] और चट्टोपाध्याय[३] तीनों एकमत हैं। डा० चट्टोपाध्याय ने उसके गरुड़ चित्रांकित सिक्कों के प्रकार का यह अर्थ किया है कि ये उसके द्वारा नागों पर विजय के स्मारक स्वरूप थे।[४]

'व्याघ्रनिहंता' और 'मकरवाहिनी गंगा 'प्रकार के सम्बन्ध में रायचौधरी ने कहा है कि ये सम्भवत: उसके गंगाघाटी में रहनेवाले एवं बुंदेलखण्ड और महाकाँतार के 'व्याघ्र' नामक राजाओं को हराने के स्मारक स्वरूप ढाले गये थे[५]। समुद्रगुप्त के सम्बन्ध में ऐसा भी वर्णन मिलता है कि उसने 'विक्रमांक' उपाधि धारण की[६]। उसके एक प्रकार के सिक्के पर 'श्री विक्रम' विरुद भी मिलता है[७]। इस प्रकार सिक्कों के संबंध में डिस्काल्कर का विचार है कि यह विरुद गलती से समुद्रगुप्त के सिक्के पर छप गया[८क]। अपने मत की पुष्टि लिए उन्होंने इस विरुद के समुद्रगुप्त द्वारा प्रयोग करने के सम्बन्ध में एक संभावना का खंडन भी किया है। किन्तु जिस संभावना का उन्होंने खण्डन किया है वही हमारे विचारानुसार पुष्ट दिखलाई पड़ता है।

यह विरुद उसने उस समय धारण की जब सांची और एरण प्रदेश पर शासन करते हुए संभवत: 'शक' श्रीधर वर्मा के उत्तराधिकारियों को परास्त किया और एरण कोअपने प्रचंड शासन कागढ़ बनावया[९]। उसके इसविरुद कोधारण

---

१ मुखर्जी, ज० न्यू०, सो० इं० ५, पृ० १५१-१५२

२ क्लासिकल एज, पृ० १५

२क पो० हि० एं० इं०, पृ० ५५०-५१।

३ अर्ली हि० ना० इ०, पृ० १६३-६४।

४ वही, पृ० १६३।

५ पो० हि० एं० इं०, पृ० ५५१, देखिये पीछे।

६ क्लासिकल एज, पृ० १५, पो० हि० एं० ईं०' पृ० ५५१।

७ ज० न्यू० सो० इं०, ५, पृ० १३६।

८ वही, पृ० १३७।

९ सिलेक्ट इन्स्क्रप्शन्स, पृ० २६०-६२।

करने का शकों पर बहुत व्यापक प्रभाव पड़ा होगा †। इस संदर्भ में यदि हम सोचे तो पश्चिमी भारत के शकों के इतिहास पर भी कुछ प्रकाश पड़ेगा। पश्चिमी भारत के शक 'महाक्षत्रपों' के सिक्कों को देखने से विदित होता है कि रुद्रसेन तृतीय के सिक्कों का, ईसवी सन् ३५१ से ३६० तक, मिलना बन्द हो गया था। किन्तु वे पुनः ई० ३६० से मिलने लगे थे। इस सम्बन्ध में हम यही कहेंगे कि समुद्रगुप्त के विक्रमांक विरुद से भयभीत होकर वे अव्यस्थित हो गये थे और प्रायः अपनी निधियों को गाड़कर भाग जाया करते थे। निधियों को गाड़कर भाग जाने के सम्बन्ध में अल्तकर का 'बमनाला निधि' के सम्बन्ध में सम्पादकीय टिप्पणि पठनीय है।[1] यह 'विक्रमांक' विरुद्ध ५७ ई० पू० के संभवतः उस विक्रमादित्य की याद दिलाता है जिसने शकों को कभी पराजित कर उज्जैनी को मुक्त किया था।[2]

समुद्रगुप्त की शक्ति और गौरव को इन दिग्विजयों ने बहुत ऊपर उठाया। कोई असम्भव नहीं कि इन विजयों से उत्साहित होकर उसने 'लिच्छवियों' को वह महत्व न दिया हो जो 'द्वैराज्य शासन व्यवस्था' होने के नाते देना चाहिए था। लिच्छवि इसको अपमान समझ, विद्रोही हो गये हों तो कोई आश्चर्य नहीं। इनके विद्रोही हो जाने के कारण ही समुद्रगुप्त ने संभवतः इनका भी तराई क्षेत्र से उन्मूलन कर दिया। इस सम्बन्ध में स्वभावतः

---

† इस 'विक्रमांक' विरुद से शक संभवतः वैसे ही भयभीत हुए होंगे जैसे द्वितीय महायुद्ध के काल में नाजियों के स्वास्तिक से यहूदी भयभीत होते थे और अपने जानमाल की सुरक्षा के उपाय सोचने लगते थे।

१ ज० न्यू० सो० इं०, ५, पृ० १३६, नो० १

(This hoard may be buried in the time of Kumargupta I on account of some imminent danger. The danger was obviously the one created by the revolt of the Pushyamitras which had shaken the Gupta empire almost to its foundations. The pushyamitras were probably a power in Central India in the upper reaches ... ... on the Narmada to bury their treasures.)

२ क्लासिकल एज, पृ० १५।

जिज्ञासा हो सकती है कि, यदि 'लिच्छवियों' का उन्मूलन कर दिया गया था तो गुप्त अभिलेखों में समुद्रगुप्त के लिए 'लिच्छवि दौहित्र' का प्रयोग क्यों किया जाता रहा ? इस सम्बन्ध में यही कहना समीचीन लगता है कि 'लिच्छवियों' में उस समय सम्भवत: दो दल हो गये । एक ने समुद्रगुप्त का समर्थन किया और और दूसरे ने उसका विरोध । इससे मिलती-जुलती एक घटना 'नागो' में भी घटी थी । रुद्रसेन, जो 'वाकाटक' नृपति था, भवनाग का दौहित्र था । भवनाग के संभवत: कोई पुत्र संतान न होने के कारण वह 'नाग' साम्राज्य का उत्तराधिकारी भी था । किन्तु 'नाग' साम्राज्य भवनाग की मृत्यु होने ही के कारण विभक्त हो गया । लेकिन रुद्रसेन को हम 'भवनाग दौहित्रस्य' कहते हुए पाते हैं । अर्थात् नागों का एक दल विशेष रुद्रसेन के साथ था । नागों 'से' वाकाटकों 'का अच्छा सम्बन्ध देखकर ही कालान्तर में चन्द्रगुप्त 'विक्रमादित्य' ने नाग रानी कुवेरनागा से उत्पन्न अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह 'वाकाटकों' में किया । इस घटना को दृष्टि में रखते हुए समुद्रगुप्त द्वारा 'लिच्छवि दौहित्र' का प्रयोग किये जाने पर यदि हम विचार करें तो इसी निष्कर्ष पर पहुचेगे कि 'लिच्छवियों' का एक दल हमेशा समुद्रगुप्त के साथ रहा, जिसे 'गुप्तों' ने संभवतः आत्मसात कर लिया। यही कारण है कि गुप्त अभिलेखों में समुद्रगुप्त के लिए लिच्छवि दौहित्र 'का प्रयोग होता रहा । किन्तु दूसरा दल विद्रोही था । लेकिन समुद्रगुप्त के पराक्रम के समक्ष टिक न सका । वह दल सम्भवत: नेपाल भाग गया और उसने समुद्रगुप्त की अधीनता स्वीकार कर ली ।

किन्तु सिनहा और अन्य विद्वान् एसा मानते हैं कि 'लिच्छवियों' को गुप्तों ने आत्मसात कर लिया था । अपने विचार की पुष्टि के लिए वे 'मौखरि' और 'वर्धन' राजवंशों में वैवाहिक सम्बन्ध का उदाहरण देते हैं ।[1] 'वर्धन' कुल की राजकुमारी राजश्री का 'मौखरि' कुल के ग्रहवर्मा से विवाह हुआ था । परवर्ती गुप्त शासक, देवगुप्त द्वारा ग्रहवर्मा की हत्या कर दिये जाने के बाद जिस प्रकार कन्नौज और थानेश्वर का राज्य एक हो गया उसी प्रकार इनके अनुसार 'लिच्छवियों' का राज्य भी गुप्त राज्य में सम्मिलित

१ डा० सिनहा, डि० कि० म०, भूमिका, पृ० २६ ।

कर लिया गया होगा ।[१] किन्तु यहाँ की परिस्थिति भिन्न थी । अतएव यह मत ग्राह्य नहीं प्रतीत होता ।[२]

'लिच्छवियों के विरोधात्मक कार्यो से असन्तुष्ट होकर समुद्रगुप्त ने उसके दमन के लिए सेना भेजी जिसने उनका नेपाल तक पीछा किया । यह मैंने इस अधार पर कहा कि 'तराई के लिच्छवि, जिनसे गुप्तों का वैवाहिक संम्बध था, नेपाल के ही 'लिच्छवियों' की शाखा थे,[३] जिसका निर्देश हमने प्रसंगानुकुल ऊपर किया है । नेपाल समुद्रगुप्त के प्रभाव क्षेत्र में था ऐसा विवरण उसके इलाहाबाद स्तम्भ लेख से भी मिलता है ।[४]

समुद्रगुप्त की मृत्यु होते ही गुप्त साम्राज्य कुछ काल के लिए अस्त—व्यस्त हो गया । वे राज्य जिनको कि उसने अपने सुगठित शासन के अधीन किया था अथवा जिनका उसने उन्मूलन कर दिया था गुप्तों के विरुद्ध विद्रोह की भावना से प्रेरित प्रेहोकर संगठित होने लगे थे । बंगाल में विद्रोही राजाओं का संघ (कनफेडरेसी) भी बन चुका था । इस प्रकार चतुर्दिक असंतुष्ट भावना के समवेत विद्रोह का विस्फोट सर्वप्रथम मालवा में हुआ । इस प्रदेश का शासक रामगुप्त था ।[५] इसी प्रदेश के सम्भवत: शक श्रीधरवर्मा के उतराधिकारियों का भी दमन समुद्रगुप्त ने किया था जिनका शासन सांची

---

२ वही ।

३ डा० पाठक (प्रा० भा० इं० सं० पु०, का० वि०) का भी ऐसा ही विचार है ।

१ देखिये, पहला अध्याय

२ इलाहाबाद लेख, पंक्ति, २२ ।
मेहरौली लौह स्तम्भ, पंक्ति १ (शत्रुन्समेत्यागतान्वंगेष्वाह) ।

३ ज० बि० रि०सो०स०, ३७, भाग, २-३, पृ० ३६-४७ (अनुश्रुगति के रामगुप्त के सन्दर्भों के लिए) , चट्टोपाध्याय, अर्ली हि० ना० ई०, पृ० १६६ सरकार (एपि० इं०, ३३, पृ० ९५-६ , ज० न्यू० सो० इ०, २४,५ ने इसको स्थानीय शासक कहा है । किन्तु वाजपेयी ने सिक्कों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि वह कोई स्थानीय शासक नही बल्कि उस प्रदेश का गुप्तबंशी प्रशासक था (न्यू० सो० इ०, गौल्डेन, जुबली , अंक, १९६१, पृ० ३४०-४४) अल्तेकर भी, बयाना होर्ड भूमिका, पृ० २३ ।

से लेकर एरण के बीच के प्रदेशों में पर था ।[1] इन शकों गुप्तों के विरुद्ध घृणा और असंतोष की भावना का होना स्वाभाविक था । इस भावना से प्रेरित होकर यदि शकों ने गुप्तों का अपमान किया तो आश्चर्य नहीं । उज्जयिना में भी समुद्रगुप्त द्वारा स्थापित दशपुर के 'वर्मा' शासकों के विरुद्ध जिष्णु [2] उठ खड़ा हुआ । इस प्रकार समुद्रगुप्त की मृत्यु होते ही और चन्द्रगुप्त द्वितीय के सिंहासनारोहण के काल तक उत्तर भारत की राजनीतिक स्थिति असंतोष और विद्रोह कीं परीधि में घुम रही थी । इन सबका सामना करने के लिए समुद्रगुप्त के समान सुदृढ़ और पौरुष वाले व्यक्ति की आवश्यकता थी, जो निश्चित आत्मबल और नीतिगत मस्तिष्क के साथ समुद्रगुप्त के पदचिह्नों पर चल सकने की सामर्थ रखता रहा हो। नि:संदेह चन्द्रगुप्त द्वितीय ही इस पद से लिए सर्वथा उपयुक्त था । इसलिए उसका चुनाव भी हुआ ।[3]

चन्द्रगुप्त के सिंहासनारोहण का काल उसके मथुरा स्तम्भ से विदित होता है । यह लेख उसके शासन के पांचवें वर्ष में और गुप्त संवत के अनुसार ६१वें वर्ष में लिखा गया था [4]। संभावित खतरे को समझ कर ही वह मथुरा गया होगा और संभवत: वाकाटको की बढ़ती हुई शक्ति पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए ही उसने नागपत्नी कुबेरनागा से उत्पन्न पुत्री प्रभावतीगुप्ता

---

१ शकश्रीधरवर्माका उसके शासन के तेरहवे वर्ष में अभिलिखित एक लेख सांची से और दूसरा एरण प्रदेश से उसके शासन के २७वें वर्ष का मिला है। एरण प्रदेश को समुद्रगुप्त ने स्वभोगनगर बना लिया था (सलेक्ट इंस्क्रृष्शंस, पृ० २६२।

२ ज० न्यू० सो० इं०, १३,२, पृ० १६२ (लेखक ने लिपिशास्त्र के आधार पर इसकी तिथि गुप्तकाल में निर्धारित की और कहा है कि इसके सिक्के मालव और नाग सिकों की अनुकृति थे)

३ अभिलेखों 'तत्परिगृहीत' शब्द का प्रयोग चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिए हुआ है जिसका तात्पर्य है कि वह अपने पिता द्वारा चुना गया। (देखिये सिलेक्ट इंस्क्रृप्शंस, पृ० ३१३)।

४ सिलेक्ट इंस्क्रृप्शंस, पृ० २६९-७१।

का विवाह वाकाटक नृपति पृथिवीषेण प्रथम के पुत्र रुद्रसेन से किया ।[१] इस विवह से तीनों वंश एक सूत्र में बंध गये । इससे वाकाटकों और नागों की ओर से गुप्तों को राहत मिली । इसके पश्चात् वह मालवा गया जहाँ संभवत: शक और मालव (जिष्णु) शांति और सुव्यवस्था के लिये बाधक सद्ध हो रहे थे । शकों के साथ युद्ध के दौरान में भिलसा और एरण प्रदेश का प्रशासक रामगुप्त[२] मारा गया । इस बार शकों की गुप्तों से कड़ी मुठभेड़ थी । उममें चन्द्रगुप्त ने सनका संभवत: उन्मूलन कर दिया । परिणामस्वरुप प्रदेश पर फिर से कभी शकों की सत्ता का पता नहीं चलता । शकों की इस पराजय ने सम्भतः जिष्णु को आत्मसमर्पण के लिये बाध्य किया । यहीं कारण है कि इसके पश्चात् उसकी राजनीतिक सत्ता का पता हमें नहीं लगा ।

मध्यप्रदेश की इन विघटकारी तत्वों का दमन कर चन्द्रगुप्त बंगाल की ओर बढ़ा, जहाँ के शासक संघ बनाकर गुप्त-शासन को उखाड़ फेकना चाहते थे ।[३] चन्द्रगुप्त द्वारा बंगाल विजय का एकमात्र प्रमाण मेहरौली लौह स्तम्भ लेख है ।[४] किन्तु इसके लेखक के सम्बन्ध में विवाद है । अतएव जबतक यह

---

१ वही. पृ० ४१६ श्री चन्द्रगुप्तस्य दुहिता धारण सगोत्रा नागकुलोत्पन्नायां कुवेरनागदेव्यामुत्पन्ना उभय कुलालंकारसुता वाकाटकानां महाराज श्री रुद्रसेनस्य अग्रमहिषी – – श्री महादेवी प्रभावती गुप्ता – – ।

२ ज० न्जु० सो०, गोल्डेन जुबली वाल्यूम, १९६१, पृ० ३४०–४१, रामगुप्त के बारे में विस्तृत जानकरी के लिए देखिये जयप्रकाशसिंह का लेख, ज०न्यू०सो० इं०, २५, पृ० १६५ आगे (जयप्रकशसिंह ने भी इसको स्था नीय शासक बतलाया है,) कुछ विद्वानों ने सिक्के के लिपिशास्त्रीय अध्ययन के आधार पर इसके काल को पाँचवी शती ईसवी के अन्तिम चरण में रखा है । लेकिन रामगुप्त को पांचवी सती के अन्तिम चरण में रखा नहीं जा सकता । क्योंकि इस काल में एरण पर बुधगुप्त और मातृविष्णु का शासन था और उसके पश्चात तोरमाण और धन्यविष्णु उस प्रदेश के शासक हुए । अतएव रामगुप्त का काल ४थी शती में ही रखा जा सकेगा ।

३ क्लासिक्ल एज, पृ० २० ।

४ सिलेक्ट इस्क्रुष्शंस, पृ० २७५-७७ ।

निर्धारित नहीं हो जाता कि मेहरौली लौह स्तम्भ का लेखक कौन था तब तक चन्द्रगुप्त के बंगाल विजय के बारे में कुछ कहना युक्तिसंगत न होगा।

मेहरौली लौह स्तम्भ पर किसी वंश के 'चन्द्र' नामक राजा की विजयों का वर्णन हुआ है। 'यह चन्द्र' कौन हो सकता है इस पर विद्वानों ने भिन्न-भिन्न अटकलबाजियाँ की हैं। बसाक और फ्लीट ने 'चन्द्र' को चन्द्रगुप्त प्रथम माना है, हरप्रसाद शास्त्री ने उसे बंगाल के सुसुनियावाले लेख का पोखरणराज चन्द्रवर्मा माना है, रायचौधरी उसे नागवंशी 'चन्द्र' अथवा 'चन्द्रांश' मानते हैं, उसी तरह मजूमदार ने इस 'चन्द्र' का कनिष्क प्रथम से मिलान किया है। विद्वानों के इन मतों का विस्तृत विवेचन श्री गोवर्धन राय शर्मा ने किया है।[1] इस विवेचन के पश्चात् वे इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि यह 'चन्द्र', चन्द्रगुप्त द्वितीय के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता।[2] 'आर० सी० कर' भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं।[3] और आज प्रायः सभी विद्वान् इसी मत के पोषक हैं कि मेहरौली लौह स्तम्भ का 'चन्द्र' चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' ही रहा होगा। इन विद्वानों के ऐसा सोचने के कई कारण हैं। पहला कारण जो वे बतलाते हैं, वह इसकी लिपि से सम्बन्धित है। लिपि-विशेषज्ञों ने इस लेख को गुप्त लिपि में अंकित बतलाया है। दूसरा कारण 'चन्द्र' के दिग्विजय से सम्बन्धित है।

जहाँ तक इन विद्वानों का पहला तर्क है, इसको हम मुख्य कारण के रूप में नहीं ले सकते क्योंकि लिपि के आधार को विश्वसनीय नहीं कहा जा सकता। यदि ऐसा होता तो 'मघों' का काल भी गुप्तकाल में हमें निर्धारित करना पड़ता और कनिष्क के वर्ष १४ में अंकित लेख को भी तब गुप्तकाल ही में रखना पड़ता[4] जो कि हास्यास्पद होता। हाँ, मेहरौली स्तम्भ पर उत्कीर्ण लिपि गुप्तकालीन प्रचलित लिपि से मेल खाती है, केवल कहा जा सकता है, कारण नहीं माना जा सकता है। अतएव इस 'चन्द्र' को चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' सिद्ध करने के लिये जो शेष रह जाता है वह है उसकी

---

१ इ० हि० क्वा०, १५, पृ० १०५-१५।

२ वही।

३ वही, २६ पृ० १८४-८२।

४ देखिये, पहला अध्याय।

दिग्विजय। 'चन्द्र' के दिग्विजय का वर्णन करते हुए श्री गोवर्धनराय शर्मा ने उन सभी प्रस्तावित राजाओं का खंडन कर दिया है, जिसे अन्य विद्वान् इस 'चन्द्र' से मिलान करते हैं, और कहा है कि इस 'चन्द्र' के समीकरण की सबसे अधिक सम्भावना चन्द्रगुप्त द्वितीय से ही है।[1] बंगाल जीतना उसका अन्य प्रमाणों से सिद्ध है फिर शकों को पराजित करने से प्रचलित अनुश्रुति का उसे 'शकारि' कहना, उसके शक संहार को ध्वनित करता है। इनमें मालवा और सीमाप्रान्तीय दोनों स्थानों के शक हो सकते हैं। उसका पंजाब और वाह्लीक[2] जीतना कालिदास के रघुविजय[3] से सिद्ध है।[4] यदि उस काल में किसी ऐसे राजा के विषय में सोचना पड़े जिसने बंगाल, पंजाब और वाह्लीक जीता हो, और पश्चिमी भारत के शकों को जीतकर जो दोनों समुद्रों के बीच की भूमि का स्वामी बना हो तो हम केवल चन्द्रगुप्त द्वितीय

१ इं० हि० क्वा०, २१, पृ० २०२-१२।

२ वाह्लीक की अवस्थिति पर विदानों में मतैक्य नहीं है। मेहरौली लेख से विदित होता है कि 'चन्द्र' ने सिन्धु के सात मुखों को पार कर वाहलीकों को जीता (एलन, कैटलाग, भूमिका, पृ० ३६)। एलन ने इग वाह्लीकों को इस काल में विदेशियों के अर्थ में प्रयुक्त बताया है। रायचौधरी (पो० हि० एं० इं०, पृ० ३६४, नो० २) ने सिन्ध के आसपास बसने वाली कोई जाति कहा है। सेथना (पुराण ६, पृ० २०७ आगे) ने वाह्लीक की अवस्थिति गंधार प्रदेश के पास बतलाया है। सरकार ने भी कहा है कि वाह्लीकों की अवस्थिति मैदानी भागों में ही रही होगी (पुराण ६, पृ० २१५ आगे) इस सम्बन्ध में उन्होंने डा० अग्रवाल के मत का खण्डन किया है। अग्रवाल ने वाहलीकों की अवस्थिति पहाड़ी प्रदेश में अफगानिस्तान के उत्तर में वंक्षु के आसपास बतलाया है (पुराण ६, पृ० २२६ आगे)। आज प्रायः विद्वान् वाह्लीक की अवस्थिति के सम्बन्ध में एलन और सरकार के मतों का ही प्रतिपादन करते हैं।

३ रघुवंश, सर्ग ४, ६७।

४ देखिये, अग्रवाल, पुराणम् (१९६४), पृ० २२६:
"According to the justifiable canons of interpretation I have understood the evidence of the Meharauli Inscription of king Chandra and the literary evidence of the Raghuvamsa as both referring to the same facts and supporting each other."

'विक्रमादित्य' का ही नाम ले सकते हैं। अतः मेहरौली लौह स्तम्भ लेख का 'चन्द्र' चन्द्रगुप्त द्वितीय ही है।[1]

इस मेहरौली वालेलेख से विदित होता है कि चन्द्रगुप्त द्वितीय ने बंगाल के राजाओं के संघ को भीपराजित किया था। समुद्रगुप्त ने इस प्रदेश के राजाओं को केवल अपनी अधीनता स्वीकार करा कर ही छोड़ दिया था। चन्द्रगुप्त द्वितीय के पुत्र कुमारगुप्त के दानपत्र बंगाल के कुछ जिलों से उपलब्ध हुए हैं[2] जिनसे सिद्ध होता है कि बंगाल की पूरी विजय समुद्रगुप्त के पश्चात् और कुमारगुप्त के पूर्व कभी हुई। इससे विदित होता है कि चन्द्रगुप्त ने न केवल बंगाल में शत्रुओं का संघ तोड़ा, बल्कि उसे जीतकर अपने साम्राज्य में भी मिला लिया।

रामगुप्त वाली घटना में मालवा के 'शकों' के अतिरिक्त सुराष्ट्र और गुजरात के 'महाक्षत्रपों' का भी हाथ रहा होगा[3], पश्चिमोत्तर भारत के 'षाहिषाहानुषाहि' 'शकमुरुन्डों' का भी उसमें हाथ था[4]। चन्द्रगुप्त इन प्रदेशों की ओर बंगाल और मध्यप्रदेश की विपदाओं को शांत कर एवं वहां की समुचित व्यवस्था कर बढ़ा। उसके मेहरौली लेख से ध्वनित भी होता है कि उसने बंगाल के शत्रुओं के संघ को तोड़कर सिंध और वाह्लीकादि को भी जीता और बंगाल की खाड़ी और अरब सागर के बीच की भूमि का स्वामी हुआ[5]। उसके गुप्त संवत् ८२ में अभिलिखित उदयगिरि लेख से भी ज्ञात होता है कि वह दिग्विजय का अभिलाषी था[6]।

---

१ स्मिथ ने भी चन्द्रगुप्त द्वितीय को ही माना है (देखिये, ज० रा० ए० सो० १८९७, पृ० १-१८), डा० चट्टोपाध्याय भी चन्द्रगुप्त द्वितीय को ही मानते हैं (अर्ली ही० ना० इं०, पृ० १७०-७१)। डा० अग्रवाल भी इसी मत का प्रतिपादन करते हैं। देखिये, उनका लेख 'दि कम्बोज जनपद' पुराणम् (१९६४), ६, पृ० २२६।

२ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० २८०, २८४ २८५।

३ अल्तेकर, ज० वि० उ० रि० सो०, १४, पृ० २५३।

४ जयचन्द्र विद्यालंकार, इतिहास प्रवेश, पृ० २१५--१६।

५ देखिये, मेहरौली लौह स्तम्भ लेख, पंक्ति १-२।

६ कृत्स्न-पृथ्वी-जयार्थेन (का० इं० इं, ३, पृ० २५)।

गुजरात और सुराष्ट्र के 'महाक्षत्रपों' से बदला लेने के लिए उसे वाकाटकों की भी सहायता की अवश्यकता थी। वह यह चाहता था कि वे उसके अभियान में कोई अड़चन पैदा न करें। संभवतः इसको भी ध्यान में रखकर उसने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता का विवाह वाकाटक वंशी रुद्रसेन द्वितीय से किया। इस विवाह से 'वाकाटक' भी कुछ काल के लिये शांत हो गये। दशपुर का 'वर्मा' कुल गुप्तों का कृतज्ञ था। (समुद्रगुप्त ने यहां वर्मा वंश की स्थापना की थी)। चन्द्रगुप्त द्वितीय के पश्चिमी और पश्चिमोत्तर भारत के विजय प्रयाण में वे संभवतः सहायक हुए। उज्जयिनी का जिष्णु, जिसने सम्भवतः 'शकों' की मदद पाकर ही अपनी स्वतंत्रता की घोषणा की थी, को आत्मसमर्पण करने को बाध्य कर वह पश्चिम भारत के 'महाक्षत्रपों' पर टूट पड़ा।

उसका यह अभियान ३८० ई० के लगभग ही संभव हुआ होगा। यह कार्य उसने अपनी पुत्री प्रभावती गुप्ता के विवाहोपरान्त किया।[1] इस प्रदेश से शकों के मूलोच्छेद में चन्द्रगुप्त द्वितीय को सम्भवतः सोलह वर्ष लग गए क्योंकि इन 'महाक्षत्रपो' के शक संवत् ३१९ तक सिक्के मिले हैं।[2] रुद्रसेन तृतीय के सिक्के ईसवी ३७८ तक ही मिले हैं। इससे विदित होता है कि इस काल तक उसकी मृत्यु हो चुकी थी। ३७८ ईसवी के बाद जो तिथि से अंकित सिक्का मिलता है वह शक संवत् ३०४ में अंकित है जो कि 'महाक्षत्रप' सिंहसेन का था। सिंहसेन के पश्चात् तीन और 'महाक्षत्रप' हुए जिनके नाम रुद्रसेन चतुर्थ, सत्यसिंह, रुद्रसिंह तृतीय थे। इस प्रकार इस अल्प (सोलह वर्ष के) काल में चार 'महाक्षत्रप' हुए जो कि शक 'महाक्षत्रपों' पर किसी आपत्ति के ही सूचक हैं। इस प्रकार इस प्रदेश से 'महाक्षत्रपों' की राजनीतिक सत्ता का मूलोच्छेद कर उसने अपने शासन की स्थापना की होगी, क्योंकि उसके सिक्के इस प्रदेश में प्रचलित थे। ४०९ ईसवी तक गुप्तों ने संभवतः वहाँ शांति स्थापित कर दी थी।[3] इस कथन

---

१ वाकाटक गुप्त एज, पृ० ११०।

२ क्लासिकल एज, पृ० १९।

३ वही।

का मुख्य आधार गुप्त संवत् ९० में अंकित चन्द्रगुप्त द्वितीय का सिक्का है जो इस प्रदेश से प्राप्त हुआ है।

पश्चिमी भारत से 'महाक्षत्रपों' का उच्छेद कर वह पश्चिमोत्तर भारत की ओर बढ़ा और सिन्धु की सातों नदियों को पार करता हुआ 'वाह्लीक'[1] पहुँचा। 'वाह्लीक' की अवस्थिति को लेकर विद्वानों में मतभेद है।[2] किन्तु आज प्रायः विद्वान मेहरौली के इस 'वाह्लीक' की अवस्थिति पश्चिमोत्तर भारत में व्यास के आसपास बतलाते हैं।[3] चन्द्रगुप्त द्वितीय के पश्चिमोत्तर भारत विजय के सम्बन्ध में लिखते हुए श्री जयचन्द्र विद्यालंकार ने कहा है 'समुद्रगुप्त और 'किदार' की मृत्यु होते ही 'सासानी' सम्राट् शाहपुहतृतीय (३८३-३८८) ने अफगानिस्तान पर अधिकार जमा लिया। 'किदार' का बेटा पिरो शाहपुह का सामन्त बन गया। तब 'सासानी' साम्राज्य के पूरबी प्रान्तों के शाशक राजप्रतिनिधि सकानशाह ने पिरो को साथ लेकर गुप्त साम्राज्य पर चढ़ाई की। रामगुप्त ने पंजाब में उनका सामना किया। यहाँ व्यास नदी के किनारे शिवालक के विष्णुपद पहाड़ी पर स्थित गढ़ में शत्रु ने उसे घेर लिया।

उस दशा में सकानशाह (शकाधिपति) ने रामगुप्त से यह प्रस्ताव किया कि तुम अपनी रानी ध्रुवस्वामिनी को सौंप दो तो तुम्हें जाने दूँ। रामगुप्त ने वह शर्त मान ली। किन्तु यह गुप्तों के लिए भारी कलंक था। यही कारण था कि रामगुप्त की श्री लुप्त हो गई और चन्द्रगुप्त ने वहाँ शकों को परास्त करने के बाद पंजाब पार कर अफगानिस्तान पर चढ़ाई की और 'किदार' के वंशजों को पूरी तरह हराकर तथा सासनियों को खदेड़ कर वहाँ भी अपना आधिपत्य स्थापित किया।[4]

---

१ देखिये, मेहरौली लौहस्तम्भ।
२ संदर्भों के लिए देखिये, कनिंघम, एंसेंट ज्याग्रफी आफ इंडिया, १९२४, पृ० २४७, ६८६-८७ और वासुदेव शरण अग्रवाल, इं० क०, ६, पृ० १०९ आगे। चट्टोपाध्याय, अर्ली हि० ना० इं०, पृ० १७०, मजूमदार, क्लासिकल एज, पृ० २०।
३ देखिये, पीछे।
४ विद्यालंकार, इतिहास प्रवेश, पृ० २१५।

किन्तु डा० अल्तेकर विद्यालंकार के मत से थोड़े भिन्न हैं। वे यह मानने को तैयार नहीं हैं कि चन्द्रगुप्त ने 'किदार' के वंशजों को पूरी तरह हराया।[1] इसके अतिरिक्त चन्द्रगुप्त के इस (पश्चिमोत्तर भारत के अभियान) को वह केवल उस प्रदेश में रहनेवाले विदेशियों को आतंकित करने की दृष्टि से किया गया होगा बताते हैं।[2] अपने मत की प्रामाणिकता के लिए उन्होंने प्रमाण भी दिये हैं। सिक्के के आधार पर उन्होंने यह बतलाया है कि पांचवीं शती के पूर्वार्द्ध तक 'किदार' कुशाणों के वंशज गुप्तों के समान्त के रूप में शासन कर रहे थे। वे सम्भवत: भारतीय हो गये थे क्योंकि उनके नामों से ऐसा ही बोध होता है, 'कृतवीर्य', 'शिलादित्य', 'सर्वयशस, 'भास्वन', 'कुशल' और 'प्रकाश' आदि नाम उनके सिक्कों पर मिले हैं[3]। इस प्रदेश से प्राप्त 'गडहर' जाति के सिक्कों पर तो चन्द्रगुप्त का नाम मिलता है[4]। अतएव वे विद्वान जो यह कहते हैं कि चन्द्रगुप्त ने उस प्रदेश के विदेशियों का समूल नाश कर दिया होगा, युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता।

इस प्रकार चन्द्रगुप्त के अधिकार में सारा उत्तर भारत (नर्मदा नदी के उत्तर की तरफ सारे प्रदेश) बंगाल, आसाम, नेपाल, गुजरात और सुराष्ट्र आदि के प्रदेश भी आ गए।

इन विजित प्रदेशों के शासन की व्यवस्था भी चन्द्रगुप्त ने की जिसका संचालन संभवत: उसके सामन्त नृपति ही किया करते थे। पंजाब और पश्चिमोत्तर भारत में बहुत से सामन्त नृपति थे, इसको हमने अभी देखा। उसी तरह कुछ और सामन्तों का भी पता चलता है। गया से प्राप्त संवत् ६४ में अभिलिखित लेख से विदित होता है कि इस प्रदेश पर सामन्त नृपति महाराज त्रिकमल का शासन था[5]।

---

१ अल्तेकर, वाकाटक गुप्त एज, पृ० २३।
२ वही, पृ० २४।
३ वही, पृ० २३।
४ देखिये, स्मिथ, ज० रा० ए० सो० १८६३, पृ० १४५।
५ आर्के० सर्वे० इ०, १६२२-२३ पृ० १६६।

उसी तरह सम्वत् ६७ में अभिलिखित मध्यभारत के 'वल्ख' नामक प्रदेश से प्राप्त एक लेख से ज्ञात होता है कि इस प्रदेश का प्रशासक स्वामिदास था[1]। बेसनगर से प्राप्त एक मुद्रा से महाराज श्री विश्वामित्रस्वामी का भी पता चलता है।[2] मजूमदार[3] ने इसको चन्द्रगुप्त द्वितीय का सामन्त नृपति बतलाया है। गुप्त संवत् ८२ में लिखे गये उदयगिरि गुहा लेख[4] से एक अन्य महाराज सनकानीक का पता चलता है। मालव संवत् ४६१ में लिखित मन्दसोर लेख से भी एक नृपति का पता लगता है।[5] बंगाल में इस काल के सामन्त नृपतियों का पता नहीं चल सका है। उसके विद्रोहात्मक स्वभाव के कारण संभव है सम्राट् ने वहाँ के प्रशासन को अपने ही अधिकार में रखा हो। बंगाल के इस विद्रोही स्वभाव के संबंध में लिखते हुए एक लेखक ने तो यहाँ तक लिख दिया है कि "चाहे भारतीय साम्राज्य का केन्द्र दिल्ली रहा हो, चाहे पाटलीपुत्र, बंगाल ने भारतीय सम्राटों को प्रायः सदा बेचैनी दी है।[6] काठियावाड़ में गुप्त प्रशासक के रूप में संभवतः ईश्वरदात था।[7]

---

१ एपि० इं०, १५, पृ०, २८६, ए० भं० ओ० रि० इं०, २५, पृ० १५६। प्रो० मिराशी ने मजूमदार के मत का खंडन किया है। उनके अनुसार बल्ख मध्य भारत में नहीं बल्कि खानदेश में था और स्वामिदास गुप्तों का सामन्त नहीं बल्कि आभीरों और वाकाटकों का था। स्वामिदास के लेख के संवत् को कलचुरि संवत् बतलाया है। इस प्रकार स्वामिदास को गुप्तों का सामन्त नहीं माना जा सकेता। परन्तु यदि प्रो० रायचौधरी के मत को मान लिया जाय (उन्होंने सतारा जिले से प्राप्त गुप्त सिक्कों की ढेरी के आधार पर खानदेश आदि को भी गुप्त साम्राज्य के अन्दर बताया है) तो नर्मदा के दक्षिणी प्रदेश भी उनके अधिकार में आ जाते है (पो० हि० एं० इं०, पृ० ५७०), लेकिन विद्वान इस पर सहमत नहीं है (वाकाटक गुप्त एज, पृ० १७३)।

२ अर्के० सर्वे०, १९१४, १५, पृ० ८१।

३ वाकाटक गुप्त एज, पृ० १७२।

४ देखिए सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, ।

५ वही, ।

६ भगवतशरण उपाध्याय, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० २४८।

७ देखिये, एपि इं०, ३३, पृ० ३०३।

साम्राज्य के पूर्वी प्रदेशों पर शासन के लिये पाटलीपुत्र राजधानी थी और पश्चिमी प्रदेशों की राजनीतिक गतिविधियों पर निगाह रखने के लिए 'चन्द्रगुप्त' ने उज्जयिनी को अपनी राजधानी बनाया। 'कथासारित्सागर' से विदित होता है कि विक्रमादित्य (चन्द्रगुप्त) पाटलीपुत्र और उज्जयिनी से शासन करता था।[1] कन्नड़ के इतिहास पर एक विहंगम दृष्ठि डालने से भी विदित होता है कि गुतल के 'गुप्त' चन्द्रगुप्त 'विक्रमादित्य' के वंशज थे जो कि 'उज्जयिनी पुरवराधीश्वर' भी था।[2]

चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' के पश्चात् उसका पुत्र कुमारगुप्त प्रथम उत्तराधिकारी हुआ। इसका सिंहासनारोहण गुप्त संवत् ९६ अर्थात् ईसवी संवत् ४१५-१६ के लगभग हुआ।[3] ऐसा हम इसलिए कहते हैं क्योंकि इसके पिता चन्द्रगुप्त द्वितीय की अन्तिम ज्ञात तिथि गु० सं० ९३ है

कुमारगुप्त का कोई ऐसा शिलालेख उपलब्ध नहीं है जिसमें युद्ध अथवा राज्यविस्तार का वर्णन किया गया हो। इसने अपने पितामह और पिता की भाँति न कोई युद्ध किया और न किसी देश को जीतने के लिए विजय यात्रा ही की। परन्तु उसके शिलालेखों के प्राप्ति स्थान से पता चलता है कि इसने अपने पिता से प्राप्त राज्य का सुचारू रूप से प्रबन्ध करने के साथ ही साथ उसे सुरक्षित भी रखा। बंगाल का शासन जो पहले संभवतः पाटलीपुत्र से संचालित होता था, कुमारगुप्त के काल से पुंड्रवर्धन भुक्ति से संचालित होने लगा था। इसका प्रशासक 'उपरिक' चिरातदत्त था।[6] गु० सं० ११६ में अभिलिखित घटोत्कच गुप्त के तुमैन लेख से विदित होता है कि पूर्वी मालवा का शासक गुप्तवंशी घटोत्कच गुप्त था।[7] उसी प्रकार मा० सं० ५२४ में अभिलिखित मन्दसौर से प्राप्त एक लेख से विदित होता

---

१ कथासरितसागर, ३, पृ० २०६; ६, पृ० ५।
२ फलीट, डाइनेस्टीज आफ दि कन्नडीज डिस्ट्रिक्ट्स, पृ० ५७८।
३ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० २७८-७६।
४ का० इं० इं०, ३, नं० ५।
५ उपाध्याय, गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृ० ६६।
६ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० २८३, २८५।
७ वही, पृ० २६८, पो० हि० एं० इं०, पृ० ५७१, वाकाटक गुप्त एज, पृ० १७३-७४

है कि इस प्रदेश का शासक कभी कुमारगुप्त प्रथम का भाई गोविन्दगुप्त भी था।[1] इस प्रदेश के 'वर्मा' शासकों के मालव संवत् में अभिलिखित एक लेख[2] से भी विदित होता है कि ४३६ ईसवी के लगभग कुछ विद्रोहियों ने दशपुर पर आक्रमण किया।[3] ऐसे विद्रोही क्षेत्र में साम्राज्य की ओर से किसी न किसी राजकर्मचारी का होना आवश्यक था जो वहाँ की राजनीतिक गतिविधियों पर दृष्टि रख सके। सम्भवतः इसीलिए गोविन्दगुप्त की वहाँ नियुक्ति हुई।[4]

कुमारगुप्त का शासनकाल शांतिमय वातावरण से परिपूर्ण था परन्तु इसके शासनकाल के अन्तिम समय में 'पुष्यमित्र' नामक किसी जाति ने उसके राज्य पर आक्रमण किया।[5] फ्लीट इनको दक्षिण में नर्मदा के प्रदेश में रहने वाली एक जाति मानता है।[6] एलन फ्लीट के मत का समर्थन करते हैं तथा इनको दक्षिण की एक जाति मानते हैं जो गुप्त सत्ता का नाश कर उसके आधिपत्य का परित्याग करना चाहती थी।[7] सम्भवतः इसी कारण स्वतन्त्रता के इच्छुक 'पुष्यमित्रों'[8] ने गुप्त साम्राज्य में अशांति मचा दी थी। जो हो,

---

१ आर्के० सर्वे० इं०, १९२२-२३, पृ० १८७, एपि० इं० २७, पृ० १२ आगे।
२ सिलेक्ट इस्क्रप्शंस, पृ० २८८।
३ वही, पृ० २९५, नो० ४।
४ वाकाटक गुप्त एज, पृ० १७४।
५ स्मिथ, कैटलाग, पृ० ६७, सिनहा, डि० कि० म०, पृ० २।
६ इ० ए० १८, पृ० २८८।
७ देखिये, एलन का केटलाग, भूमिका।
८ दिवेकर (ज० भ० रि० इं०. १९१९-२०, पृ० १०३) ने फ्लीट के 'पुष्यमित्रांश्च' पाठ को संशोधित किया उनके अनुसार 'पुष्यमित्रांश्च' का शुद्ध पाठ 'युद्धमित्रांश्च' होना चाहिए। इसका समीकरण वह हूणों से करते हैं।

यह निश्चित है कि 'पुष्यमित्र' मध्यभारत की एक शासक जाति का नाम था[१] जिसका वर्णन पुराणों[२] और जैन ग्रन्थों[३] में भी हुआ है।

किन्तु भट्टसलि ने इन 'पुष्यमित्रों' के उल्लेख का एक दूसरा ही अर्थ लगाया है।[४] उनके अनुसार 'पुष्यमित्र' श्लेषात्मक है।[५] आसाम के इतिहास का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है कि आसाम के पुष्यवर्म्मा के उत्तराधिकारियों को हम जानते हैं जो पहले गुप्तों के मित्र थे किन्तु अपनी विजिगीषा के कारण वे गुप्तों के दुश्मन हो गये और गुप्त साम्राज्य के पूर्वी भाग पर आक्रमण भी किया। अपने तर्क में वे यह कहते हैं कि समुद्रगुप्त और उसके पौत्र कुमारगुप्त प्रथम द्वारा किये गये एक-एक अश्वमेध यज्ञ के प्रत्युत्तर में महेंद्रवर्म्मा ने दो अश्वमेध किये।[६] परन्तु विद्वान लेखक के इस कथन को ग्रहण नहीं किया जा सकता[७] क्योंकि हमारे पास प्रमाण है

---

१ सरकार (सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० ३१४, नो० २) का कहना है कि युद्ध-मित्रांश्च पाठ को सही नहीं कहा जा सकता। प्रो० जगन्नाथ (इं० हि० क्वा०, २२, पृ० ११२ आगे) ने तो स्पष्ट कहा है कि भीतरी लेख का 'पुष्यमित्रांश्च' पाठ ठीक है और ये 'पुष्यमित्र' मध्यभारत में तीसरी शती ईसवी से पाँचवीं शती ईसवी के माध्यकाल तक बने रहे। डाडेकर हिस्ट्री आफ गुप्त पीरियड, पृ० ११२। देखिये आगे भी

२ पार्जीटर, डा० क० एज, १९१३, पृ० ५१।
पुष्यमित्रा भविष्यंति पट्टुमित्रास त्रयोदश
मेकलायां नृपः सप्त भविष्यन्तिः सप्ततिम्।
कोशलायां तु राजानों भविष्यन्तिः महाबलो।

३ से० बु० इ०. २२, पृ० २९२, कुशाणकालीन लिपि में अंकित भीटा से प्राप्त एक मुद्रा पर 'पुसमितस' नाम अंकित मिलता है (ज० रा० ए० सो०, १९११, पृ० १३८) कनिष्क के काल में पुष्यमित्र जाति बुलंदशहर के आस-पास रहती थी (बाबे गजेटियर. १, पृ० ७३)।

४ इं० हि० क्या०, २१ पृ० २४।

५ वही।

६ वही।

७ सिनहा, डि० कि० म०, पृ० १।

जो 'पुष्यमित्रों' को एक जाति के रूप में बोध कराता है।[1] डा० चट्टोपाध्याय [2] ने इनको नागवंशी कहा है।

इन 'पुष्यमित्रों' को जिनको भातरी लेख[3] में 'समुदितबलकोषान्' कहा गया है और जो संभवतः गुप्त सत्ता का नाश कर उनके आधिपत्य का परित्याग करना चाहते थे, कुमारगुप्त के पुत्र स्कन्दगुप्त ने युद्ध में परास्त किया[4]। इस युद्ध में उसने अपना जीवन साधारण सैनिकों सा बना लिया था और उन्हीं की भांति वह भी युद्ध क्षेत्र में रुखी जमीन पर सोकर रातें काट लेता था[5]। इस प्रकार के तप का जीवन बिताकर उसने गुप्तकुल की विचलित राज्यक्ष्मी को फिर से प्रतिष्ठित किया[6]। इस युद्ध के दौरान में कुमारगुप्त मरणासन्न अवस्था में था और 'पुष्यमित्रों' के परास्त होने तक वह सम्भवतः मर भी चुका था क्योंकि इस स्तम्भ लेख में इस बात का स्पष्ट संकेत है कि स्कन्दगुप्त ने अपनी विजय का संदेश 'पिता के परलोक-गमन के पश्चात्[7] अपनी माता को उसी प्रकार सुनाया जिस प्रकार कृष्ण ने शत्रु को मारकर देवकी को सुनाया था[8]।

---

१ इं० हि० क्वा०, २२, पृ० १२२ आगे।
२ अर्ली० हि० ना० इं०, पृ० १७६।
३ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० ३१४ लेख पंक्ति ११।
४ वही ("जित्वा क्षितिप चरणपीठे स्थापितो वाम पदः")।
५ भीतरी लेख पंक्ति १०, ("क्षितितल शयनीये येन नीता त्रियामो")
६ वही (विचलित कुल लक्ष्मी स्तम्भनायोद्यतेन), पंक्ति १३ भी देखिये (विप्लुतां वंशलक्ष्मी भुजबलविजितारियंयः प्रतिष्ठाप्य भूयः)।
७ वही, पंक्ति १२ ("पितरि दिवमुपेते")।
८ वही, पंक्ति १३ जितमिति परितोषान्मातरं साश्रु-नेत्रां हतरिपुरिव कृष्णो देवकीमभ्युपेतः।

तीसरा अध्याय

राजनीतिक प्रतिक्रिया का काल (क्रमागत)

(स्कन्दगुप्त से बुधगुप्त के काल तक)

कुमारगुप्त के जीवन काल में ही सम्भवतः साम्राज्य के उत्तराधिकारी का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। जब वह मरणासन्न था उसी समय 'वाकाटक' नृपति नरेन्द्रसेन[1] (४५०-४७०)ने जो 'नल' नृपति भवदत्त वर्मा को पराजित कर चुका था,[2] सम्भवतः इस सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर कि राजनीति में बंधु-बांधवों का बंधन अधिक महत्व नहीं रखता, गुप्त वंश पर आनेवाली इस संकट से लाभ उठाया। नरेन्द्रसेन कुमारगुप्त की भगिनी प्रभावतीगुप्त का पौत्र और प्रवरसेन द्वितीय का पुत्र था। गुप्त साम्राज्य पर स्वयं आक्रमण न कर पहले टोह लेने की दृष्टि से उसने सम्भवतः 'पुष्यमित्रों' को उकसाया जो 'पुष्पसेन'[3] के नेतृत्व में गुप्त साम्राज्य पर टूट पड़े। किन्तु स्कन्दगुप्त ने इनका सफलतापूर्वक दमन कर दिया और अपनी विजय का संदेश पिता के पश्चात् अपनी माता को सुनाया।[4]

नरेन्द्रसेन वाकाटक की इस दुरभिसंध को समझकर एवं पुष्यमित्रों के आक्रमण को विफल करने के हेतु सम्भवतः स्कन्दगुप्त ने 'नलवंशो' नृपति भवदत्तवर्मा से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित किया। इस अनुमान का मुख्य आधार भवदत्त वर्मा का रिथपुर लेख[1] है जिससे विदित होता है कि नल नृपति ने अपने दाम्पत्य जीवन को सुखमय करने के लिए प्रयाग में (जो कि

---

१ वाकाटक गुप्त एज, पृ० ११५, ज० ए० सो० बं० लें० १२, पृ० १ आगे, ना० यू० बु०, १९४६।

२ वाकाटक गुप्त एज, पृ० ११७, एपि० इ० १९, पृ० १०२, वही २१, १५३, वही, २८, पृ० १३ आगे, इं हि० क्वा०, २६, पृ० १४२ आगे।

३ भट्टाचार्य, ज० बि० उ० रि० सो०, ३०, पृ० ३४-३५।

४ स्कन्दगुप्त का भीतरी लेख, पंक्ति १३।

१ एपि० इं०, १९, पृ० १०० आगे ;

निश्चित रूप से उसके राज्यसीमा में नहीं था) दानादि कार्य किये।[१] प्रयाग में इस तरह का दानादि कार्य करने के कारण डा० सरकार ने यह अनुमान किया है कि भवदत्त वर्मा की पत्नी का पिता इलाहाबाद क्षेत्र का प्रशासक अथवा स्वामि रहा होगा।[२] भवदत्त वर्मा ने 'वाकाटकों' से नन्दिवर्धन जो कभी वाकाटकों की राजधानी थी को जीत लिया था।

अभिलेखीय[३] एवं साहित्यिक[४] प्रमाणों से विदित होता है कि कुमारगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र स्कन्दगुप्त 'गुप्त-साम्राज्य' का उत्तराधिकारी हुआ। किन्तु, वह वैध उत्तराधिकारी नहीं था क्योंकि उसके किसी भी लेख में 'तत्पादानुध्यात' शब्द उसके लिए प्रयुक्त हुआ नहीं मिलता जिसे विद्वानों ने उत्तराधिकार का वैधता सूचक शब्द माना है;[५] जबकि गुप्तवंशतालिका में कुमारगुप्त के पश्चात पुरुगुप्त का नाम मिलता है और उसके लिए 'तत्पादानुध्यात' शब्द का प्रयोग किया गया है।[६] इससे विद्वानो ने यह अनुमान लगाया कि सिंहासन के लिए झगड़ा हुआ।[७] इस मत के मुख्य पोषक डा० मजूमदार[८] और डा० सिनहा है।[९] किन्तु उत्तराधिकार के लिए इस युद्ध को लेकर विद्वानों में मतभेद है।[१०] डा० उपाध्याय ने इस वर्ग के विद्वानों के मत का प्रतिनिधित्व करते हुए डा० मजुमदार वर्ग के विद्वानों के मत का खंडन किया है।[११] उनके अनुसार डा० मजुमदार की यह धारणा है कि पुरुगुप्त ही गुप्त राज्य सिंहासन का उचित अधिकारी था क्योंकि

---

१ वही।
२ वही, २८, पृ० १३ नो० २।
३ एपि० इं०, २, पृ० २१०. सिं० इं०, पृ० २६६।
४ साहित्यिक प्रमाणों के लिए देखिये, डि० कि० म०, पृ० २, नो० ६।
५ वही, पृ० २५।
६ निलेक्ट इंस्क्रष्शंस, पृ० ३२१-२२।
७ विस्तृत जानकारी के लिए देखिये, सिनहा, डि० कि० म०, पृ० २३-४६।
८ ज० ए० सो० न्यू० स०, १७, पृ० २५३ आगे।
९ डि० कि० म०, पृ० २३-४६।
१० रायचाधरी, पो० हि० एं० इं० पृ० ५७२-७७, चट्टोपाध्याय, अर्ली हि ना इं, पृ० १८१।
११ गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृ० १०२-४।

इसकी माता अनन्तदेवी को महादेवी कहा गया है। स्कन्दगुप्त की माता का नाम हम नहीं जानते हैं। शायद स्कन्दगुप्त की माता महादेवी नहीं थी इसीलिए उनके नाम का उल्लेख नहीं है। बहुत सम्भव है स्कन्दगुप्त ने पुरुगुप्त को हटा कर राजसिंहासन को अपने अधीन कर लिया। भीतरी के स्तम्भ लेख पर एक श्लोक मिलता है जिससे दायाधिकार युद्ध के समर्थक विद्वान अपने प्रमाण की पुष्टि करते हैं—

> पितरि दिवमुपेते विप्लुतां वंशलक्ष्मी
> भुजबलविजितारिर्यः प्रतिष्ठाप्य भूयः
> जितमित परितोषान मातरं साश्रु नेत्रां
> हतरिपुरिव कृष्णे देवकीमभ्युपेतः।

"पिता की मृत्यु के पश्चात वंशलक्ष्मी चंचल हो गयी। इसको अपनी भुजाओं के बल से फिर प्रतिष्ठित किया। शत्रुओं का नाश कर वह अश्रुयुक्त अपनी माता के पास गया जिस प्रकार शत्रुओं का नाश करनेवाले कृष्ण अपनी माता देवकी के पास गये थे।" विद्वानों की यह धारणा है कि वंशलक्ष्मी को इस प्रकार चंचल करनेवाले गुप्तवंश के ही स्वजन थे जिन्होंने राज-सिंहासन के लिए आपस में युद्ध किया था। इस गृहयुद्ध में स्कन्दगुप्त ही अपने प्रबल पराक्रम के कारण विजयी हुआ। परन्तु डा० मजुमदार के तर्क कसौटी पर ठीक नहीं उतरते। स्कन्दगुप्त की माता के नाम के साथ 'महादेवी' शब्द न होने से यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी माता महारानी नहीं थी तथा यह सिंहासन का उचित अधिकारी नहीं था। इतिहास में ऐसे बहुत से प्रमाण मिलते हैं जहाँ एक महारानी का राजमहिषी होते हुए भी उसके नाम का उल्लेख तक उसके पति या पुत्र के लेखों में नहीं मिलता। यह विदित है कि नागकुल में उत्पन्न कुबेरनागा महाराजा धिराज द्वितीय चन्द्रगुप्त की स्त्री थी। किन्तु, उसके नाम के साथ महादेवी शब्द नहीं मिलता।[१] इसका नाम केवल प्रभावती गुप्त की पूना की प्रशस्ति में उल्लिखित है। सातवीं शती में कन्नौज पर राज्य करनेवाले महाराज हर्षवर्धन के बांसखेड़ा

---

१ उपाध्याय का ध्यान सम्भवतः रायचौधरी (पृ० ५५२) के उस कथन की ओर नहीं गया जहाँ विद्वान लेखक स्वयं कहता है कि कुबेरनागा प्रधान रानी नहीं थी।

तथा मधुबन के लेखों में उसकी माता यशोमती का नाम उल्लिखित नहीं है । अत: किसी राजा की माता के नाम की अनुपस्थिति में, राजमाता का कहीं नामोल्लेख न मिलने से यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि उस राजा की माता महादेवी नहीं थी अत: वह राज्यसिंहासन का अधिकारी नहीं माना जा सकता ।''

दूसरा भीतरी के स्तम्भलेख में प्राप्त उपरियुक्त श्लोक का प्रमाण भी उनके मत की पुष्टि नहीं करता है । इस श्लोक के पौर्वापर्य पर विचार करने से स्पष्ट प्रतीत होता है कि गुप्तों की वंशलक्ष्मी का नाश करनेवाले बाहरी शत्रु (पुष्यमित्र) थे, कोई राजघराने का पुरुष नहीं था । इन पुष्यमित्रों को स्कन्दगुप्त ने अपने पराक्रम से परास्त किया था तथा इसकी पीठ पर अपना वांया चरण रक्खा था ।[1] इसी लेख में हूणों के आक्रमण का भी वर्णन है । अत: स्कन्दगुप्त से युद्ध करनेवाले तथा राजलक्ष्मी को कुछ काल के लिए चंचल बना देनेवाले यही बाहरी शत्रु थे । गुप्तराज्य में गृहयुद्ध नहीं था । प्रथम कुमारगुप्त के पुत्रों में स्कन्दगुप्त ही सर्व पराक्रमी तथा योग्य था, जो शासन की बागडोर को लेकर सुचारु रूप से कार्य चला सकता था । जूनागढ़वाली प्रशस्ति में वर्णित है—

'व्यपेत्य सर्वान्मनुजेन्द्रपुत्रान लक्ष्मी : स्वयं यं वरयाचकार ।'

इस कथन से ज्ञात होता है कि महाराज प्रथम कुमारगुप्त की मृत्यु के पश्चात् स्वयं राजलक्ष्मी ने स्कन्द को अपना पति वरण किया, इसके पास जाने का निश्चय किया । सब राजपुत्रों को छोड़कर राजश्री ने इसी को अपना स्वामी बनाया । स्कन्दगुप्त का एक सोने का सिक्का भी मिला है जिससे उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है । उस सिक्के में राजा तथा एक देवी का चित्र अंकित है जिसमें देवी राजा को कुछ दे रही है ।[2] विद्वानों की यह धारणा है कि यह सिक्का 'लक्ष्मी : स्वयं यं वरयांचकार' के भाव का द्योतक है तथा इस भाव का मूर्तिमान स्वरूप है ।[3] स्कन्दगुप्त प्रपितामह

१ क्षितिपचरणपीठे स्थापितो वामपादः का अर्थ फ्लीट ने राजाओं को कुचल कर अनुचर बना लेने के अर्थ में किया है। किन्तु इससे श्लेषात्मक ध्वनि निकलती है। त्रिपाठी (हि० एं० इ०, पृ० २६१) ने इसका अनुवाद राज्यारोहण के अर्थ में किया है।

२ कार्पस आफ इंडियन क्वायंस, ४, पृ० २४४-४७।

३ गुप्त साम्राज्य का इतिहास, १, पृ० १०३।

सम्राट् समुद्रगुप्त की भाँति अपने पिता के द्वारा राजसिंहासन के लिए निर्वाचित नहीं किया गया था। स्कन्दगुप्त ने विदेशी शत्रुओं को हराया था, अतः 'लक्ष्मी स्वयं यं वरयांचकार' के कथन में कुछ भी संदेह नहीं किया जा सकता है। ऐसी अवस्था में इस योग्य तथा वीर पुरुष के अतिरिक्त राजसिंहासन के लिए अन्य कोई समुचित उत्तराधिकारी नहीं मिल सका। फिर भी स्कन्दगुप्त तथा उसके भाई के बीच युद्ध का कोई प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता। उसी भीतरी वाले लेख में स्कन्दगुप्त को 'अमलात्मा' कहा गया है जिससे उसके सरल, दयालु, द्वेषरहित तथा निर्मल चरित्र का परिचय मिलता है। उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर डा० मजूमदार के दायाधिकार युद्ध के सिद्धान्त को स्वीकार करना युक्तियुक्त तथा न्यायसंगत प्रतीत नहीं होता।

परन्तु कुमारगुप्त प्रथम के पश्चात् दायाधिकार युद्ध मत का प्रतिपादन करनेवाले विद्वानों के मत का तब खंडन हो जाता है जब यह सिद्ध हो जाय कि बिहार का लेख स्कन्दगुप्त का था जिसको फूलीट[१] ने स्कन्दगुप्त का बतलाया है। किन्तु डा० मजूमदार[२] और डा० सिनहा[३] ने अपने पाठ से यह सिद्ध किया है कि यह लेख पुरुगुप्त का था। यद्यपि डा० सरकार[४] और डा० उपाध्याय[५] ने इसको स्कन्दगुप्त का ही बतलाया है। इस लेख में 'तत्पादानुध्यात' शब्द का उल्लेख हुआ है और यह यदि स्कन्दगुप्त का ही हुआ तो स्कन्दगुप्त साम्राज्य का वैध उत्तराधिकारी सिद्ध होता है। किन्तु डा० मजूमदार और सिन्हा के पाठ का खंडन भी नहीं किया जा सकता।[६] अतएव इससे यह सिद्ध होता है कि 'दायाधिकार युद्ध' हुआ था।[७] डा० मजूमदार ने दायाधिकार युद्ध के विरुद्ध दिये गये विद्वानों के मत का खंडन

---

१ का० इं० इं०, ३ पृ० ४६ आगे।
२ इं० क०, १०, पृ० १७० आगे।
३ डि० कि० म०, पृ० २७।
४ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० ३१६।
५ गुप्त साम्राज्य का इतिहास, पृ० ४१।
६ देखिये, टिप्पणी २ और ३।
७ सिनहा, डि० कि० म०, पृ० ४१।

भी किर दिया है।[1] डा० मजूमदार आदि विद्वानों का मत युक्तिसंगत भी है। इसी कारण स्कन्दगुप्त का नाम गुप्त वंशतालिका में न आ सका। किन्तु वस्तुस्थिति कुछ दूसरी ही थी। पुरुगुप्त के उत्तराधिकारी तो स्कन्दगुप्त की स्मृति को ही धो देना चाहते थे। सम्भवतः इसीलिए उसके नाम का उल्लेख गुप्तवंशतालिका में नहीं हुआ।[2]

डा० सिनहा ने लिखा भी है कि स्कन्दगुप्त ने पुरुगुप्त को हटाकर राजसिंहासन को हस्तगत किया।[3] पुरुगुप्त सम्भवतः कुछ ही दिनों तक सिंहासनासीन रह सका था। क्योंकि जिस वर्ष कुमारगुप्त की मृत्यु हुई उसी वर्ष स्कन्दगुप्त का सिंहासनारोहण भी हुआ।

अपने हाथ में शासन सम्हालते ही स्कन्दगुप्त को राष्ट्रीय संकट[४] का सामना करना पड़ा। इस राष्ट्रीय संकट में संभवतः सभी क्षत्रिय जातियां स्कन्दगुप्त की सहायक हुईं। यह राष्ट्रीय संकट म्लेच्छों के आक्रमण के रूप में थी। उसके पूर्व उसके पितामह ने इन म्लेच्छों को हिन्दूकुश के उस पार खदेड़ दिया था। किन्तु गुप्तकुल में इस कलह (दायाधिकार) के कारण वे पुनः इस पार चले आये थे और स्थान—स्थान पर उनका उत्पात शुरू हो गया था।[५] इसी काल से साम्राज्य के विभिन्न प्रान्तों में स्वायत्ता के लिए विद्रोह भी होने लगा।

स्कन्दगुप्त के आंख मूंदते ही सौराष्ट्र में मैत्रक उठ खड़े हुए, सौराष्ट्र की ही भांति आटविक राज्य में 'परिव्राजक' अपनी स्वायत्तता की घोषणा करने लगे थे बंगाल भी जो कि पुंड्रवर्धन से शासित होता था पूरे प्रदेश का प्रतिनि—

---

१ वाकाटक गुप्त एज, पृ० १७६, नो० १ और २।

२ सिनहा, डि० किं० म०, पृ० ४४ नो० १।

३ वही, पृ० ३६, ४१।

Skandagupta on his return from victorious compaign might have faced a similar situation and the out come was the triumph of skanda over other suitors of the goddess of sovereignty.

४ सिनहा, डि० किं० म०, पृ० ४६।

५ वाकाटक गुप्त एज, पृ० १७७।

धित्व न कर सकने के कारण विभक्त हो गया। वर्धमानभुक्ति[1] की स्थापना करनी पड़ी। किन्तु गुप्त सम्राट गुप्त वैभव को बनाये रखना चाहते थे। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने इन विद्रोही प्रदेशों की मांगों का सशस्त्र दमन नहीं किया। इन प्रदेशों के शासकों ने भी गुप्तों का सम्मान किया। गुप्तों की राजनीतिक शक्ति के क्षीण हो जाने के बावजूद भीं इन्होंने गुप्त सत्ता के प्रति, गुप्तनृपराज्यभूक्तौ,[2] परमभट्टारक पादानुध्यातो[3] आदि, सम्मानसूचक शब्दों का प्रयोग किया।

राष्ट्रीय संकट के रूप में ये म्लेच्छ[4] हूण थे। इन हूणों का निवास स्थान मध्य एशिया में, चीन की पश्चिमी सीमा में था। किन्तु इस प्रदेश को इनको एक अन्य जाति के आक्रमण करने के कारण छोड़ना पड़ा। ये पश्चिम का ओर भागे और इनकी एक शाखा बाख्त्री में जा बसी। इन लोगों ने गांधार को भी जीत लिया था और वहां के शासन को एक क्रूर व्यक्ति के हाथ सौप दिया। वह सिन्धु पार कर सम्भवत: गंगा-घाटी में भी उपद्रव मचाने लगा था।[5] विक्रमादित्यों की परम्परा में पले स्कन्दगुप्त के वंश गौरव को हूणों का यह उत्पात एक प्रकार से चुनौती दे रहा था। स्वयं 'विक्रमादित्य'[6] उपाधि धारण कर स्कन्दगुप्त इन पर टूट पड़ा और इनको उनके देश में ही भगा कर दम लिया।[7] सम्भवतः इसीलिए हूण छठीं शती ईसवी के प्रारम्भ के काल तक गांधार के पूर्व कभी जाने का साहस नहीं कर सके।[8]

---

१ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० ६३० नो०३।

२ देखिये महाराज संक्षोभ का खोह ताम्रपत्र लेख, गु०सं० २०६, पंक्ति १।

३ देखिये महाराज द्रोणसिंह (मैत्रक) का भमोद्रा मौहोता ताम्रपत्र लेख, गु० सं० १८६, पंक्ति १।

४ भीतरी का स्तम्भलेख -हूर्णैयस्य समागतस्य समरे दोर्भ्यां धरा कम्पिता। रिपवोप्यामूलभग्नदर्पा निर्वचना म्लेच्छदेशेषु।

५ स्कन्दगुप्त-हूण युद्ध सम्भवतः उत्तर गंगा की घाटी में हुआ था। संदर्भ के लिए देखिये भीतरी का स्तम्भलेख 'श्रोत्रेष गंगाध्वनि'।

६ सिलेक्ट इस्क्रप्शंस, पृ० ३१६।

७ वही, पृ० ३०१।

८ वाकाटक गुप्त एज, पृ० १७८, सिनहा, डि० कि० म०, पृ० ५६।

स्कन्दगुप्त के हूण विजय की पुष्टि लेखों[१] के अतिरिक्त साहित्य द्वारा भी होती है। सोमदेवकृत 'कथासरित्सागर' में उज्जयिनी के राजा महेन्द्रादित्य के पुत्र विक्रमादित्य द्वारा मलेच्छों (हूणों) के पराजय का वर्णन मिलता है। कुमार गुप्त के सिक्कों से ज्ञात होता है कि 'महेन्द्रादित्य' उसकी सर्वश्रेष्ठ उपाधि थी। उसके पुत्र स्कन्दगुप्त ने 'विक्रमादित्य' की ही पदवी धारण की थी जिसका उल्लेख सिक्कों तथा लेखों में मिलता है। अतएव 'कथासरित्सागर' में वर्णित 'महेन्द्रादित्य' प्रथम कुमारगुप्त है तथा विक्रमादित्य उसके पुत्र स्कन्दगुप्त के लिए प्रयुक्त है।[२] इस प्रकार लेखों में वर्णित हूणों के पराजय का समर्थन 'कथासरित्सागर' से भी होता है। बौद्ध ग्रन्थ 'चन्द्रगर्भपरिपृच्छा' से भी इसकी पुष्टि होती है।[३]

इन विदेशी आक्रमणों एवं गृहयुद्ध का गुप्त साम्राज्य पर निश्चय ही बुरा प्रभाव पड़ा। डा० सिनहा का इस सम्बन्ध में कथन है कि गुप्त साम्राज्य पर पड़ी इन विपत्तियों का गुप्त-प्रशासन और उसके राज-कर्मचारियों पर बुरा प्रभाव पड़ा, नैतिक बंधन तथा निष्पक्षता की भावना सम्भवतः उनसे दूर होने लगी।[४] स्कन्दगुप्त को सम्भवतः इसीलिए सौराष्ट्र प्रदेश का गोप्ता (प्रशासक) चुनने में कठिन परिश्रम करना पड़ा था। उसने अन्य प्रदेशों के लिए भी प्रशासक चुने थे।[५] स्कन्दगुप्त का गुप्त सं १४६ में अभिलिखित इंदौर ताम्रपत्र[६] लेख से विदित होता है कि

---

१ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० २६६ आगे और पृ० ३१२ आगे।

२ होर्नले का मत है कि कथासरित्सागर का विक्रमादित्य मालवा का राजा यशोवर्धन है परन्तु एलन इसका खंडन करते हैं और विक्रमादित्य की समता स्कन्दगुप्त से करते हैं (देखिये, एलन, केटलाग, भूमिका, पृ० ४६, नो० १)।

३ वाकाटक गुप्त एज, पृ० १७८, नो० १।

४ हि० कि० म०, पृ० ५१-५२।

५ का० इं० इं०, ३, न० १४, पृ० ६२ आगे।

६ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० ३०६, आगे।

अंतर्वेदी[१] प्रदेश के सुशासन के लिए उसने शर्वनाग को विषयपति नियुक्त किया। उसी प्रकार बघेलखंड क्षेत्र की राजनीतिक गतिविधियों पर दृष्टि रखने के लिये उसने महाराज भीमवर्मा की नियुक्ति कोशाम्बी में की।[२]

इस काल में दशपुर के शासन को लेकर विद्वानों में विवाद है। मन्दसौर के मा० सं० ५२४ में अभिलिखित एक लेख से भंडारकर ने यह अनुमान किया है कि गोविन्दगुप्त, जो कुमारगुप्त प्रथम का भाई था, इस प्रदेश में सम्भवतः दायाधिकार युद्ध के काल में स्वतंत्र हो गया अथवा स्कन्दगुप्त के अंतिम दिनों में वह उस प्रदेश का शासक हो गया था।[3] किन्तु डा० सिनहा ने डा० भंडारकर के भ्रम का निवारण करते हुए कहा है कि वह (गोविन्द-गुप्त) इस प्रदेश में कोई उच्च पदाधिकारी था।[४] डा० सिनहा के इस कथन की पुष्टि तब हो जाती है जब मालवा (विवेच्य काल के) के इतिहास का हम विश्लेषण करते हैं।

समुद्रगुप्त के इलाहाबाद प्रशस्ति लेख से विदित होता है कि उसने अनेक राजवंशों की स्थापना की थी। दशपुर में उसने संभवतः 'वर्मा' राजवंश की स्थापना भी की।[५] इस प्रकार 'वर्मा' गुप्तों के कृतज्ञ थे। चन्द्रगुप्त द्वितीय के पश्चिमोत्तर भारत की विजय-प्रयाण में वे सहायक भी हुए हों तो आश्चर्य नहीं। क्योंकि समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात मालवा में जब शकों की सहायता पाकर जिष्णु उठ खड़ा हुआ उस समय जिष्णु का दमन करने चन्द्रगुप्त द्वितीय गया था (देखिये, द्वितीय अध्याय)। इस प्रकार उसने वर्मा वंश पर आये संकट का निवारण किया था। ऐसी दशा में

---

१ गंगा और जमुना के बीच के प्रदेश अर्थात् प्रयाग और हरिद्वार के प्रदेश को अंतर्वेदी कहा गया है (सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, प० ३६०, नो० ७)।

२ भीमवर्मा का काल विवादास्पद है। चट्टोपाध्याय ने इसको स्कन्दगुप्त का समकालिक बतलाया है। किन्तु भिन्न मत के लिए देखिये (सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, प० ३६५, नो० १)।

३ भंडारकर, एपि० इं०, १६, एपेंडिक्स, पृ० २ नो० ५। (राधाकृष्ण चौधरी ने भी इसको गुप्त-सम्राट् कहा है—इ० हि० का०, २३, सेसन १६६०, पृ० २० आगे)।

४ सिनहा, डि० कि० म० पृ० ६२।

५ देखिये, दूसरा अध्याय।

'वर्मा' शासकों द्वारा चन्द्रगुप्त की सहायता करना स्वाभाविक था। कुमार-गुप्त के काल में भी दशपुर में विद्रोह हुआ।[1] उसका दमन करने के लिए 'वर्मा' शासक बंधुवर्मा को गुप्तों की सहायता की आवश्यकता हुई होगी। कुमारगुप्त ने सम्भवतः अपने भाई गोविन्दगुप्त को भेजकर उसकी मदद की।

दशपुर सैनिक महत्व का स्थान था। यह मालवा के पश्चिमी भाग की राजधानी थी। यहाँ से पश्चिमी और पश्चिमोत्तर भारत तथा दक्षिण भारत की राजनीतिक गतिविधियों पर नजर रखा जा सकता था। यही कारण है कि गुप्तों के पतन के पश्चात् मालवा का यह भाग राजनीतिक उथल-पुथल का केन्द्र बना। अपनी राजनीतिक स्वायत्तता को बचाये रखने के लिए ही सम्भवतः 'मैत्रकों' ने मालवा के कुछ भाग को हड़प लिया था। युवान-च्वाँग के यात्रावृत्तांत में जिस मो-ल-पो का उल्लेख है वह पश्चिमी मालवा के ही किसी भाग की ओर संकेत करता है।[2] हर्षवर्धन के काल में मालवा का यह भाग जिस पर उस समय 'गुर्जर' राज्य कर रहे थे 'बफर राज्य' था।[3]

किन्तु किसी देश की सेना एक बार भी यदि किसी दूसरे देश की भूमि में प्रवेश कर जाती है तो उसको निकाल बाहर करना मुश्किल होता है। फिर वह देश वहाँ की सुव्यवस्था के नाम पर उस देश की राजनीति में सक्रिय भाग लेने लगता है। इसके लिऐ 'पोलिटिकल एजेन्ट' और सेना का रहना आवश्यक हो जाता है। गोविन्दगुप्त सम्भवतः वहाँ पर 'राज-प्रतिनिधि' के रूप में था। उसके साथ सेना भी थी। मालव संवत् ५२४ में अभिलिखित मंदसोर के लेख से यह विदित भी होता है। सेना के प्रवेश कर जाने से जिस देश की सेना रहती है उसका शासक, उस देश की राज-नीति में परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप से भाग लेने लगता है। किन्तु बाह्य रूप से यही लगता है कि वह स्वतन्त्र राज्य है। मालवा-दशपुर की यही दशा थी।[4] वहाँ के शासक अपनी परम्पराओं का पालन करते

१ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० २६५, नो० ४।
२ स्मिथ, अर्ली हि० इ०, पृ० ३२३-२६।
३ क्लासिकल एज, पृ० १०५।
४ वाकाटक गुप्त एज, पृ० १८१।

थे। वहाँ के सभी अभिलेखों में मालव संवत् का ही प्रयोग हुआ है और वहाँ के शासकों ने भी (अभिलेखों को देखने से स्पष्ट नहीं होता कि वे किसी के अधीन थे) किसी की अधीनता स्वीकार नहीं की। अपवाद के रूप में केवल मा० सं० ५२९ में अभिलिखित ऐक लेख है जिसमें कुमारगुप्त को पृथ्वी का शासक कहा गया है।[1]

स्कन्दगुप्त के लेखों और सिक्कों के स्वरूप और प्रकारों को देखने से उसके साम्राज्य के रूप को जाना जा सकता है। उसके जूनागढ़ लेख[2] से विदित होता है कि वह सौराष्ट्र का स्वामी था। इसकी पुष्टि सिक्कों से भी होती है। साम्राज्य के इस भाग में उसके चांदी के सिक्के प्रचुर मात्रा में मिले हैं।[3] स्कन्दगुप्त के सिक्के पश्चिमी भारत के अतिरिक्त बिहार,[4] बंगाल[5] और मध्यभारत[6] में भी मिले हैं। सम्भवतः इसीलिए डा० सिनहा ने कहा है कि स्कन्दगुप्त के राज्य का विस्तार सम्पूर्ण उत्तर भारत में था। इस प्रकार उसने अपने पिता और पितामह द्वारा शासित साम्राज्य को बनाये रखा।[7] गोरखपुर जिलांतर्गत कहाँव नामक स्थान से गु० सं० १४१ में अभिलिखित एक लेख[8] से यह अनुमान किया जा सकता है कि गुप्त साम्राज्यांतर्गत जितने नृपति थे वे सभी उसका अभिवादन करते थे। कहांव लेख में बड़े आलकारिक रूप से यह लिखा गया है कि 'अभिवादन के लिए झुकते हुए नृपतियों द्वारा वायु के जो झोंके उत्पन्न हुए, उसके कारण सारी

---

१ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० २८८ आगे।
'चतुस्समुद्रान्त विलोल मेखलां, सुमेरु कैलास वृहत्पयोधराम।
वनान्त वान्त स्फुट-पुष्प-हसिनीं, कुमारगुप्ते पृथिवीं प्रशासति।'

२ वही, पृ० २६६ आगे।

३ एलन, कैटलाग, भूमिका, पृ० ४८।

४ वही, न० ४२६. पृ० १३८।

५ ज० न्यू० सो० इ०, ७, पृ० १३ आगे।

६ एलन, कैटलाग, भूमिका, पृ० १०१।

७ डि० कि० म०, पृ० ४३।

८ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० १०८ आगे।

उपस्थान भूमि हिल गई।[१] इससे विदित होता है कि प्रभु शासकों के दरबारों में सामन्तों की उपस्थिति अपेक्षित थी।

स्कन्दगुप्त की अन्तिम ज्ञात तिथि गु० सं० १४८ है।[२] उसके पश्चात् गुप्त साम्राज्य का कौन उत्तराधिकारी हुआ विद्वानों में यह विवाद का विषय है।[३] किन्तु स्कन्दगुप्त के पश्चात् जिसने गुप्त साम्राज्य की बागडोर योग्यता से संभाला वह बुधगुप्त था। उसकी प्रारम्भिक ज्ञात तिथि गु० सं० १५७ है।[४]

इस बीच के ही काल में (गु० सं० १४८-१५७) गुप्त साम्राज्य के अनेक राज्यों ने अपनी स्वायत्तता की घोषणा कर दी। मालवा के दशपुर के शासक गुप्त-आधिपत्य से मुक्त हो गये थे। मालव संवत ५२४ में अभिलिखित मंदसौर के लेख की भाषा से यही विदित होता है कि यह प्रदेश गुप्तों के हाथ से निकल गया था, क्योंकि सर्वप्रथम इसी लेख में प्रभाकर (डा० एन० पी० चक्रवर्ती[५] ने बन्धुवर्मा का उत्तराधिकारी बतलाया है) के सेनापति दत्तभट के नाम का उल्लेख मिलता है, जो गोविन्दगुप्त के सेनाधिप वायुरक्षित का पुत्र था।[६] गोविन्दगुप्त इस प्रदेश में 'राजप्रतिनिधि' था।

---

१ कहांव लेख, पंक्ति १।

२ ज० रा० ए० सो०, १८८६, पृ० १३४।

३ इस विषय पर विस्तृत जानकारी के लिए देखिये, सिनहा, डि० कि० म०, चट्टोपाध्याय, अर्ली हि० ना० इ०, बसाक, हि० ना० ई० इं०, रायचौधरी, पो० हि० ए० इं०, मजूमदार, वाकाटक गुप्त गए, पृ० १८४-९३, उपाध्याय, गुप्त साम्राज्य का इतिहास, सालातोर, लाइफ इनगुप्त एज आदि।

४ सिलेक्ट इंस्क्रृप्शंस, पृ० ३२३।

५ एपि० इ०, २६, पृ० १३१, नो० ४. ए० बी० गर्दे (एपि० इ०, २७, १४-१५) ने इसको एक साधारण परिवार का बतलाया है जिसका किसी राजवंश से सम्बन्ध नहीं था। किन्तु चक्रवर्ती के ही विचार को यहाँ मान्यता दी जा सकती है। मिराशी (स्टडीज इन इंडोलाजी, १, पृ० २१०) ने भी इसको बन्धुवर्मा का वंशज बतलाया है। बधुवर्मा औलिकर कुल का बतलाया गया है (एपि०, इ०, २६, पृ० १३१, नो० ५)। इस प्रकार प्रभाकर भी इसी कुल का हुआ (मिराशी, वही)।

६ आर्क० सर्वे ई० १९२२-२३, पृ० १८७, एपि० ई०, २७, पृ० १२-१८।

इस प्रकार गुप्तों के किसी 'राजप्रतिनिधि' के न होने के कारण अथवा केन्द्रीय शासन की बागडोर किसी अशक्त हाथ में चले जाने के कारण स्वयं प्रभाकर वहाँ का शासक हो गया।[१] ५२९ मालव संवत् में अभिलिखित मंदसौर लेख से भी इसकी पुष्टि होती है।[२]

उत्तरप्रदेश और मध्यप्रदेश के कई राज्य स्वतन्त्र हो गये थे। सौराष्ट्र का प्रदेश जो कि स्कन्दगुप्त के ही काल में गुप्त सम्राट् के लिए सिरदर्द बन गया था उसके आँख मूँदते ही सम्भवत: ४७० ईसवी में वहाँ के सेनापति भट्टार्क के नेतृत्व में चक्रपालित के विरुद्ध विद्रोह कर दिया।[3] भट्टार्क अपने को 'मैत्रक' कहता है। विद्वानों ने इस शब्द पर अनेक अनुमान प्रकट किए हैं। भंडारकर,[४] कीलहार्न,[५] फलीट,[६] मांडलिक[७] आदि विद्वानों ने मैत्रकों को एक विदेशी जाति के अर्थ में लिया है जिसको भट्टार्क ने परास्त किया था। इन लोगों ने लेख के प्रसभप्रणतामित्राणाः मतुलबल संपन्न मंडला-भोगसंसक्त प्रहारशतलब्ध प्रतापात्.........श्री भट्टार्कात" अशुद्ध पाठ का अर्थ निम्नलिखित किया है "भट्टार्क ने विस्तृत भूभाग वाले मैत्रकों पर, जो बहुत बलशाली थे, युद्ध में सहस्रों बार विजय पाई। 'किन्तु हुल्श[८] ने (जिसके पाठ को आज सभी विद्वान् मानते हैं) इस अशुद्ध पाठ को शुद्ध किया। उनके अनुसार 'मैत्रक' विदेशी जाति नहीं थी जिसको भट्टार्क ने पराजित किया बल्कि भट्टार्क स्वयं इस 'मैत्रक' कुल का था। इस प्रकार 'मैत्रक' जातिवाचक नहीं बल्कि व्यक्तिवाचक है। हुल्श ने पाठ को शुद्ध करते हुए लिखा है 'वे लोग जो लेख में 'सपन्न' पढ़ते हैं उनके दिमाग में पहले से 'संपन्न' रहता है जो कि बाद के 'मैत्रक' अभिलेख में मिलता है। 'पाठ को शुद्ध करते हुए

---

१ एपि० इ०, २७, पृ० १५ लेख पंक्ति ८ श्लोक १०—
'गुप्तान्वयारिद्रुमधूमकेतुः प्रभाकरो भूमिपतिर्य्यमेंनम्।'

२ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० १६५, नो० ४।

३ डा० एस० आर० मजूमदार, क्रोनोलाजी आफ गुजरात, १९६०, पृ० १३३।

४ इ० ए०, १, पृ० १४।

५ वही, १४, पृ० ३२७-३०।

६ वही, ८, पृ० ३०३।

७ ज० बां ब्रां० रा० ए० सो०. ११, पृ० ३४६।

८ एपि० इ०, १८९४-९५, पृ० ३१८ आगे।

हुल्श ने लिखा है कि मैत्रकों के प्रारम्भिक लेखों में सपत्न 'लिखा है और बाद के लेखों में जो 'संपन्न' लिखा गया है वह लिपिकार की गलती की वजह से हो गया होगा। मुझे अपने पाठ पर पूर्ण विश्वास है क्योंकि 'सपत्न' 'मैत्रकाणाम्' शब्द का पूरक है जो कि क्रिया 'अभवत्' से इसको जोड़ता है, जो यहाँ छुट गया है, किन्तु जिसके होने से वाक्य पूर्ण होता है।[1] हुल्श के शुद्ध पाठ से लेख अब इस प्रकार हो गया, 'प्रसभप्रणतामित्राणं मैत्रकाणामतुलबल सपत्नमंडलाभोगसंसक्त प्रहारशतलब्ध प्रतापात्......श्री भट्टार्कात्।[2]

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि 'मैत्रक' भारतीय थे।[3]

प्रोफेसर जगन्नाथ ने इन मैत्रकों की उत्पत्ति के विषय में लिखते हुए इनकी समता 'मैत्रेयक' शब्द से बतलायी है[4] जिनका काम बड़े आदमियों का प्रशस्तिगान करना था। किन्तु डा० वीरजी[5] ने प्रोफेसर जगन्नाथ के इस मत का खंडन किया है। उनके अनुसार 'मैत्रक' और 'मैत्रेयक' शब्दो की व्युत्पत्ति भिन्न-भिन्न शब्दों से हुई। 'मैत्रक 'मित्र' से बना है और 'मैत्रेयक' की व्युत्पत्ति 'मित्रा से हुई। अतएव प्रो० जगन्नाथ के विचारों से सहमत नहीं हुआ जा सकता।[6]

डा० वीरजी ने 'मैत्रक 'की उत्पत्ति 'मित्र 'शब्द 'से बतलाते हुए लिखा है कि ये (मैत्रक) क्षत्रियों में यादववंशी थे और इनकी उत्पत्ति मथुरा के 'मित्र 'राजवंश से हुई। अपने इस निष्कर्ष के समर्थन में इन्होंने भंडारकर और शास्त्री के मतों को उद्धृत किया है।[7] इसके अतिरिक्त सुराष्ट्र में एक किंवदन्ती भी प्रचलित है जिसके अनुसार स्कन्दगुप्त के शासन

---

१ एपि० इ०, ३, पृ० ३१६।

२ वही, ध्रुवसेन प्रथम का गनेशगढ़ ताम्रलेख।

३ वीरजी (एंसेंट हिस्ट्री श्राफ सौराष्ट्र, पृ० १८) ने इनके विदेशी उत्पत्ति के सिद्धान्त का खंडन किया है।

४ इं० कं०, ५, पृ० ४०६।

५ ऐंसेंट हिस्ट्री श्राफ सौराष्ट्र, पृ० १६।

६ वही।

७ वही नो० ७।

काल में, 'गैहलोती' जाति का, उसका सेनापति भट्टार्क, जिसके पूर्वज अयोध्या के शासक थे गुप्तों द्वारा निकाल बाहर किये गये सुराष्ट्र में अपने शासन की स्थापना की। इसके दो वर्ष बाद ही स्कन्दगुप्त की मृत्यु हो गई। सेनापति ने भी राजा की उपाधि धारण कर ली और वलभी नगर की स्थापना की[१]। इस किंवदन्ती की सत्यता पर यदि विचार किया जाय तो इसकी निःसारिता सिद्ध हो जाती है क्योंकि अभिलेखों को देखने से यह नहीं विदित होता कि सेनापति भट्टार्क ने कभी नृपतियों की उपाधि धारण की थी। उस मत को भी ग्रहण नहीं किया जा सकता जिसमें यह कहा गया है कि भट्टार्क ने अपने नाम के सिक्के ढ़लवाये थे क्योंकि उन सिक्कों पर अंकित लिपि का पाठ ही संदेहास्पद है।[२] ऐसी दशा में यह कहना कि 'मैत्रकों' की उत्पत्ति मथुरा के 'मित्र' राजवंश से हुई होगी युक्तिसंगत नहीं। फिर ये 'मैत्रक' कौन थे ?

इस सम्बन्ध में लेखक का भी एक विचार है। मौर्यकाल के इतिहास पर दृष्टिपात करने से विदित होता है कि बिन्दुसार के काल में तक्षशिलावासियों ने मौर्य साम्राज्य के विरूद्ध विद्रोह किया। सम्राट् ने इस विद्रोह को शांत करने के लिए अपने पुत्र अशोक को भेजा। सम्राट की सेना को आते देख वहाँ के निवासी अशोक से मिले और बोले हम लोगों ने साम्राट के विरूद्ध विद्रोह नहीं किया है बल्कि इन दुष्ट मत्रियों के विरूद्ध किया है जिन्होंने हमारा अपमान किया।[३] इतना कह उनलोगों ने आत्मसमर्पण कर दिया[४]।

इस घटना को यदि सौराष्ट्र के मैत्रकों के परिप्रेक्ष्य में रखें तो विदित होगा कि इन मैत्रकों ने भी गुप्त साम्राज्य के विरूद्ध नहीं बल्कि चक्रपालित के विरुद्ध विद्रोह कियाहोगा।[५] और अपनी स्वामिभक्ति को प्रदर्शित करने के लिए ही उन्होंने 'मैत्रक' उपाधि को धारण की। 'मैत्रक' शब्द का अर्थ भी मित्रता होता है।[६] अपने लेखों में उन्होंने गुप्तों के प्रति आदरसूचक

१ इ०ए०, ३, पृ० ३१३।
२ ज०रा०ए०सो० ब० ले०,३, न्यू०सि०,पृ०६६ द्रष्टव्य परिशिष्ट ३
३ दिव्यावदान, कावेल और नील संस्करण, पृ० ३७१।
४ पो० हि० ए०इं०, पृ० ५६८।
५ मजूमदार, क्रोनोलाजी आफ गुजरात १६६० पृ० १३३०।
६ सस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ १६५० पृ० ६११।

शब्दों का प्रयोग भी किया है ।[१] भट्टार्क भी सेनापति ही बना रहा, उसने अन्य सामन्तों की भांति 'महाराज' अथवा 'महाराज महासामन्त 'आदि विरुद नहीं धारण किया । इससे यही विदित होता है कि गुप्त साम्राज्य के प्रति अपनी स्वामिभक्ति को प्रदर्शित करने के लिए ही उन्होंने ,मैत्रक' उपाधि को धारण किया था ।

बुन्देलखण्ड के नागोद-जसो राज्यों में परिव्राजक वंशियों ने भी अपने राज्य की स्थापना कर ली थी । इस वंश का प्रारम्भिक लेख गु० सं० १५६ में अंकित है ।[२] ये 'परिव्राजक' संभवत: इसलिए कहलाये क्योंकि ये 'परिव्राजक' नृपति सुशर्मा के वंशज थे ।[३] इस वंश के महाराज संक्षोभ के गु० सं० २०९ में अभिलिखित खोह ताम्रपत्र[४] लेख में पिष्टपुरिका देवी का उल्लेख हुआ है । अभिलेख में उल्लिखित देवी के इस नाम के आधार पर श्री दिलीपकुमार विश्वास ने परिव्राजक वंशियों की मूलभूमि खोजने का प्रयास किया है । उनके अनुसार भारत में बहुत प्राचीन काल से देवी-देवताओं के नाम किसी स्थान विशेष से सम्बन्धित रहे हैं और अक्सर उन देवी अथवा देवताओं के नाम उस स्थान विशेष से जोड़ दिये जाते हैं ।[५]

इसकी विवेचना करते हुए वे कहते हैं कि पिष्टपुर महाराज संक्षोभ और महाराज शर्वनाथ के राज्य के बाहर था, फिर उनके राज्य में इस देवी की प्रतिमा की स्थापना कसे सम्भव हुई ? इस प्रश्न का संभाव्य समाधान करते हुए श्री विश्वास ने कहा है कि पिष्टपुर से कुछ लोग मध्यभारत की ओर प्रस्थान किये होंगे और अपने राज्य की स्थापना कर अपनी स्थानीय देवी की प्रतिमा की स्थापना की होगी । जातियों के इस प्रकार के संक्रमण को गुप्त काल में आम प्रवृति बतलाया है । प्रमाण के लिए श्री विश्वास ने बंधुवर्मा के मंदसौर प्रस्तर लेख को उद्धृत किया है जहाँ लाट से जुलाहों का

---

१ सिलेक्ट इस्क्रप्संस पृ० ४० नो० ३ ।

२ का० इ० इ०, ३, पृ० ९३ ।

३ सिलेक्ट इन्स्क्रप्शंस, पृ० ३७५ ।

४ का० इ० इ०, ३ न० २५ ।

५ इ० हि० क्वा०, २१, पृ० १३६ ।

एक दल दशपुर में आकर बस जाता है और सूर्यमंदिर की स्थापना भी करता है ।[1]

किन्तु लेख की भाषा देखने से यह विदित नहीं होता कि 'परिव्राजक' महाराजाओं का मूलनिवास पिष्टपुर में था । संक्षोभ के तथोक्त लेख में केवल इतना कहा गया है कि उसने पिष्टपुरिका देवी के मंदिर के निर्माण-के हेतु छोड्डुगोमिन नामक व्यक्ति को अनुदान दिया था । इसके अतिरिक्त इस देवी का 'परिव्राजकों' के लेखों में केवल एक जगह उल्लेख हुआ है और वह भी महाराज संक्षोभ के गु० सं० २०९ में अभिलिखित खोह लेख में । ऐसी दशा में हम यही कह सकते हैं कि जिस प्रकार मंदसोर में जुलाहों का एक दल आकर बस गया था उसी प्रकार 'परिव्राजकों' के राज्य में भी कोई दल पिष्टपुर से आकर बस गया होगा । इस प्रकार 'परिव्राजकों' के मूल-निवास का प्रश्न बना रह जाता है ।

स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् और बुधगुप्त के सिंहासनारूढ़ होने तक गुप्त साम्राज्य के राजनीतिक ढाँचे में इस प्रकार हम थोड़ा परिवर्तन देखते हैं । दशपुर ने गुप्त शासन का जुआ उतार फेंका था ।[3] किन्तु सौराष्ट्र में 'मैत्रक' और मध्यप्रदेश के आटविक राज्य के 'परिव्राजक' महाराज गुप्त-सत्ता के प्रति थोड़ा भक्ति-भाव रखते थे । इसीलिए अपने लेखों में उन्होंने गुप्तों के प्रति सम्मान सूचक शब्दों का प्रयोग किया है । बुधगुप्त जब शासनारूढ़[4] हुआ तो उसे गुप्त साम्राज्य की ढहती इमारत को ही संभालने में लगना पड़ा । कालिन्दी और नर्मदा पर्यन्त के प्रदेशों के शासन के लिए उसने सुरश्मिचन्द्र[2] को, 'राजप्रतिनिधि' के रूप में, नियुक्त किया । 'राज-प्रतिनिधियों' को सामन्त राज्यों के साधारण निरीक्षण और नियंत्रण का अधिकार रहता था । सुलेमान सौदागर के कथनानुसार सामन्त नृपति इन

१ वही पृ० १४० ।
२ का० इ० इ०, ३, नं० २५ ।
३ वाकाटक गुप्त एज, पृ० ३२५ ।
४ बुधगुप्त के शासन का प्रारम्भिक लेख, १५७, गु० स० में लिखित है (सिले-क्ट इंस्क्रप्शस, पृ० ३२३) ।
५ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० ३२७ ।

प्रतिनिधियों को अगवानी सम्राटोचित सम्मान से ही करते थे।[१] ये प्रतिनिधि गुप्तचरों द्वारा बराबर सामान्त नृपतियों की राजनीतिक गतिविधियों की सूचना रखते थे।

एरण प्रदेश पर जो कभी गुप्तो का स्वभोग नगर [२] था इस काल में मैत्रायणीय शाखा के ब्राह्मण मातृविष्णु और धन्यविष्णु राज्य कर रहे थे।[३] इन्हीं के लेख में महाराज सुरश्मिचन्द्र का उल्लेख भी हुआ है।

सुरश्मिचन्द्र की ही भाँति महाराज लक्ष्मण की भी नियुक्ति सम्भवतः 'राजप्रतिनिधि' के रूप में हुई थी। कौशाम्बी और बघेलखंड इलाके की राजनीतिक गतिविधियों पर नजर रखने के लिए ही सम्राट्र ने इसकी नियुक्ति की होगी क्योंकि बुधगुप्त के अंतिम दिनों में बघेलखंड इलाके में 'पांडुवंशियों' ने अपना राज्य स्थापित कर लिया था।[४] महाराज लक्ष्मण के दो लेख मिले हैं।[५] दोनों पर किसी संवत् का १३८ अंकित है।[६] इसकी राजधानी जयपुर थी। किन्तु आधुनिक जयपुर को देखते हुए इस जयपुर की अवस्थिति ज्ञात नहीं हो सकी है।[७]

बंगाल के शासक भी अधिकार की मांग करने लगे थे। बंगाल के शासक, जो सम्भवतः स्कन्दगुप्त के काल तक 'उपरिक'[८] कहलाते थे, अब उपरिक महाराज कहलाने लगे।[९] इसके अतिरिक्त बंगाल का राजनीतिक सूत्र भी गुप्तों के हाथ से धीरे-धीरे निकलने लगा, क्योंकि बुधगुप्त को कम ही समय के अंतर पर सम्भवतः एक को हटाकर दूसरे 'उपरिक महाराज' की नियुक्ति करनी पड़ी

---

१ अल्तेकर, प्रा० भा० शा० प० पृ० २७२।
२ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० २६२।
३ वही, पृ० ३२७।
४ क्लासिकल एज, पृ० ३१।
५ एपि० इं०, २ पृ० ३६४, आर्कें० सर्वे० इं० १९३६-३७, पृ० ८८।
६ क्लासिकल [एज, पृ०, ३१ सिनहा, डि० कि० म०, पृ० ७६, भिन्न मत के लिए देखिये मिराशी (स्टडीज इन इंडोलाजी, १ पृ० २१६ नो० २)। इन्होंने लेख को शक संवत् में अंकित माना है।
७ क्लासिकल एज पृ० ३१
८ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस पृ० २६३, २८५।
९ वही, पृ० ६२४, ३२८

थी। गुप्त संवत् १६३ में पुंड्रवर्धन भुक्ति का 'उपरिक महाराज 'ब्रहमदत्त था।[१] किन्तु कुछ ही कालोपरान्त उसको (बुधगुप्त को) जयदत्त की नियुक्ति वहां करनी पड़ी।[२] इस प्रकार यह सूचित करता है कि बंगाल पुन: विरोधी होने लगा था। अपनी बात की पुष्टि के लिए हम विजयसेन के मल्लसारुल ताम्रपत्र लेख[3] को उद्धृत कर सकते है। इस लेख में वह 'महाराजाधिराज' गोपचन्द्र का वर्धमान भुक्ति में प्रशासन बतलाया गया है।[४] इस विजयसेन का समीकरण विद्वानों ने वैण्यगुप्त के गुप्त संवत् १८८ में लिखित गुणैघर ताम्रपत्र लेख[५] के 'महाराज श्री महासामन्त' विजयसेन से किया है।[६] एक बात यहाँ ध्यान देने योग्य है, वह यह कि जहाँ गुणैघर लेख में विजयसेन को 'महाराज श्री महासामन्त' उपाधि से विभूषित किया है वहीं मल्लासारुल लेख में उसको केवल 'महाराज'[७] विरुद से अभिहित किया गया है। अब प्रश्न यह है कि विजयसेन की राजनीतिक स्थिति क्या थी। इस का समाधान तब हो जाता है जब हम मल्लसारुल लेख के विजयसेन को अपने नाम का मुद्रांकन करते हुए पाते हैं।[८] मुद्रांकित करने का यह अधिकार उसको इसके पूर्व नहीं था।[९]

किन्तु जर्जर हो रहे गुप्त-साम्राज्य को बुधगुप्त ने अपने जीवन काल तक सम्भवत: ५०० ई० तक,[१०] सभाले रखा। उसकी अन्तिम ज्ञात तिथि गुप्त सं० १७५ है जो कि उसके सिक्के पर अंकित है।[११] बुधगुप्त के लेख

---

१ वही, पृ० ३२४।
२ वही, पृ० ३२८।
३ वही, पृ० ३५६।
४ वाकाटक गुप्त एज, पृ० २१०।
५ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० ३३१।
६ वही, पृ० ३५६, नो० ५, सिनहा, डि० कि० म०, पृ० १०१ क्लासिकल एज, पृ० ७७।
७ लेख, पंक्ति, १६।
८ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, प्लेट, ४८।
९ डि० कि० म०, पृ० १०३।
१० वाकाटक गुप्त एज, पृ० १८६।
११ एलन, कैटलाग, पृ० १५३, नो० ६१७।

सारनाथ,[1] पहाड़पुर,[2] बनारस,[3] दामोदरपुर,[4] एरण[5] और नालंदा[6] में मिले हैं। इन लेखों से विदित होता है कि तथोक्त प्रदेश उसके अधिकार में थे।[7]

बुधगुप्त इन प्रदेशों के शासन की व्यवस्था में जब लगा हुआ था उस समय सौराष्ट्र में शासन-सूत्र मैत्रक भट्टार्क के हाथ में था। भट्टार्क के सम्बन्ध में प्राय: सभी मैत्रक कुल के अभिलेखों[8] में यह वर्णन मिलता है कि उसने 'राजश्री' को अपने सेवकों, मित्रों और श्रेणियों की सहायता से प्राप्त किया था।[9] इससे प्रो० निहाररंजन रे ने यह अनुमान किया कि भट्टार्क सम्भवत: बहुत शक्तिशाली एवं प्रभावशाली कुल का वंशज था।[10] किन्तु श्री एन०जी० मजूमदार ने इस पंक्ति का अर्थ भिन्न किया है जो तर्कसंगत भी है। उनके अनुसार ये शब्द हिन्दू राजतन्त्र की पारिभाषिक शब्दावलियाँ हैं। बल का अर्थ सेना है और यह सेना चार प्रकार की थी, मौल, भृत, मित्र और श्रेणी।[11] इन श्रेणियों का तत्कालीन राजनीति में काफी महत्वपूर्ण योगदान था। इनके महत्व को हम इतने से ही समझ सकते हैं कि जब अभिषेक के समय शासक ब्रह्मणों एवं अन्य प्रजाजनों को प्रणाम करते हुए श्रेणी मुख्यों और उनकी पत्नियों को भी प्रणाम करता था और उसके आशीर्वाद की

---

१ का० इं० इं०, ३, पृ० १६७-६८. इं एं०, १४, पृ० ३२६, एपि० इं०, ३, पृ० ३२२।

२ मौलभृतमित्रश्रेणी वलावाप्त राज्यश्रिः।

३ इं० हि० क्वा०, ४, पृ० ४६१।

४ इं० एं०, ४८, पृ० २०७।८।

५ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० ३२३।

६ वही, पृ० ३४६।

७ ज० रा० ए० सो० बं० ले०, १५. पृ० ५।

८ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० ३२४, ३२८।

९ वही, पृ० ३२६।

१० मे० आर्कि० सर्वे० इं०, नं० ६६, पृ० ६४।

११ डि० कि० म०, पृ० ७४-७७।

आशा करता था ।[१] इस प्रकार भट्टार्क ने जब सौराष्ट्र के गवर्नर के विरुद्ध विद्रोह किया तो उसको मौल, भृत, और श्रेणियों का बल भी प्राप्त था । किन्तु विद्रोह कर सौराष्ट्र गुप्त साम्राज्य से अलग नहीं हुआ । भट्टार्क, जिसके नेतृत्व में यह विद्रोह हुआ, केवल सेनाधिप ही बना रहा । इससे भी यही सूचित होता है कि उसने अत्याचारी गवर्नर के विरुद्ध विद्रोह किया था ।

मैत्रक वंशतालिका से विदित होता हैं सेनापति भट्टार्क के पश्चात् उसका ज्येष्ठपुत्र धरसेन प्रथम वलभी का शासक हुआ । यदि भट्टार्क के शासनकाल को बीस वर्ष आंका जाय तो उसका शासन काल ४९० ई० तक जाता है । धरसेन के विषय में हमें कोई निश्चित जानकारी नहीं है । अतएव उसके तिथि के सम्बन्ध में जो कुछ भी कहा गया है, सब अनुमानाश्रित है । किन्तु १८३ गु० सं० के पूर्व ही धरसेन को हम रखेंगे क्योंकि गु० सं० १८३ द्रोणसिंह की प्रारम्भिक ज्ञात तिथि है । और प्रत्येक शासक का प्राय: बीस वर्ष शासन काल निर्धारित किया गया है । इसी आधार पर हमने भट्टार्क के शासन काल को निर्धारित कर शेष जितना समय बच जाता है उसको उसके ज्येष्ठ पुत्र धरसेन प्रथम के लिए निर्धारित कर दिया है ।

धरसेन प्रथम ने अपनी शक्ति को बढ़ाने का कुछ प्रयास भी किया । वाकाटकों से अपने राज्य की सुरक्षा के लिए सम्भवत: उसने उनसे कोई संधि की । वाकाटक अपने राज्य विस्तार में लगे हुए थे । 'मैत्रकों' को भी जनता का सहयोग प्राप्त था ।[२] दोनों राज्यों को इस प्रकार एक दूसरे की शक्ति से भय था । अतएव उन्होंने वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर कोई अनाक्रामक संधि की हो तो आश्चर्य नहीं । इस काल में वाकाटकों का शासक हरिषेण (ईसवी ४७५-५१०)[3] था । उसके अजन्ता लेख[४] से विदित

---

१ वीरमित्रोदय, पृ० ११४ मित्र मिश्र ।

ततस्तु दर्शनं देयं ब्रह्मणानां नृपेण तु । श्रेणी प्रकृतिमुख्यानां स्त्रीजनं च नमस्करेत आशिषस्ते हि दास्यति——।

२ देखिये, पीछे ।

३ वाकाटक गुप्त एज, पृ० १२१ ।

४ आर्के० सर्वे०, इं० १४, पृ० ११ ।

होता है कि उसका प्रभाव कुन्तल, अवन्ति, कलिंग, कोशल, त्रिकूट, आंध्र आदि देशों पर भी था।[1] इन दोनों कुलों में विवाह सम्बन्ध था इसका अनुमान हम देवसेन के 'दर्शनसार' से करते हैं जिससे विदित होता है कि वलभीपुर के ध्रुवसेन (प्रथम) का उज्जैनी की राजकन्या चन्द्रलेखा से विवाह हुआ था।[2] वीरजी[3] ने वाकाटक नृपति हरिषेण को उज्जैनी का शासक बतलाया है। हरिषेण के होने की सम्भावना भी अधिक है क्योंकि नरेन्द्रसेन के काल से ही वाकाटकों का नर्मदा के उत्तरी भाग के प्रदेशों पर आक्रमण होने लगा था।[4] स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् दशपुर का प्रदेश स्वतन्त्र हो गया।[5] स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् इस प्रदेश की राजनीतिक हलचलों का पता भी नही चलता। अतएव बहुत सम्भव है कि अवन्ति प्रदेश जिसमें पश्चिमी मालवा का प्रदेश भी सम्मिलित था, वाकाटकों के हाथ में चला गया हो और 'दर्शनसार' के कथनानुसार ध्रुवसेन[6] ने जिस उज्जयिनी के शासक की पुत्री से विवाह किया था वह वाकाटक वंशी ही रहे हो।

सौराष्ट्र की ही भांति (बुधगुप्त के जीवनकाल में) बुंदेलखण्ड पर परिव्राजक महाराजाओं का शासन था। इस वंश का प्रारम्भिक लेख १५६ गुप्त संवत् में अंकित है।[7] इससे विदित होता है कि ४७५ ई० में इस प्रदेश पर परिव्राजक महाराज हस्तिन् का शासन था। इसके अब तक ६

---

१ संदर्भों के लिये देखिये मिराशी, नागपुर युनिवर्सिटी जर्नल, दिसं० १९४०,६ पृ० ४१ आगे, विश्वास, इं० क्वा ७, पृ० ३७२; आगे, वाकाटक गुप्त एज, पृ० १२१।

२ सी० जी० शाह, जैनिज्म इन नार्थ इंडिया, पृ० ६८।

३ एसेन्ट हिस्ट्री आफ सौराष्ट्र, पृ० २७।

४ वाकाटक गुप्त एज, पृ० ११७।

५ देखिये पीछे।

६ ध्रुवसेन भट्टार्क का तृतीय पुत्र था। वह अपने भाई द्रोणसिंह के पश्चात् संभवतः २०६, गु० सं० में बलभी का शासक हुआ।

७ का इं० इं०, ३०, पृ० ९३।

लेख ज्ञात हो सके हैं ।[१] इन लेखों से परिव्राजकों के वंश क्रम का भी पता चलता है । महाराज हस्तिन् के गु० सं० १७० में अभिलिखित एक लेख से ज्ञात होता है कि परिव्राजकों का आदिपुरखा देवाढ्य था ।[२] उसके पश्चात् उसका पुत्र प्रभंजन और उसका दामोदर हुआ । दामोदर का पुत्र हस्तिन् प्रतापी हुआ ।[३] साधारणत: प्रत्येक शासक के शासनकाल को बीस–बीस वर्ष निर्धारित किया गया है । इस सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर डा० राजबली पांडेय ने महाराज हस्तिन् के पूर्वजों के शासनकाल को निश्चित किया है ।[४] महाराज हस्तिन् के पूर्वजों के शासनकाल को बीस–बीस वर्ष निर्धारित कर पांडेय जी ने देवाढ्य के काल को गुप्त संवत् ९५ से गु० सं० ११६ तक निश्चित किया है ।[५]

गुप्त सम्राटों के प्रति केवल सम्मानसूचक शब्दों के प्रयोग करने एवं तत्कालीन शासक के नाम को लेख में अंकित न करने के कारण डा० पी० टी० बनर्जी ने यह कहा है कि सैद्धांतिक रुप से गुप्तों के अधीन होने के बावजूद परिव्राजक महाराज व्यवहारिक रुप से पूर्ण स्वतन्त्र थे । उन्ह सिक्के ढालने तक का अधिकार प्राप्त था ।[६] इस बात को ध्यान में रखकर बनर्जी ने रण हस्तिन् के चांदी केपांच सिक्कों को परिव्राजक महाराज हस्तिन् का बतलाने की चेष्टा की है । अपनी स्थापना की पुष्टि के लिए उन्होंने स्मिथ[७] और रेप्सन[८] के विचारों को उद्धृत किया है । स्मिथ ने लिपिशास्त्र

१ हस्तिन् के लेख क्रमशः गु० सं० १५६, १६३, १७०, १६१, १६८, एवं एक बिना तिथि का मिला है। ये सभी फ्लीट के कॉर्पस इं इं० में पृ० ६३, १००, १०६, ११० और, एपि० इं० २१, पृ० १२४, २८ पृ० २६६ में संगृहीत है ।

२ देखिये, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ४३, पृ० ४०१।

३ एपि०इं०, २८, पृ० २३५ (महाराज हस्तिन् का गु०सं० १७० में अंकित लेख

४ वही, पृ० २६५।

५ वही।

६ ज०न्यु० सो०इं०, १३, पृ० १६६।

७ स्मिथ, कैटलाग, पृ० ११८, टिप्पणी १।

८ इंडियन क्वाइंस, पृ० २८।

के अधार पर इन सिक्कों का काल ५ वीं शती ई० निर्धारित किया है ।[१] बनर्जी स्मिथ से दो शब्द आगे कह जाते हैं । उनके अनुसार सिक्कों पर अंकित लेख पांचवी—छठी शती ईसवी की उत्तर भारतीय लिपि में अंकित हैं । उनकी लिपि वैसी ही है जैसी लिपिक् परिव्राजक महाराज हस्तिन् के खोह और नवग्राम ताम्रलेख और यशोधर्मन् के मंदसोरप्रस्तर लेख पर पायी जाती है । अतएव लिपिशास्त्र के आधार पर इन सिक्कों का काल पांचवीं शती के अंत और छठी शती ईसवी के प्रारम्भिक काल में निर्धारित किया जा सकता है । इस काल में इन सिक्कों के रणहस्तिन् नाम से मिलता–जुलता दूसरा नाम परिव्राजक हस्तिन् का था । अपने इस कथन की पुष्टि में बनर्जी ने रैप्सन के मत को उद्धृत किया है जहां रैप्सन[२] ने रणहस्तिन् का समीकरण परिव्राजक महाराज हस्तिन् से किया है । बनर्जी ने सिक्के के 'रण' को हस्तिन् का विरूद्ध बतलाया है और इसका अर्थ रण कुशली अथवा रणविजयी हस्तिन् लगाया है । इस प्रकार उन्होंने 'रण' को महान् योद्धा के अर्थ में लिया है । अपने मत की पुस्टि के लिए लेखक ने परिव्राजक लेखों में हस्तिन् के लिए प्रयुक्त "नैक समर शत विजयी" का भी उद्धरण दिया है । अतएव (बनर्जी के अनुसार अधिक संभावना यही है कि सिक्कों का रणहस्तिन् परिव्राजक हस्तिन् ही रहा हो ।[3]

किन्तु सिक्के के रणहस्तिन् का समीकरण बहुत विवादग्रस्त विषय बन गया है । अतएव जब तक इन सभी मतों का मूल्यांकन नहीं कर लिया जाता तब तक इन सिक्कों को परिव्राजक महाराज हस्तिन् का नहीं बतलाया जा सकता । परिब्राजक महाराज हस्तिन् को रणहस्तिन् के सिक्कों से समीकृत करने के विरुद्ध सर्वप्रथम डा० त्रिवेदी ने कहा ।[४] उनके अनुसार

---

१ स्मिथ, कैटलाग, पृ० ११८ ।

२ इंडियन क्वायंस, पृ० 28 (बनर्जी ने अपने मत के प्रतिपादन के लिए केवल अपने मतलब की बात का संकेत इस पुस्तक में किया है, रैप्सन ने इस समीकरण के प्रति संदेह भी व्यक्त किया)

३ ज०न्य० सो०इं०, १३, पृ० १६५ ।

४ वही, १६, पृ० २८३ ।

पहला कारण नाम है, 'हस्तिन्' और 'रणहस्तिन्' दो नाम हैं। दूसरा कारण सिक्कों के प्राप्ति स्थान को लेकर है। पाँच ही सिक्के हैं किन्तु भिन्न-भिन्न स्थानों से पाये गये हैं—हस्तिन् के राज्य से सर्वथा दूर। रणहस्तिन् के ही सम्बन्ध में लिखते हुए डा० त्रिवेदी ने कहा है कि इस शासक को ऐतिहासिक स्थिति के विषय में कुछ कहने से पूर्व हमें इसके सम्बन्ध में और सामग्रियों का संकलन कर लेना चाहिए, विशेषकर निधि के सम्बन्ध में हमे पूर्ण जानकारी होनी चाहिए।[1]

श्री दशरथ शर्मा ने इस रणहस्तिन् का समीकरण 'प्रतिहारवंशी' वत्सराज (७७८-७८८ ई०) से किया है जिसने रणहस्तिन् विरुद धारण किया था।[2] इसके सिक्कों के पाये गये स्थानों से भी शर्मा जी ने यही सिद्ध किया है कि यह रणहस्तिन् वत्सराज ही था।[3] डा० परमेश्वरीलाल गुप्त ने भी इस रणहस्तिन्का काल आठवीं शती ईसवीं में निश्चित किया है।[4] डा० त्रिवेदी इसको परिव्राजक महाराज हस्तिन का सिक्का मानते ही नहीं। इस प्रकार शर्मा जी के ही मत का यहाँ एक तरह से प्रतिपादन होता है।[5] किन्तु तब तक इस विषय पर कुछ नहीं कहा जा सकता है जब तक हमें इस शासक के सिक्कों की निधि नहीं मिल जाती है जिसके प्राप्ति स्थान की हमें पूर्ण जानकारी भी हो। ऐसी दशा में हम यही कहेंगे कि रणहस्तिन विरुद वाले सिक्के परिव्राजक महाराज हस्तिन् के नहीं थे।

बुधगुप्त के अंतिम दिन सम्भवतः चैन से नहीं कटे। बघेलखण्ड प्रदेश के रीवां राज्य के बह्मनी नामक स्थान से प्राप्त एक ताम्रलेख[6] से मैकल के

---

१ ज० न्यू० सी० इं०, १६, पृ० २८३
(Before anything be postulated indicating a correct historical position about this ruler, we should await more material, preferably in the nature of a genuine hoard with Precise record of its find place).

२ वही, १८, पृ० २२।

३ वही, पृ० २२३।

४ वही, २०, पृ० १६०।

५ वही, पृ० १६०।

६ भारत कौमुदी, १, पृ० २१५. एपि० इं०, २७, पृ० १३२-१४५।

चार 'पांडुवंशियों' का पता चलता है। वे जयबल, उसका पुत्र वत्सराज, वत्सराज का पुत्र द्रोण भट्टारिक से उत्पन्न महाराज नागबल और नागबल का पुत्र रानी इंद्रभट्टारिका से उत्पन्न महाराज भरत अथवा भरतबल जिसको इन्द्र भी कहा गया है। सम्भवतः इन्द्बल।[1] इन चार में से अन्तिम दो शासकों को महाराज उपाधि से अभिहित किया गया है। इसके अतिरिक्त वे 'परम माहेश्वर' 'परम ब्रह्मण्य' और 'परमगुरू देवताधिदेवत विशेष' विरुद भी धारण करते थे।[2]

लिपिशास्त्र के आधार पर डा० सरकार ने इस लेख का काल पांचवीं शती ईसवी के अंत और छठीं शती ईसवी के प्रारम्भ में निश्चित किया है।[3] प्रथम दो नृपतियों के लिए किसी विरुद अथवा उपाधि के प्रयुक्त न होने के कारण डा० सरकार ने उनको गुप्त सम्राटों के अधीन सामन्त बतलाया है। किन्तु अंतिम दो शासकों के सम्बन्ध में उन्होंने कहा है कि जब गुप्त साम्राज्य ह्रासोन्मुख था[4] उसी समय इन दोनों ने गुप्त शासन की जुआ को अपने कंधे से उतार फेंका। यह ह्रासोन्मुख काल बुधगुप्त का अन्तिम दिन ही था।

किन्तु इन 'पाण्डुवंशियों' के निश्चित तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। डा० छाबड़ा[5] ने भरतबल को नरेन्द्रसेन वाकाटक (ई० ४५०-७०) का समसामयिक बतलाया है। उनके इस सम्भावना का मुख्य आधार अभिलेख[6] में आये कुछ शब्द हैं जिनको उन्होंने 'श्लेषात्मक' बतलाया है। डा० छाब्रा की इस सम्भावना को डा० मिराशी ने भी माना है।[7]

---

१ क्लासिकल एज, पृ० २२२।
२ एपि० इं०, २७, पृ० १३६।
३ क्लासिकल एज, पृ०।
४ वही।
५ एपि० इं०, २७, पृ० १३७।
६ वही, पृ० १४२, लेख श्लोक ११—योसौ संपूर्णशक्तित्रयविनिपतितानेकसामन्तमूर्द्धप्रोद्धृष्टोत्फुल्लपपर्दतिचलनयुगाक्रान्तदिक् चक्रवालः। सौम्यः सौयंच वंशः प्रभव इति जने कार्त्यते यस्य चोच्चैः स श्रीमान् सवभु बस्नतियं गुणगणो दीर्णवैरो नरेन्द्र.॥
७ मिराशी, स्टडीज इन इंडोलाजी, १, पृ० २१२-१६।

डा० मिराशी ने भरतबल का शासन-काल ई० ४६०-८० तक आंका है और नरेन्द्रसेन (ई० ४५०-७०), वाकाटक नृपति, को भरतबल का अधिपति बतलाया है। अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने नरेन्द्रसेन के पुत्र पृथिवी षेण द्वितीय के बालाघाट लेख[1] को उद्धत किया है जिसमें नरेन्द्रसेन के शासनान्तर्गत कोशल, मेकल और मालवा पर्यन्त के प्रदेशों को बतलाया गया है। किन्तु बालाघाट-लेख[2] के नरेन्द्रसेन का बम्हनी-लेख के 'नरेन्द्र' से समीकरण नहीं किया जा सकता। डा० छाब्रा ने भी, जिन्होंने बम्हनी लेख को सपादित किया है, लेख के 'नरेन्द्र' को श्लेषात्मक बतलाते हुए इसका नरेन्द्रसेन वाकाटक से समीकरण पर केवल एक सम्भावना व्यक्त किया है। सम्भवत: इसीलिए उन्होंने भी इस पंक्ति का अनुवाद करते समय 'नरेन्द्र' को नरेन्द्रसेन के अर्थ में नहीं ग्रहण किया। अनुवाद में उन्होंने इस शब्द को भरतबल के लिए प्रयुक्त किया है।[3] फिर नरेन्द्रसेन की इन विजयों को जिसका उल्लेख बालाघाट लेख में हुआ है एकदम प्रामाणिक भी नहीं कहा जा सकता। प्रशस्ति है, अतिरंजना की भी सम्भावना हो सकती है। दूसरे मेकल-प्रदेश के पुष्यमित्रों[4] का ही स्कन्दगुप्त ने दमन किया था और शासन की सुव्यवस्था के लिए उसने अपने प्रतिनिधियों की भी नियुक्ति की थी। रीवां और मकल (उत्तर राष्ट्र)[5] प्रदेश की राजनीतिक गतिविधियों को देखने के लिए साम्राज्य के प्रतिनिधि कौशाम्बी से शासन करते थे। स्कन्द-गुप्त के काल में भीमवर्मा कौशाम्बी का प्रशासक था।[6] बुधगुप्त के काल म महाराज लक्षमण इस प्रदेश का प्रशासक था। अतएव बुधगुप्त के अन्तिम दिनों में ही यह प्रदेश गुप्त-सत्ता से अपने को स्वतन्त्र कर सका होगा। ऐसी दशा में भरतबल के काल को बुधगुप्त के अन्तिम दिनों में ही निर्धारित करना युक्तिसंगत होगा। और हम देखते भी हैं कि इसी-काल में बुन्देलखण्ड

---

१ वही. पृ० २१७।

२ एपि इं०, ६, पृ० २६७।

३ वही, २७, पृ० १४५।

४ देखिए, पो० हि० एं० इं०, पृ० ५६६।

५ एपि० इं०, २७ पृ० १३८

६ देखिये, पीछे।

और बघेलखण्ड इलाके में कई राज्यों ने अपनी स्वतंत्रता की घोषणा भी की थी। उत्तरप्रदेश के बांदा जिलान्तर्गत कालंजर प्रदेश में किसी पांडुवंशी उदयन ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा की थी। उच्चकल्प के महाराज तो (१७४ + ३१९ – ईसवी ४९३) इसी समय अपने को गुप्त शासन की जुआ से मुक्त कर सके थे[1] और बुधगुप्त की अन्तिम ज्ञात तिथि गु० सं० १७५ है। अतएव इन राजनीतिक गतिविधियों को देखते हुए यही कहा जा सकता है कि भरतबल, जिसका बह्मनी लेख उसके शासन-काल के द्वितीय वर्ष में संपादित किया गया था, का काल उच्चकल्पों के प्रारम्भिक लेखों की ज्ञात तिथियों के आसपास ही रहा होगा। अर्थात् वह ई० ४९२-९३ के लगभग गुप्त शासन के जुए को उतार फेकने में सफल हुआ होगा। इस प्रकार बम्हनी लेख, जो उसके शासन के द्वितीय वर्ष में लिखा गया काल ४९५ ईसवी हुआ।

काल—निर्धारण के अतिरिक्त इनका वंश—निर्धारण भी करना श्रेयष्कर होगा। इनके अभिलेख से यह विदित होता है कि ये पाण्डवकुल के थे।[2] इस वंश के जयबल का भी कोई पूर्वज था अथवा नहीं इस पर विद्वानों में मतभेद है। इस विषय पर लिखते हुए डा० मिराशी ने कहा है कि जयबल के पूर्वज थे और वे मघों के सेनापति रह चुके थे। उनके नाम भद्रबल और वैश्रवण थे। मिराशी के इस निष्कर्ष का मूलाधार 'पाण्डुवंशियों' के नामों के अन्त में प्रयुक्त 'बल' शब्द है।[3] भद्रबल के नाम के अन्त में भी 'बल,शब्द है। किन्तु डा० अल्तेकर[4] के अनुसार भद्रबल भद्रमघ का छोटा भाई था। इस प्रकार उन्होंने यह बतलाने की चेष्टा की है कि भद्रबल जिसे अभिलेखों में' महासेनापति 'और राजन 'उपाधि से सम्बोधित किय गया है, वस्तुतः 'मघ, कुल का था। परन्तु डा० मिराशी

---

१ उच्चकल्प के महाराज किसके सामन्त थे यह विवाद का विषय है। इसी अध्याय में हम आगे इस पर विचार करेंगे।

२ एपि० इं० २७, पृ० १४० लेख, पंक्ति १।

३ स्टडीज इन इण्डोलाजी, १, पृ० २१-४१५।

४ ज०गं० झा रि०इं०, १, पृ० १५८।

के कथन की ओर यदि हम दृष्टिपात करें तो बात स्पष्ट हो जायेगा कि ये 'मघ' कुल के नहीं बल्कि बहनी लेख के 'पाण्डुवंशियों के पूर्वज थे।[1]

डा० छाबड़ा और मिराशी ने भरतबल को वाकाटक नृपति नरेन्द्रसेन का समसामयिक बतलाते हुए भरतबल का काल ईसवी ४६० निर्धारित किया है[2]। और प्रत्येक शासक का कम से कम २०—२० वर्ष शासन-काल निर्धा-

---

१ स्टडीज इन इण्डोलाजी, १, पृ० २१५।
"Dr. Altekar on the other hand, supposes that Bhadrabala was probably a junior member of the family, possibly a younger brother of Bhadramagha, Neither of there explanations appears convincing, for, the title Mahasenapati of Bhadrabala occurs in a record of his son Rajana vaisravan. If this Bhadrabala was identical with Maharaja Bhadramagha his son Vaisravan would, no doubt, have used the higher title Maharaja while referring to, him. Even if we suppose that Bhadrabala did not come to the thone but his son Vaisravan succeeded Shivamagha as conjectured by Dr. Altekar, it looks strange that he should use the lower title of Rajan in his record at Bandhogarh; for, even in the Kosam inscription of the year 107 which belongs to the early part in his reign he uses the title Maharaja. Rajan Vaisravana's inscription is not dated and as it has not yet been published, it is not possible to conjecture the period in which he flourished from the evidence of palaeography. It seems however that Bhadrabala was only an army commanader or the contemporary Magha. king His son Vaisravan who bears the title of Rajan may have been ruling over a small princicpality near Bandhogarh where he has left two undated inseriptions. These two appear to have been the ancestors of jayabala, the first king of the pandava dynasty mentioned in the Bahmani plates.

२ एपि० इं०, २७, पृ०१३८, स्टडीज इन इण्डोलाजी, १, पृ० २१७।

रित कर जयबल का काल ४०० ईसवी में निश्चित किया है। डा० छाबा ने जयबल को स्थानीय प्रशासक बतलाते हुए लिखा है कि समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्त साम्राज्य को जो हल्का सा झटका लगा और जब गुप्तों और वाकाटकों में वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित हुआ उसी समय जयबल स्वतन्त्र हो गया।[१] किन्तु डा० मिराशी कुछ भिन्न कहते है। उनके अनुसार समुद्रगुप्त जब दिग्विजय को निकाला तो उसने बलवर्मा को भी परास्त किया (मिराशी के अनुसार बलवर्मा 'मघ 'कुल का था), यदि यह सत्य है तो जयबल' जिसका काल ४०० ईसवी आंका गया है, समुद्रगुप्त द्वारा मघों के उखाड़ फेंकने के पश्चात्, उस प्रदेश का, गुप्तों की ओर से नियुक्त प्रशासक था[२]। इस उक्ति पर यदि थोड़ा विचार करें तो विदित होगा कि इसके निष्कर्ष का मुख्य आधार अभिलेख के 'नरेन्द्र' को, जो कि श्लेष[3] में लिखा गया है, नरेन्द्रसेन वाकाटक मान लेने की वजह से हुआ है। लेख के नरेन्द्र को नरेन्द्रसेन बाकाटक माननेवाले विद्वानों का एक तर्क यह भी है कि भरत बल पहले गुप्तों के अधीन नृपति था और नरेन्द्रसेन गुप्तों का विद्रोही। भरत बल को गुप्त—सत्ता से अपने को मुक्त करने का यह अच्छा अवसर था। उसने नरेन्द्रसेन से संधि की। किन्तु उसको लेने के देने पड़े। नरेन्द्रसेन के सम्बन्ध में वाकाटकों के लेख से ऐसा विदित होता है कि उसके राज्य का विस्तार मेकल, कोशल आदि प्रदेश तक था। इस प्रकार भरतबलको एक की सत्ता को छोड़कर दूसरे की अधीनता स्वीकार करनी पड़ी। इसको थोड़ी देर के लिए यदि मान भी ले कि ऐसा हुआ होगा तो प्रश्न यह उठता है कि क्या भरतबल और नरेन्द्रसेन में संधि सम्भव हो सकती थी ? ऐसा हम इसलिए कहते है क्योंकि हम जानते है कि भरतबल का विवाह 'शरभपुरियों' में हुआ था (सरकार, एपि०इं०, ३४, पृ० ४८) और शरभपुरियों का सम्बन्ध वाकाटकों से अच्छा नहीं था (भ० वे० कृष्णराव, अर्ली डायनेस्टीज आफ आन्ध्र देश, पृ० ६४८—५१) इसके अतिरिक्त हम यह भी जानते हैं कि शरभपुरियों का अन्त 'नलों' ने नहीं बल्कि 'सोमवंशियों' ने किया (भ०

---

१ एपि० इं०, २७, पृ० १३८।

२ स्टडीज इन इण्डोलाजी, १, पृ० २१६।

३ एपि०इं०, २७, पृ०१३७।

वे० कृष्णराव, वही, पृ० ६५२)। इन विद्वानों का नरेन्द्रसेन और भरतबल में संधि के सम्बन्ध में एक तर्क यह भी है कि भरतबल ने जब गुप्त सत्ता के विरुद्ध होकर नरेन्द्रसेन से संधि कर ली तो उस पर प्रतिबन्ध लगाने के लिए गुप्त सम्राट् ने नल नृपति भवदत्तवर्मा से वैवाहिक संबंध स्थापित किया किन्तु 'नल' नृपतियों को 'शरभपुरियों' से और भरतबल से झगड़ते हुए बतलानेवाली हमारे पास कोई सामग्री नहीं है। इसके अतिरिक्त गु० सं० १९१ में अभिलिखित एरण के गोपराज को यदि भरतबल का पुत्र मान लें क्योंकि वह अपने को शरभराज का दौहित्र कहता है और अपने मित्र भानुगुप्त की हूण आक्रमण के विरुद्ध सहायता करता है, तो ज्ञात होता कि 'पाण्डुवंशियों' का गुप्तों से किसी प्रकार का झगड़ा नहीं[1] था। अतएव इन विद्वानों की यह स्थापना कि भरतबल का अधिपति नरेन्द्रसेन वाकाटक था, निर्मूल है।

उस क्षेत्र की राजनीतिक हलचलों का अध्ययन करने से एक नई तस्वीर खिचती है। इसके अनुसार यदि इस वंश के इतिहास का निर्माण करें तो वह छाब्रा और मिराशी से भिन्न एक दूसरा ही होगा। यदि बम्हनी लेख को उच्चकल्पों के, गु० सं० १७४ में अभिलिखित, लेख के समकालिक मान लिया जाय तो भरतबल का काल सं० ४९३ ईसवी निर्धारित होता है। और जब यह लेख लिखा गया उसके शासन का दो वर्ष बीत चुका था। इस लेख से भरतबल के तीन पूर्वजों का भी पता चलता है। इनके शासन को कम से कम बीस-बीस वर्ष भी मान लिया जाय तो नृपति वत्सराज, जिसका स्थान वंशक्रमानुसार दूसरा है, का काल लगभग संवत ४५३ ईसवी निर्धारित होता है। गुप्त सम्राट् कुमारगुप्त प्रथम का यह अन्तिम वर्ष था। इसी मैकल प्रदेश के पुष्यमित्र गुप्त साम्राज्य प्रथम का यह अन्तिम वर्ष था। इसी मैकल प्रदेश के पुष्यमित्र गुप्त साम्राज्य के लिए सिरदर्द हो गये थे। किन्तु स्कन्दगुप्त ने इस विपत्ति से गुप्त साम्राज्य की वंशलक्ष्मी को विचलित होने से बचा लिया। पुष्यमित्रों का उसने दमन कर दिया। रीवां राज्य के

1 एरणलेख के गोपराज को शरभराज का दौहित्र कहा गया है और भरतबल का विवाह शरभपुरियों में हुआ था। उसके लेख से यह भी विदित है कि उसको बहुत से पुत्र—प्रपौत्र थे।
क्लासिकल एज भी देखिये पृ० २१६, २२२

सुपिया नामक स्थान से गु० सं० १४१ का स्कन्दगुप्त का एक लेख भी मिला है जिसमें उसको 'चक्रवर्ती' कहा गया है ।[1] बत्सराज ने स्कन्दगुप्त की, इस विजय-प्रयाण में, सहायता की । फलस्वरूप उसको 'नृपति' की पदवी मिली । उसके पिता जयबल को हम इस प्रकार के किसी भी उपाधि से विभूषित नहीं पाते हैं ।[2] इसके अतिरिक्त नागबल-जो 'महाराज' उपाधि से अभिषिक्त था,[3] का काल भी ४७३ ईसवी के लगभग निर्धारित होता है । यह वही काल है जब परिव्राजक महाराज हस्तिन् गुप्त-सत्ता से अपने को मुक्त कर सका था । परिव्राजक महाराज हस्तिन् का प्रारम्भिक ज्ञात तिथि गु० सं० १५६ है । इस प्रकार तत्कालिक राजनीतिक हलचलों को देखते हुए भरतबल का काल ४९३ ईसवी के लगभग निर्धारित किया जा सकता है ।

भरतबल जब गद्दी पर बैठा तो वह काफी बूढ़ा हो चुका था । बम्हनी लेख से विदित होता है कि वह कई प्रपौत्रों का पितामह था ।[4]

बुधगुप्त के आँख मूँदते ही साम्राज्य के शक्तिशाली सामंत नृपति अपने-अपने स्वार्थ-सिद्धि में लग गये । कालंजर प्रस्तर लेख[5] का उदयन भी, जो संभवतः भरतबल का पुत्र था,[6] कालंजर प्रदेश पर शासन करने लगा । यहाँ पर उसने विष्णु के मंदिर का निर्माण भी करवाया । डा० मिराशी ने कहा

---

१ एपि० इं०, ३३, पृ० ३०६-३०८
पंक्ति ७-८—'महाराज श्री स्कन्दगुप्तस्य राज्य समवत्सर शते एकचत्वारिंशोतरके ।'

२ लेख पंक्ति ७-८
'सद्धर्म्म शीलः सुनय प्रधानः श्री बत्सराजो नृपतिर्ब्बभूव ।

३ वही पंक्ति १०
'श्रीमान् श्रीमत्यां देव्यां द्रोणभट्टारिकायामुत्पन्नः श्री महाराज नागबल :'

४ वही, श्लोक १०—
'———लोकप्रकाशा याता पौत्रैः प्रपौत्रर्य———'

५ कनिंघम, आर्के० सर्वे० इं०, २१, पृ० ४०, एपि० इं०, ४ पृ० २५७, नो० ४ ।

६ मिराशी, स्टडीज इन इंडोलाजी, १, पृ० २१६ ।

भी है कि कालंजर प्रदेश पर जितनी आसानी से बंधोगढ़ के शासक अधिकार जमा सकते थे उतनी सहूलियत से छत्तीसगढ़ के शासक नहीं।[१] डा० मजूमदार[२] और डा० मिराशी[३] ने कालंजर लेख का काल भी पांचवी शती ईसवी के अन्तिम चरण में निश्चित किया है। इस उदयन को भरतबल का पुत्र बतलाने पर तो यह तिथि ठीक है। किन्तु विद्वानों में उदयन के समीकरण को लेकर मतैक्य नहीं है। इस उदयन का दक्षिण कोशल के (पाण्डुवंशी) उदयन से कुछ विद्वानों ने समीकरण किया है।[४] परन्तु इस विषय पर कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता क्योंकि डा० हीरालाल ने दक्षिण कौशल के तीव्रदेव के प्रपितामह उदयन के राज्य की अवस्थिति चांदा जिलांतर्गत भांदक में बतलाया है।[५] फिर तीव्रदेव का कोई निश्चित तिथि भी ज्ञात नहीं है।[६] ऐसी दशा में बांदा जिले (कालंजर) के उदयन की समता तीव्रदेव के प्रपितामह से करना युक्तिसंगत नहीं। अतएव हम यही कहेंगे कि कालंजर का उदयन बम्हनी लेख के भरतवल का पुत्र था।[७]

इन्हीं 'पाण्डुवंशियो' के कुछ काल पहले अथवा आसपास ही उच्चकाल्प भी स्वतन्त्र हो गये। इनका प्रारम्भिक लेख गु० सं० १७४ में अंकित मिला है। किन्तु उच्चकल्पों के लेखों में अंकित तिथि के संवत् के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। कोई इसको कलचुरि संवत् में अकित बतलाता है तो कोई गुप्त संवत् में। इस वंश के लेखों को कलचुरि संवत् में अंकित बतलाने वालों में कीलहार्न[८] और भण्डारकर[९] मुख्य हैं। परन्तु आज प्रायः

---

१ वही।

२ क्लासिकल एज, पृ० ३१।

३ स्टडीज इन इण्डोलाजी, १, पृ० २१६।

४ क्लासिकल एज, पृ० ३१, २२०, २२१।

५ मध्यप्रदेश का इतिहास, पृ० २३, मिराशी (एपि० इं०, २६, पृ० २२७, नो० २) ने बतलाया है कि भांदक का अभिलेख मूल रुप से आरंग प्रदेश से पाया गया है।

६ क्लासिकल एज, पृ० २२१।

७ मिराशी, स्टडीज इन इण्डोलाजी, १, पृ० २१६।

८ एपि० इं०, ५, पृ० ५५।

९ वही, १६, पृ० १५६, नो० ५।

सभी विद्वान फूलीट,[1] ओझा-हाल्दर[2]—दीक्षित[3] और मिराशी[4] के ही निष्कर्षों को मानते हैं। ये विद्वान् इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उच्चकल्पों के अभिलेखों में 'गुप्त संवत्' का ही प्रयोग हुआ है।

इसके लेखों से इनके वंशक्रम का भी पता चलता है—

ओघदेव—कुमारदेवी
|
कुमारदेव—जयस्वामिनी
|
जयस्वामिन्—रामदेवी
|
व्याघ्र—अज्झितदेवी
|
जयनाथ—मुरुण्डदेवी
| (ज्ञात तिथि—१७४, १७७)
शर्वनाथ (ज्ञात तिथि—१९१, १९३, १९७ और २१४)

इस वंशतालिका के केवल दो ही शासकों का अब तक अभिलेख मिला है। किन्तु कुछ विद्वानों ने, जिसमें भंडारकर का नाम लिया जा सकता है, यह बतलाने की चेष्टा की है कि व्याघ्र का भी लेख मिला है। भंडारकर[5] ने उच्चकल्पवंशी व्याघ्र का समीकरण नचना से प्राप्त, वाकाटक महाराज पृथिवीषेण के अधीन शासक व्याघ्रदेव के लेख से किया है। किन्तु यह समीचीन नहीं है।[6]

---

१ का० इं० इं०, ३, न० २४।
२ एपि० इं०, १६, पृ० १२७।
३ वही, २१, पृ० १२७ आगे।
४ वही, २३, पृ० १७१ आगे।
५ इं० हि० क्वा०, १, पृ० २५१।
६ देखिये, दूसरा अध्याय।

उच्चकल्पों की राजनीतिक-गतिविधि के बारे में विशेष जानकारी होती है। इनके सम्बन्ध में विशेष बात जो कही जा सकती है और जो यहाँ विचारणीय भी है वह है इनकी राजनीतिक-स्थिति का निर्धारण करना। अब तक (गांगुली, इं हि० क्वा०, २१, पृ० १३८ का लेख निकलने से पूर्व तक) प्रायः सभी विद्वान यही कहते रहे कि उच्चकल्प के महाराज गुप्तों के अधीन शासक थे। परन्तु जब हम परिव्राजकों और उच्चकल्पों के अभिलेखों का अध्ययन करते हैं तब यह विदित होता है कि उच्चकल्प महाराज परिव्राजक महाराजाओं के सामन्त थे जो गुप्त सम्राट् बुधगुप्त के अन्तिम दिनों में उठ खड़े हुए। दिनेश चन्द्र सरकार का भी यही मत है।[1] हमारे अनुसार भी उच्चकल्प के महाराज परिव्राजकों के सामन्त नृपति थे। हमारे इस निष्कर्ष का मुख्य आधार परिव्राजक अभिलेखों में उद्धृत वह पंक्ति है जिसमें शासक की ओर से यह घोषणा होती थी कि यदि कोई व्यक्ति, चाहे वह शासक के कुल का ही क्यों न हो अथवा उसके सामन्त, इस अनुदान के खिलाफ कोई कार्य करेंगे तो उसको वह कड़ा से कड़ा दण्ड देगा ......।[2] किन्तु उच्चकल्पों के लेखों में, जिनके लेख भी दान-सम्बन्धी थे, इस प्रकार की घोषणा नहीं मिलती है। उनके लेखों में केवल इतना ही मिलता है कि यदि कोई व्यक्ति इस अनुदान का अपहरण करेगा तो उसको दण्डस्वरूप पाँच महापापों को सहना पड़ेगा।[3] इस प्रकार इनके लेखों की भाषा से

---

१ एपि० इं०, ३३, पृ० १६७. आगे।

२ देखिये, फ्लीट का० इं० इं० (संक्षोभ का खोह ताम्रपत्र लेख, वर्ष २०६) लेख, पंक्ति १५-१८ फ्लीट का अनुवाद।

Therefore, even, in future times, no obstacle (to the enjoyment of this grant) is to be caused by those who are born in our family, or by my feudatories.

ThisInjuction having been given, he who behaves otherwise—him I will consume with a great contempt, even when I have passed into another body

३ देखिये फ्लीट का इं० इं—

Whosoever may confiscate this grant he shall become invested with the guilt of the five great sins and the minor sins.

यही विदित होता है कि उच्चकल्प के महाराज गुप्तों के नहीं अपितु परिव्राजकों के सामन्त थे।

यह बात भूमरा प्रस्तर स्तम्भ लेख[1] से भी विदित है। यद्यपि इस स्तम्भ लेख के सम्बन्ध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। फ्लीट[2] के अनुसार भूमरा स्तम्भ लेख महाराज हस्ति और महाराज शर्वनाथ के राज्यों की सीमाओं को विभक्त करने वाली रेखा है। राखालदास बनर्जी[3] ने फ्लीट का यहां समर्थन किया। किन्तु श्री गांगुली ने अपने विद्वतापूर्ण सुझावों से यह स्पष्ट कर दिया कि यह स्तम्भलेख राज्य सीमा को विभक्त करने वाली रेखा नहीं थी।[4] उन्होंने इस लेख में आये 'वल यष्टि' शब्द की नयी व्याख्या की है।[5] परन्तु इस लेख की विस्तृत विवेचना कर यदि कोई व्यक्ति सही निष्कर्षों पर पहुँचा है तो वह हैं डा० सरकार। डा० सरकार ने इसलेख में आये 'महाराज हस्तिराज्ये 'और' महाराज-शर्वनाथ-भोगे शब्द की व्याख्या कर यह बतला दिया है कि उच्चकल्प के महाराज गुप्तों के सामन्त नहीं थे और न ही अन्य किसी दूसरे वंश के बल्कि वे परिव्राजकों के अधीन शासक थे।[6]

---

१ का० इं० इं०, ३, पृ० ११०।

२ फ्लीट, वही।

३ इं० हि० क्वा०, २१, पृ० १३८।

४ वही।

५ वही।

६ एपि० इं०, ३३, पृ० १६८-१७०।

"Since it is impossible to believe that Maharaja Sarvanath was the governor of a territorial unit in the kingdom of Hastin, the sense of a Jagir is certainly more suitable to the word Bhoga in the context of the Bhumara inscription. It may be argued that a distinct originally named after Sarvanth was later included in Hastin's kingdom. This is improbable in view of the fact that Sarvanth was a later contemporary of Hastin."

सम्भतः इसी समय मथुरा में भी भट्टारक नृपमित्र[१] स्वतन्त्र हो गया। सरकार[२] ने इसको गुप्त शासकों का सामन्त बतलाया है और इसका काल भी पांचवी शती ईसवी के अन्तिम चरण में निर्धारित किया है। इसके पूर्व नृपमित्र का काल निर्धारित नहीं किया जा सकता क्योंकि गुप्त-शक्ति का विकेन्द्रीकरण बुधगुप्त की मृत्यु के पश्चात् ही सम्भव हुआ था। इसके अतिरिक्त, हम जानते हैं कि बुधगुप्तके काल तक मथुरा का इलाका गुप्त शासकोंके अधिकार में था। स्कन्दगुप्त के काल में अंतर्वेदी का विषयपति नागवंशी शर्वनाम था[३]। और बुधगुप्त के काल में भी कालिन्दी और नर्मदा पर्यन्त के प्रदेशों पर निगरानी रखने के लिए 'राजप्रतिनिधि' के रुप में महाराज सुरश्मिचन्द्र था।[४] इस प्रकार प्रदेश का स्वायत्त शासन, नृपमित्र के अधिकार में, बुधगुप्त के अंतिम दिनों में ही आया होगा—४९० ईसवी के लगभग ऐसा हम इसलिए कह रहे क्योंकि इसी समय 'पाण्डुवंशी' और' परिव्राजकों के अधीन उच्चकल्प के शासक स्वतन्त्र हुए थे। भारत के पश्चिमोत्तर मोर्चे पर हूणों का भी आतंक शुरु हो गया था।[५] इस प्रकार नृपमित्र का काल पांचवी शती के अन्तिम चरण में ही निर्धारित होता है।

अब प्रश्न नृपमित्र वंश के सम्बन्ध में उठता है। इसके वंश-निर्धारण के सम्बन्धमें बहुत सी अटकलवाजियां की जा सकती हैं। जैसे कोई इनको, नामके अंत में 'मित्र' शब्द होने के कारण, इस प्रदेश के पुराने निवासी, 'मित्र' वंशियों से मिलान कर सकता है। किन्तु क्या इसका समीकरण पहली दूसरी शती ईसवी के 'मित्रवंशियों' से किया जा सकता है? जब हम इस पर विचार करते हैं तो इस की निःस्सारिता मालूम हो जाती है क्योंकि तीसरी-चौथी शती ईसवी में इस प्रदेश पर नागों के प्रभुत्व को हम पाते हैं। अतएव नाम के अन्त में 'मित्र' शब्द होने के कारण किसी को 'मित्रवंशी' कह देना अनुपयुक्त होगा। इसी तरह चूकि इस प्रदेश पर विवेच्य काल में नागों का प्रभुत्व था

---

१ एपि०इं०, ३४ पृ० ११—१३।

२ वही, पृ० १३।

३ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० ३०६ आगे।

४ का०इं०, इं ३, पृ०८८ आगे।

५ देखिये, चौथा अध्याय।

किसी का सोचना स्वाभाविक है कि नृपमित्र नागवंशी था। किन्तु किसी नागवंशी के नाम के अन्त में 'मित्र' शब्द का व्यवहार न होने के कारण इसको नागवंशी भी नहीं कहा जा सकता है।[1] इस प्रकार नृपमित्र का वंश-निर्धारण नहीं हो पाता है। किसी निश्चित प्रमाण के न रहने के कारण नृपमित्र का वंश—निर्धारण करना युक्तियुक्त न होगा। नृपमित्र के सम्बन्ध में हमारी विशेष जानकारी इतनी ही है कि वह पांचवीं शती के अन्तिम चरण में मथुरा—क्षेत्र पर शासन कर रहा था।

यह हम देख चुके हैं कि अवंति-प्रदेश स्कन्दगुप्त की मृत्यु के थोड़े ही वर्षों के पश्चात् वाकाटक नृपतियों के अधिकार में चला गया था। यही कारण है कि दशपुर के 'औलिकरों' का, प्रभाकर के पश्चात् और यशोधर्मा के आने तक का, इतिहास अन्धकारमय दिखलाई पड़ता है। लेकिन इस अन्धकारमय इतिहास पर प्रो० मिराशी ने प्रकाश डालने की चेष्टा की है।[२] दशपुर से विक्रम संवत् ५२४ में अभिलिखित प्रभाकर के लेख के पश्चात् यदि किसी का लेख मिला है तो वह है 'गौरि' नामक शासक का।[3] इस लेख में तिथि नहीं है। किन्तु इसके अन्य दो लेखों में जो कि दूसरी जगहों से पाये गये हैं तिथि अंकित है जिन पर विद्वानों ने विक्रम संवत् ५४७ पढ़ा है।[४] अतएव महाराज 'गौरि' के मंदसोर लेख को भी हम इसी तिथि के आसपास रखेंगे।[५]

---

१ देखिये, एपि० इं०, ३४, पृ० ११-१३।

२ देखिये, मिराशी, स्टडीज इन इण्डोलाजी, दोनो भाग।

३ इं० हि० क्वा०, ३३, पृ० ६२-६४।

४ एपि० इं०, ३०, पृ० १२०-२७, वही, ३३, पृ० २०५-६, ज०बि० रि० सो०, ४१, पृ० ३१०-११।

५ इं० हि० क्वा०, ३३, पृ० ६२ आगे।

महाराज गौरि के लेखों से निम्न वंशतालिका बनती है—

पुण्यसोम[1]
|
राज्यवर्धन
|
राष्ट्रवर्धन
|
यशोगुप्त
|
महाराज गौरि

इनको 'मानव्यानि' कुल का कहा गया है। महाराज गौरिके लेख से यह भी विदित होता है कि वह किसी आदित्यवर्धन के अधीन शासक था। यह आदित्यवर्धन कौन था और कहाँ का शासक था यह विद्वानों में विवाद का विषय बना हुआ है। इस प्रश्न पर सरकार और मिराशी में विवाद है। डा० सरकार[2] ने इस पर तीन संभावनाएँ व्यक्त की हैं—(१) महाराज गौरि मालवा पर उस समय शासन कर रहा था, जबकि यह प्रदेश हूणों के अधिकार (ईसवी० ४८४-५३२) में था। अतएव आदित्यवर्धन जो कि महाराज गौरि का अधिपति था और कोई नहीं हूण शासक तोरमण अथवा मिहिरकुल रहा होगा। (२) आदित्यवर्धन महाराज गौरि का ही दूसरा नाम होगा। हूणों द्वारा मालवा-विजय से दशपुर से औलिकरों को हटना पड़ा और 'मानव्यानि' वहाँ के शासक हुए, (३) आदित्यवर्धन औलिकर कुल का था और दशपुर से शासन करता था, महाराज गौरि उसका सम्बन्धी अथवा सामन्त रहा होगा। यहाँ यह कह देना उचित होगा कि सरकार ने अपनी प्रथम सम्भावना का खण्डन कर दिया है किन्तु शेष दो में से वह यह नहीं निर्धारित कर सके हैं कि इन दोनों में से कौन सही है।[3]

प्रो० मिराशी के विचारानुसार आदित्यवर्धन औलिकर कुल का था और दशपुर का नहीं बल्कि अवन्ति प्रदेश का शासक था तथा उज्जयिनि से शासन

---

१ ओझा (ना० प्र० प०, १६८६, पृ० ७-११) ने इसको 'धान्यसोम' पढ़ा है।
२ एपि० इं०, ३०. पृ० १२०-२७।
३ देखिये, मिराशी, स्टडीज इन इंडोलाजी, १, पृ० २०७।

करता था। दशपुर पर इस समय (ई० ४९२) मानव्यानि कुल का महाराज गौरि शासन कर रहा था जो कि औलिकर महाराजाओं का सामन्त था।[1]

अभिलेखों को दृष्टि में रखते हुए जब हम इन दोनों मतों की विवेचना करते हैं तो इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महाराज गौरि की राजधानी का निश्चय करना अभी शेष है। उसके लेखों से यह विदित नहीं होता कि दशपुर उनकी राजधानी थी। किन्तु मिराशी ने यही बतलाने की चेष्टा की कि है दशपुर महाराज गौरि की राजधानी थी।[2] सरकार[3] ने इसका खण्डन भी किया है। तत्कालीन राजनीतिक स्थिति को देखने से सरकार के मत की पुष्टि भी होती है। हरिषेण (४७५-५१० ईसवी) का अंवति प्रदेश पर शासन था। ऐसी स्थिति में उज्जयिनी पर जिसका सांस्कृतिक और राजनीतिक दोनों महत्व था औलिकरों का अधिकार सम्भव प्रतीत नहीं होता 'औलिकर' दशपुर में ही रहे होंगे। अतएव 'मानव्यानि' वंशियों की राजधानी किसी दूसरी जगह रही होगी। क्योंकि आदित्यवर्धन जो कि औलिकर कुल का था महाराज गौरि का अधिपति था और अवन्ति (उज्जयिनी) प्रदेश औलिकरों के अधिकार में छठी शती ईसवी के प्रारम्भिक वर्षों में ही आ गया था। क्योंकि इस काल तक हरिषेण की शक्ति, सम्भवत: गृहकलह के कारण, काफी क्षीण हो चुकी थी।[4] ऐसी स्थिति में उनके हाथ से अवन्ति प्रदेश का निकल जाना स्वाभाविक है। 'वराहमिहिर' के कथन से इसकी पुष्टि भी होती है।[5] द्रव्यवर्धन, जिसको कि मिराशी ने यशोधर्मा-विष्णुवर्धन का पिता बतलाया है, 'वराहमिहिर' के कथन के आधार पर उसका काल छठी शती ईसवी के प्रारम्भिक वर्षों में निर्धारित किया है। द्रव्यवर्धन को 'महाराजाधिराज' कहा गया है और अवन्ति प्रदेश का स्वामी बतलाया है।[6] किन्तु पुष्ट प्रमाणों के अभाव में हम मिराशी की इस स्थापना पर अधिक

१ मिराशी-स्टडीज इन इंडोलॉजी।
२ वही।
३ एपि० इं०, ३३, पृ० २०८।
४ दि क्लासिकल एज, पृ० १८७।
५ देखिये, मिराशी, वही।
६ बृहत्संहिता, ८६, २।

बल नहीं देंगे।[१] इस प्रकार महाराज गौरि के राज्य की राजधानी को कहीं और ही निर्धारित करना पड़ेगा। उदयपुर राज्य से भी महाराज गौरि का लेख मिला है। पिछले अध्याय में हमने यह बतलाया है कि दशपुर पर शासन करनेवाले (वर्मा) कभी उदयपुर में थे। यदि हम यों कहें कि वर्मा नाम धारी शासकों का शासन उदयपुर राज्य तक था तो अत्युक्ति न होगी। गौरि का भी लेख उदयपुर राज्य से मिला है। ओझा[२] ने तो स्पष्ट कहा है कि छोटी सदड़ी के आस-पास के प्रदेशों पर इनका (मानव्यानिवंशियों का) शासन था। इस प्रकार 'मानव्यानिवंशी' औलिकरों के अधीन छोटी सदड़ी के आसपास शासन कर रहे थे।

मानव्यानि-वंशतालिका में 'वर्धन' और 'गुप्त' नामधारी शासकों का नाम भी मिलता है। शासकों के इस प्रकार के नामों को देखकर श्री साधुराम[३] ने यह सम्भावना व्यक्त की है कि क्या वे शासक महाराज हर्षवर्धन के पूर्वज हो सकते हैं? क्योंकि इनका वैवाहिक सम्बन्ध गुप्तों के साथ था। फलस्वरूप ही इस वंश में यशोगुप्त हुआ।[४] इतना सब कहकर श्री साधुराम जी ने यह कहा है कि पुष्ट प्रमाणों के अभाव के कारण इस सम्बन्ध में विशेष कुछ नहीं कहा जा सकता।

इस सम्बन्ध में हम यह कहना चाहेंगे कि इन नामों की समता हर्षवर्धन और मालवा के गुप्तों के कुल से ही क्यों की जाय। औलिकरों में भी तो 'वर्धन' हुए थे। इसी तरह महाकोशल में भी तो गुप्तनामधारी शासक हुए थे। ऐसी दशा में किसी विशेष वंश से इन नामों का समीकरण करना उचित नहीं होगा।

---

१ सरकार (एपि० इं०, ३३, पृ० २०८) ने भी कहा है कि मिराशी की यह स्थापना केवल अनुमान पर आधारित है।

२ ना० प्र० प०, १९८६, पृ० ७-११।

३ इं० हि० क्वा०, ३३, पृ० ६४।

४ त्रिवेदी, इं० हि० का०, १७, सेसन, १९५४, पृ० ६४ आगे।

इस काल की राजनीतिक प्रतिक्रिया में हम डभाला और मैकल-प्रदेश में हुए परिवर्तन की पर्यालोचना करें तो यह परिलक्षित होता है कि वाकाटकों और उनके राज्य में मेकल और कोशल में हुई प्रतिक्रियाओं का प्रभाव गुप्त-साम्राज्य के डभाला और मेकल प्रदेश पर पड़ा। वाकाटकों की सत्ता से क्षुब्ध होकर कोशल के राज्यों ने उनके विरुद्ध विद्रोह किया। इस दिशा में 'नलों' और 'शरभपुरियों' का नाम उल्लेखनीय है। वाकाटकों पर उनके आक्रमणों और प्रत्याक्रमणों ने गुप्त सत्ता के अधीन राज्यों में भी राजनीतिक जागरूकता पैदा की। इससे उन राज्यों ने अपने में एक नवीन शक्ति के उद्रेक का अनुभव किया। फलस्वरूप ही वे अपनी स्वायत्तता की घोषणा करने लगे थे।

चौथा अध्याय

हूण आक्रमण और उत्तर भारत की राजनीतिक प्रतिक्रिया

बुधगुप्त के जीवन के अंतिम दिनों में अथवा उसकी मृत्यु के पश्चात् हूणों का पुनः आक्रमण हुआ। प्रायः सभी विद्वान् यही कहते हैं कि यह हूण आक्रमण पांचवीं शती ईसवी के अन्त में अथवा छठी शती ईसवी के प्रारंभिक काल में हुआ[1] जब ये (हूण) सासानी शासक फिरोज को ४८४ ईसवी में मौत के घाट उतार चुके थे। काबुल घाटी के कुशाणों पर भी वे टूटे और उनको पराजित कर भारत में घुस आये।[2] सुंग-युन के वृत्तांत से भी इसकी पुष्टि होती है[3]। गंधार प्रदेश के हूण राजा (मिहिरकुल) के दरबार में वह ईसवी ५२० में चीनी राजदूत था। उसके अनुसार 'यह प्रदेश (गंधार), में-था लोगों द्वारा नष्ट कर दिया गया और वहां का 'तैगिन[4]' उन्हीं का राजकुमार बना जिसके बीते दो पुश्त हुए।[5]

---

१ स्मिथ, अ० हि० इं०, पृ० ३१६, वाकाटक गुप्त एज, पृ० १६१, चट्टोपाध्याय अ०हि०ना०इं, पृ० १६२।

२ स्मिथ, वहीं, पृ० ३१६, ज०बा०ब्रा०रा०ए०सो०, २४, पृ० ५३६।

३ बील, रिकार्ड्स आफ दि वेस्टर्न, वर्ल्ड १ भूमिका, पृ० ७४।

४ तेगिन—जो विरुद था–का अर्थ बील ने' ले-ली' किया है जिसको कनिंघम और बाद के लेखकों (सिनहा, डि०कि०म०, पृ० ८७) ने उसी अर्थ में ग्रहण कर लिया। किन्तु स्मिथ ने ('तेगिन' को विरुद माना है, नाम नहीं) बील द्वारा किया गया अर्थ नहीं माना है (स्मिथ के मत के लिए देखिये, अ०हि० इं०, पृ० ३१०, नो० ४)। चट्टोपाध्याय ने भी' तेगिन. का अर्थ विरुद के रूप में किया है (अ०हि०ना०इं०, पृ० १६४) और तोरमाण को वल्ख के एप्थलाइट शासक का गंधार प्रदेश का 'तेगिन' (प्रशासक)बतलाया है। अतएव हम यह कहेंगे कि बील का अर्थ भ्रामक है। मैकगवर्न ने भी इसका अर्थ विरुद के रूप में किया है।

५ बील, वही पृ० ९९–१००।

पुरातात्विक प्रमाणों के आधार पर तोरमाण भारत में प्रथम हूण शासक था। इसके पूर्व हूण जाति का भारत में कौन शासक था यह किसी भी श्रोत से जाना नहीं जा सका है, यद्यपि भारतीय साहित्य में हूणों का उल्लेख यदा-कदा मिलता है[1]।

चीनी राजदूत के वृत्तान्त से विदित होता है कि तोरमाण पहले अपने बैक्ट्रिया प्रदेश में रहने वाले एप्थलाइट स्वामी का 'तेगिन' था जो बाद में स्वतन्त्र हो गया।[2] उसने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा सम्भवतः किसी संवत् के वर्ष ५२ में की, तब तक उसने भारत के कई प्रदेशों को जीत भी लिया था तोरमाण के सिक्कों पर अंकित ५२ तिथि के संवत् के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। इस तिथि को तोरमाण के शासन-काल की तिथि नहीं मानी जा सकती। इतनी लम्बी अवधि का शासन काल अस्वाभाविक है।[3] इसको किसी संवत् में अंकित तिथि बतलाया जा सकता है[4]। इस विषय पर स्मिथ, कनिंघम आदिविद्वानों में मतैक्य है जिन्होंने इस तिथि को किसी प्रतिपादित संवत् में रखा है। किन्तु, इस संवत् के प्रारम्भिक वर्षों के सम्बन्ध में उनमें मतवैभिन्य है। ऐसा वर्णन मिलता है कि इन एप्थलाइटों अथवा श्वेत हूणों ने अनुमानतः सन्४२० ई० से ५५६ई० तक लगातार पारस्य के सासानी राजाओं के राज्य पर आक्रमण किया।[5] सन् ५५६ में जब तुरुष्क लोगों ने हूणों का बल तोड़ दिया, तब कहीं पारस्य के लोग हूणों के आक्रमण से बच सके थे[6]। ४२० से ५५६ वर्ष के बीच में कौन सा वर्ष इस संवत् का प्रारंभिक वर्ष था विद्वानों में यही विवाद का विषय है। कनिंघम[7] ने इसको ४५६-४५७ ईसवी में रखा है। इससे सिक्कों पर अंकित

१ संदर्भों के लिए देखिए चौधरी का लेख 'दि हूण इनवेजन आफ इंडिया; ज० बि० रि० सो०,४५, पृ०११२ आगे।
२ अर्ली हि०ना०इं०, पृ० १६४।
३ देखिये सिनहा भी. डि०कि०म० पृ०६२ (फ्लीट, इं०एं०,१८ पृ०२२६, ने इसको तोरमाण का 'रिगनल एयर' बतलाया है।
४ वही।
५ रैप्सन, इंडिय क्वायंस, पृ० २८।
६ वाकाटक गुप्त एज, पृ० १६४।
७ न्यू० क्रानिकल, १८६४, पृ० २५२।

कर ५२ तिथि का ईसवी में ५०८--५०९ काल निर्धारित होता है। किन्तु स्मिथ[1] इस संवत् के प्रारम्भिक वर्षो क ४४८ ईसवी में रखा है। इस प्रकार सिक्के पर अंकित ५२ तिथि का काल ५०० ईसवी निर्धारित हुआ। सिनहा[2] और चौधरी[3] ने इस मत का समर्थन भी किया है। इस तरह तोरमाण के प्रथम वर्ष में अभिलिखित एरण प्रदेश से प्राप्त लेख[4] का काल ५०१ ईसवी रहा होगा।[5]

साहित्यिक और पुरातात्विक प्रमाणों के आधार पर तोरमाण के राज्य विस्तार का पता चलता है। पुरातात्विक प्रमाणों में सिक्के और अभिलेखनीय उल्लेखनीय है। इनके सिक्कों पर सासानी और गुप्त प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। सासानी प्रभाव के विषय में रैप्सन[6] ने लिखा है कि हूणों के काल में सासानी सिक्कों का इतना अधिक प्रचार हो गया था कि आगे चलकर जब सिक्के बनाने की आवश्यकता पड़ी, तब सब जगह सासानी सिक्कों के ढंग पर ही नये सिक्के बनने लगे[7]। ऐसे सिक्कों पर एक ओर शिरोस्त्राण पहने हुए सासानी राजा का मस्तक और दूसरी ओर 'पारस्य, देश के अग्नि देवता की वेदी या कुण्ड मिलता है।'

हूण राजाओं के सबसे पुराने सिक्के सासानी काल के चांदी के सिक्कों की तरह छोटे हैं और उन पर सिजिस्तान या सीस्तान के कुशाण राजाओं की तरह यूनानी लिपि है[8]। बाद में यूनानी लिपि के बदले में नागरी लिपि का व्यवहार होने लगा था।[9]। ऐसे सिक्कों पर दूसरी ओर अग्निदेवता की वेदी के ऊपर हूण राजा का मस्तक भी बना हुआ है। मारवाड़ में एक प्रकार के चांदी के सिक्के मिलते है जो सासानी वंश के पारस्य के राजा

---

१ ज०ए०सो०बं०, १९५।
२ डि०कि०म०, पृ० ६२।
३ ज०बि०रि०सो०, ४५.पृ०१२२।
४ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० ३९६।
५ देखिये आगे।
६ रैप्सन, इंडियन क्वायंस, पृ० २९।
७ वही।
८ कनघिम, न्यू० क्रानिकल, १८९४, पृ० २७६-७७।
९ इंडियन क्वायंस, पृ० २९।

फीरोज के सिक्कों के ढंग के हैं।[१] स्मिथ,[२] रैप्सन,[३] होर्नल आदी विद्वानों के मतानुसार ये सब सिक्के तोरमाण ने चलाये थे।

मालवा से भी उसके सिक्के मिले हैं। ये गुप्त नृपति बुधगुप्त के चांदी के सिक्कों के ढंग पर बने हैं और इन पर संवत् ५२ लिखा मिलता है[४] इस प्रदेश के एरण नामक स्थान से उसका एक लेख भी मिला हैं जो उसके शासन काल के प्रथम वर्ष में लिखा गया था।[५] इससे विदित होता है कि यह प्रदेश हूणोंके अधिकार में था औरसम्भवतः यहीं से वे सुराष्ट्र और मंदसौर की ओर अग्रसर हुए होंगे, किन्तु सफलता नहीं मिली। यद्यपि स्मिथ ने यही बतलाया है कि वल्लभी के शासक हूण राजा तोरमाणके अधीनसुराष्ट्र प्रदेश के प्रशासक थे।[६] अपने मत की पुष्टि में उन्होंने यह कहा है कि तोरमाण ने इस प्रदेश में पश्चिमी क्षत्रपो सिक्कों के ढंग के सिक्के चलवाये थे।[७] स्मिथ के मत की विवेचना करने से पूर्व हमें तोरमाण द्वारा मालवा (एरण) विजय की तिथि पर विचार कर लेना चाहिए। इस सम्बन्ध में दों प्रकार के मत हैं। एक के अनुसार 'ये-था' लोगों ने एरण की विजय ५१० ईसवी में की।[८] दूसरे मत के अनुसार ५१० ईसवीतक ये-था'लोगों की विजय पूर्ण हो चुकी थी।[९] प्रथम

---

१ इं०म्यू० कै०, स्मिथ, पृ० २३३।

२ वही, पृ० २३७।

३ इंडियन क्वायंस, पृ० २६।

४ ज०रा०एवसो', १८८६, पृ० १६३, कनिंघम, क्वा०मे०इं०, पृ० २०।

५ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० ३९६।

६ अ०हि०इं०, पृ० ३१६, बसाक ने भी इसका समर्थन किया है (हि०ना०ई० इं०,पृ०६४)।

७ वही, नो० ३

The silver coins of Toramana, which imitate the Surastran coins of the western Satraps and Guptas are dated in the year 52, apparently reckoned from a special Hun era, probaly baginning about A.D.448.

८ अ०हि०ना०इं, पृ० १६३।

९ डि०कि०म०,पृ०८७, ज०बि०रि०सो०, ४५, पृ० १२२।

मत के प्रतिपादिन में चट्टोपाध्याय ने कहा है कि यदि 'ये-था' लोगों के शासन को ५१० ईसवी में समाप्तप्राय समझें तो उनके भारतके भीतर आगमन के काल को ४९३ ईसवी अथवा उससे पूर्व निर्धारित करना पड़ेगा। किन्तु चीनी श्रोतों से इसकी पुष्टि नहीं होती। सुंग-युन के वृत्तान्त से यही ज्ञात होता है कि ५०० ईसवी तक भारत के किसी भी भू-भाग पर 'ये-था, लोगों का शासन नहीं था। अतएव भारत के भीतर वे ५०० ईसवी के पश्चात् ही आये।[1] 'सि-यू-की' से भी यही पता चलता है कि भारत के भीतर 'ये-था' लोगों के शासन का अंत बालादित्य ने किया। इस प्रकार तोरमाण के लेख का प्रथम वर्ष भारत में उसके शासन का प्रथम वर्ष था[2] गु० सं० १९१ में लिखित एरण लेख के सम्बन्ध में जायसवाल ने भी कहा है कि इससे यह नहीं विदित होता है कि 'मालवा ५१० ईसवी तक हूणों के अधिकार में नहीं था।[3] दूसरे मत के अनुसार हूणों के अधिकार में मालवा ५०० इसवी के लगभग ही आ गया था[4]। इस कथन की पुष्टि तब और हो जाती है जब हम देखेंगे कि हूण एरण को अपने सैनिक अभियान का अड्डा बनाकर मन्दसोर और वलभी की ओर प्रयाण किये होंगे। वलभी पर उस समय 'मैत्रक' शासन कर रहे थे। ५०० ईसवी के लगभग वलभी पर मैत्रक द्रोणसिंह का शासन था। अवन्ति के शासक जिसमें मन्दसोर का प्रदेश भी सम्मिलित था[5] और

---

१ अ०हि०ना०इं०, पृ० १६३।

२ वही।

३ इंहि०इं०, पृ० ४०
(Malawa was not occupied by the Hunas up to 510 A.D.)
सिनहा और चौधरी के मत के लिए देखिये, डि०कि०म०,पृ०८७,ज०बि० रि०सो० ४१, पृ० १६३।

४ डि०कि०म०,पृ०
(Lae-lin might have been father of Toramana, who led the Hunas into India and succeeded in occupying Malawa by circa 500 A.D.).

५ अजन्ता लेख में हरिषेण को कुन्तल, अवंति कलिंग, कोसल आदि देशों को जीतने वाला कहा गया है। अवंति प्रदेश का समीकरण मालवा प्रदेश से करते हुए मजूमदार (वाकाटक गुप्त एज, पृ० १२१) ने मंदसोर के वर्मन शासकों को इसके अधीन बतलाया है।

वलभी के मैत्रकों में विवाह सम्बन्ध था।[1] इन दोनों कुलों ने हूण अक्रमण की अपने ऊपर आक्रमण समझो सम्भवत: एक होकर, उसका प्रतिरोध किया उनको सफलता भी मिली क्योंकि गु०सं० १८३ में अभिलिखित मैत्रकों के एक लेख से विदित होता है कि मैत्रक कुल के द्रोणसिंह ने ही सर्वप्रथम 'महाराज' की उपाधि धारण[2] की जिसके सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि स्वयं, 'अखिलभुवन मण्डलाभोगीकस्वामि' ने आकर उसको इस उपाधि से विभूषित किया[3]। सम्भवत: इस सफल प्रतिरोध से खुश होकर। यह ,अखिलभुवन-मण्डलाभोगैकस्वामिकौन था इस पर विद्वानों में मतभेद है।

जैक्सन[4] ने 'अखिलभूवनमन्डलाभोगेकस्वमि' को मालवा के यशोधर्मा का पूर्वंज बतलाया है जिसने 'महाराज' उपधि से द्रोणसिंह को विभूषित किया। किन्तु फूलीट[5] ने सीधे यशोधर्मा को द्रोणसिंह का स्वामी कतलाया है। परन्तु होंर्नल[6] ने शब्दों में कह दिया है कि यशोधर्मा का उस समय तक राजनीति में अस्तित्वऔर ही नहीं था। और हमारे पास ऐसा कोई प्रमाण भी नहीं है जिससे यह संकेत हो कि मालवा के शासक वलभी के मैत्रकों के स्वामी थे। सिनहा ने तो जैक्सन और फूलीट के मतों का खण्डन करते हुए मत दिया है कि यशोधर्मा द्रोणसिंह के बहुत बाद में आया और उसके पूर्वजों के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान नहीं के बराबर है। अतएव यशोधर्मा और उसके पूर्वज वलभी लेख के 'अखिलभुवनमण्डलाभोगेकस्वामि' नहीं हो सकते[7]।

---

१ देखिये, तीसरा अध्याय।
२ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस. पृ० ४०३।
३ का०इं०इं०,३,नं० ३८ (महाराज धरसेन द्वितीय का मलिया ताम्रपत्र लेख वर्ष २५२)
४ ज०वां०ब्रा० रा० ए०सो०, १ (न्यू०स०). पृ० १६ आगे।
५ इं०एं, १५. पृ० १८७।
६ ज०ए०सो०वं०, ५८, पृ० ६६।
७ डि०कि०म०' पृ० ८६
(The rise of Yasodharman of Mandasore stone inscriptions must be placed much later than the known date of Maharaj Drona Singha ...we do not know anything about the predecessor of Yasodharman...and therefore he could hardly be the अखिल भुवन मराडलाभोगैक स्वामि of the Valabhi in scriptions.)

वीरजी ने वलभी लेख के 'अखिलभुवनमण्डलाभोगैकस्वामि' को हरिषेण के लिए प्रयुक्त हुआ बतलाया है।[१] उसके मतानुसार हरिषेण ने कुन्तल, अवन्ती, कलिंग, कोशल, त्रिकूट, लाट, आन्ध्र आदि प्रदेशों को, जो कभी गुप्तों के अधिकार में थे, जीता और वहां का अधिपति बना। वाकाटकों और मैत्रकों के बीच हूण संकट का सामना करने के निमित्त सम्भवतः एक संधि भी हुई। यह संधि विवाह के रूप में हुई जिसमें उज्जयिनी की राजकन्या चन्द्रलेखा का विवाह वलभीपुर के ध्रुवसेन प्रथम से सम्पन्न हुई। उज्जयिनी का राजा निस्संदेह हरिषेण था। किन्तु इस विवाह का तात्पर्य केवल एक की अधीनता को छोड़ दूसरे की अधीनता को स्वीकार करना था।[२] इस प्रकार इस विवाह से मैत्रकों की राजनीतिक स्थिति में केवल थोड़ा सा परिवर्तन हुआ—अधीनस्थ सामन्त की जगह उनकी गणना अब अधिनस्थ मित्रों के रूप में होने लगी।[३]

इसमें सन्देह नहीं कि हरिषेण (४७५--५१० ई०) अपने समय का सबसे प्रभावशाली शासक था। अजन्ता-लेख से उसकी विजयों और विक्रम का परिचय मिलता है।[४] किन्तु उन राज्यों से जिनसे हरिषेण का सम्बन्ध बतलाया जाता है उन पर उसका कितना प्रभुत्व था इस पर सन्देह व्यक्त किया गया है। सरकार के मतानुसार इस पर विश्वास नहीं किया जा सकता कि उसने उन सभी प्रदेशों को अपने अधिकार में कर लिया था।[५] वीरजी का

१ एंसेंट हिस्ट्री आफ सौराष्ट्र, पृ० २७--२६।

२ वही, पृ० २७

(But the marriage only meant that the Maitrakas had changed one hegemony for another).

३ वही।

(However, to have been thus honoured with the hand of chandralekha the Maitrakas must have occupied a place of higher than that of the mere feudatories in the political system of the Vakatakas. Their position may be described as that of the subordinate allies.)

४ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० ४२५ आगे।

५ उलक्सिकल एज, पृ० १८६

(......it is difficult to believe that he succeeded in comp letely subjugating any of them.)

यह अनुमान कि इस विवाह सम्बन्ध के हो जाने के कारण हरिषेण मैत्रकों का श्वसुर और अधिपति दोनो हो गया, समीचीन नही जान पड़ता है। वीरजी के इस कथन के अतिरिक्त हम यह भी तो कह सकते हैं कि हरिषेण ने अपनी सैनिक महत्वाकांक्षाओं की तुष्टि के लिए शक्तिशाली मैत्रकों से सन्धि की, जो स्वयं शक्ति--अर्जित करने में लगे हुए थे। इस प्रकार इस विवाह का महत्व केवल इतना था कि वह वलभी की तरफ से निश्चित होकर अपने साम्राज्य की सीमा का विस्तार कर सके। भारतीय इतिहास में इस प्रकार की वैवाहिक संधियां कोई नवीन घटना नहीं थी। गुप्त काल में इस प्रकार की संधियों के कितनेही उदाहरण मिलेंगे। चन्द्रगुप्त 'विक्रमादित्य, के काल का वाकाटक गुप्त वैवाहिक सम्बन्ध का उदाहरण दिया जा सकता है। स्मिथ[1] के अनुसार वाकाटकों के राज्य की भौगोलिक स्थिति ऐसी थी कि, गुजरात और सुराष्ट्र के शक क्षत्रपों को परास्त करने के लिए, उत्तर भारत के नृपतियों के लिए बिना वाकाटकों से समझौता किये हानि की ही सम्भावनां अधिक थी। सम्भवतः इसीलिए चन्द्रगुप्त 'विक्रमादित्य' ने अपनी पुत्री का विवाह वाकाटक वंश में की जिससे गुजरात और सुराष्ट्र प्रदेश के अभियान में वाकाटक गुप्तों के रास्ते में रोडा न बनें। अतः इस कसौटी पर वीरजी का मत भीं खरा नहीं उतरता।

विचारकों की श्रेणी में तीसरे मत के प्रतिपादक स्मिथ[2] हैं। इनके अनुसार वलभी के स्वामी 'हूण' थे अपने मत के प्रतिपादन के लिए उन्होंने सिक्कों को प्रमाण स्वरुप रखा है। इन्होंने कहा है कि तोरमाण के चांद के सिक्के पश्चिमी क्षत्रपों और गुप्ता के ढंग पर बने हैं और उन पर ५२ तिथि अंकित है[3]। जहां तक गुप्तों के सिक्कों के अनुकरण का प्रश्न है वह तो निर्विवाद है किन्तु उसके सुराष्ट्रीय सिक्कों के अनुकरण का प्रश्न अनायास हमारे ध्यान को अपनी ओर आकर्षित करता है। बनर्जी[4] ने केवल गुप्त-सिक्कों के अनुकरण की बात कही है। उन्होंने किसी स्थल पर यह नहीं कया है किय

१ ज०रा०ए०सो०, १६१४, पृ० ३२४।
२ अर्ली हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ३१४।
३ वही, पृ० ३१६, नो० ३।
४ प्राचीन मुद्रा पृ० २३४।

तोरमाण ने सुराष्ट्री (पश्चिमी क्षत्रपों) सिक्कों का अनुमरण किया था। स्वयं स्मिथ[१] ने भी अपनेलेख में इस ओर पाठकों का ध्यान नहीं खींचा है। बल्कि, इस पर आश्चर्य होता है कि वे अपनी पुस्तक में इसका उल्लेख करते हुए संदर्भ में अपने लेख की ओर इंगित करते है[२]। यह तो हुइ स्मिथ के मत में विरोधाभास की बात। हूणों के 'अखिलभुवनमण्डलाभोगैकस्वामि' होने के विरूद्ध एक अन्य तर्क भी है। हूणों के इतिहास का सिंहावलोकन करने से विदित होता है कि हूणों के अधिकार में जो प्रदेश थे वहां पर उनके सिक्कों और लेखों में 'हूण संवत' का ही प्रयोग हुआ है, जबकि मैत्रकों के लेखों में गुात संवत् का ही प्रयोग हुआ है। इससे विदित होता है कि मैत्रकों का राज्य हूणों के अधीन कभी नहीं हुआ।

अब प्रश्न यह है कि जब हूंण भी मैत्रकों के लेख के 'अखिलभुवनमण्डालाभोगैकस्वामि नहीं थे तो कौनथा ? विद्वानों ने गुप्तों की ओर इशारा किया है। किन्तु गुप्त साम्राज्य बुधगुप्त के पश्चिात् पूर्ण रुप से छिन्न-भिन्न हो चला था। बुधगुप्त के पश्चात् गुप्त साम्राज्य का कौन उत्तराधिकारी हुआ यह विवाद का विषय बना हुआ है[३]। फिर हूण आक्रमण ने गुप्तों के अहे सहे प्रभाव को भी धो दिया था। ऐसी स्थिति में गुप्तों को मैत्रकों के लेख का 'अखिलभुवनमण्डला भोगैकस्वामि' कहना उचित नहीं जान पड़ता। यद्यपि मुगल कालीन इतिहास में ऐसा उदाहरण मिलता है, जब मुगलों का वैभव ढ़ह चुका था, मुगल साम्राज्य के अधीन राज्यों ने अपनी स्वतन्त्रा की घोषणा कर दी थी। फिर भी अन्तिम मुगल साम्राट् बूढे शाहआलम को

---

१ ज०ए०सो०बं०, नं० ४, पृ० १६ (हिस्ट्री एएड क्वायनेज आफ गुप्त पीरिएड)।

२ अ०हि०इं०, पृ० ३१६ नो० ३

(The silver coins of Toramana, which imitate the Surastran coins of the western Satrapas and guptas, are dated in the year 52, apparently reckoned from a special Hun ere..(J.A·S.B , 1894,P·-195) .

३ वाकाटक गुप्त एज, पृ० १८६।

उन राज्यों से नाम मात्र का सम्मान मिलता था। चट्टोपाध्याय[1] और सिन-हा[2] ने इतिहास के इस प्रकरण को गुप्तों पर भी लागू किया है। इतिहास के इस प्रसंग से दृष्टिदोश कहकर बचा नहीं जा सकता। इससे यह सिद्ध होता हैं कि हूणों का प्रभाव वलभी तक नहीं था और न उन्होंने उसकी विजय ही की थी

इस प्रकार मैत्रकों के लेख की 'अखिलभुवनमण्डलाभोगैकस्वामिना परम स्वामिना स्वयमुपहित राज्याभिषेक:' पंक्ति जो द्रोणसिंह के राज्याभिषेक का वर्णन भी करती है, इस ओर संकेत करती है कि हूणों से डटकर लोहा लेने के पुरस्कार स्वरुप ही, पृथ्वी के स्वामि सम्भवत:, (गुप्त सम्राट् नरसिंहगुप्त ने स्वयं राज्याभिषेक के अवसर पर उपस्थित होकर द्रोणसिंह को 'महाराज' उपाधि से बिभूषित किया। इससे प्रमाणित होता है कि मालवा पर हूणों का अधिकार ५०० ईसवी तक हो चुका था। मालवा को अपने सैनिक अभियान का अड्डा बनाकर तोरमाण गुप्त साम्राजय की गतिविधियों पर-नजर रख सकता था।[3]

---

१ अ० हि० ना० इं० पृ० १८८--८६

२ डि०कि०म०, पृ०1५०-१५१
(The last years of the gupta emp,re resembied to a great extent the situation in the India after the death of Aur-. angzeb. The Mughaltempire had practically disappeared, out the fiction of the Mughal sovereignty continued for a long time afterwards, and various local and provinacial powers arose to share the spils of the defunct empire; but at the same time they did not repudiate the formel sovereignty of the emperor who was then no more then an institution which had taken deep roots in the life and imagination of the people and so could not ste easily cat s away by the numerous pretenders rather the y were anxious to use the name of the emeperor and the dynasty ostensibly for of the cause the empir but realiy to grind their own axe .)

३ डि०कि०म०, पृ० ८७
(From his strategic base in Malawa Toramana could easily try to probe the defences of the gupta empire to-wards Surastrs in the west and Eastern provinces of empire in the North--East.)

चट्टोध्याय, मजूमदार[१] आदि विद्वानों ने तोरमाण के राज्यविस्तार को एरण तक ही ले जाकर छोड़ दिया है। किन्तु जायसवाल[२] ने 'आर्यमं--जुश्रीमूलकल्प, के आधार पर इसके शासन कों मगध तक खींचने का प्रयास किया है। सिनहा[३] ने जायसवाल के मत का समर्थन भी किया है परन्तु प्रो० चौधरी[४] ने अन्य प्रमाणों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि तोरमाण ने मगध को भी अपने शासन के अधीन किया। जायसवाल[५] ने 'मंजूश्रीमू-लकल्प के 'हकाराख्य: 'अथवा 'आकाराख्य: 'की पहचान कुरा[६] और एरण[७] अभिलेखों के तोरमाण से की है। 'मंजुश्री' से विदित होता है कि तोरमाण ने 'पराराख्य' को कैद से मक्त कर उसको मगध और काशी का शासक बनाया।[८] इस 'पराराख्य' अथवा 'पकाराख्य' का मिलान जायसवाल ने गुप्तवंशी 'प्रकटादित्य' से की है।[९]सारनाथ से इसका एक लेख भी मिला है।[१०] जायसवाल के मत से सिन्हा[११] और चौधरी[१२] दोनों सहमत हैं। प्रो० चौधरी के मतानुसारपूर्वी भारत के अभियान के लिए तोरमाण ने कौशाम्बी को अपना अहडा बनाया।[१३] यहां से उसकी मोहरें भी मिलती है[१४] इससे यह सिद्ध होता है कि तोरमाण ने पूर्वी भारत को भी रौंदा था।

यह प्रकटादित्य कौन था, ऐसा प्रश्न होना स्वाभाविक है। प्रकटादित्य के सारनाथ लेख से विदित होता है कि वह उस वंश का था जिसमें 'बाला-दित्य' नामक नृपति का जन्म हुआ था और वह इसी बालादित्य का उसकी

१ चट्टोराध्याय, अ०हि०न०इं, पृ०१६२--६४ क्लासिकल एज, पृ० ३५ (मजूमदार ने उत्तर प्रदेश तक इसके राज्य का विस्तार बतलाया है)।
२ इं०हि०इं०, ५३ आगे।
३ डि०कि०म०, पृ० ६१।
४ ज० वि० रि० सो०, ४५, पृ० १२३।
५ इं० हि० इं०, पृ० ६४।
६ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० ३६८।
७ वही, पृ० ३६६।
८ इं० हि० इं० पृ० ५३ आगे।
९ वही, पृ० ७३।
१० का० इं० इं०, ३, पृ० २८४।
११ डि० कि० म०, पृ० ६३।
१२ ज० वि० रि० सो०, ४५, पृ० १२३।
१३ वही।
१४ इं० आर्क०, १९५४-५५, पृ० ३८ (प्लेट नं० ३२ बी)।

पत्नी चवला से उत्पन्न पुत्र था।[१] 'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' में भी ऐसा वर्णन मिलता है कि प्रकटादित्य 'भकाराख्य' का पुत्र था।[२] 'भकाराख्य' को जायसवाल ने भानुगुप्त माना है और उसको मिहिरकुल का विजेता भी बतलाया है[३] अब देखना यह है कि गुप्त वंशावली में 'बालादित्य' कौन था।

इस 'बालादित्य' को लेकर विद्वानों में बड़ा विवाद है। कुछ लोग इसे एरण लेख का भानुगुप्त मानते हैं, तो कुछ नरसिंहगुप्त। वैण्यगुप्त के लिए भी यही सम्भावना व्यक्त की गई है। यहां हम यही देखने की चेष्टा करेंगे कि असल में 'बालादित्य' कौन था, और प्रकटादित्य का पिता बालादित्य कौन था। क्या दोनों, प्रकटादित्य का पिता और बालादित्य, एक ही व्यक्ति थे? अथवा दो व्यक्ति एक ही उपाधि से विभूषित?

गुप्तकालीन इतिहासपर प्रकाश डालने वालीसामग्रियों का अध्ययन करने से विदित होता है कि 'बालादित्य' नाम तीन स्थलों पर प्रयुक्त हुए हैं-- परामर्थ के वसुबंधु में,[४] गुप्तवंश के सिक्कों[५] पर, औरयुवान-च्वांग-के यात्रा-वृत्तांत में। इसमें से प्रथम दो स्थलों के बालादित्य के समीकरण में तो विद्वानों में मतभेद नहीं हैं किन्तु तीसरे अर्थात् युवान च्वांग के वृत्तांत में उल्लिखित बालादित्य को लेकर विद्वानों ने अनेक अनुमान किए हैं। परमार्थ के वसुबंधु के बालादित्य को, विद्वानों ने, चन्द्रगुप्त द्वितीय 'विक्रमादित्य' के पुत्र गोविन्दगुप्त को माना हैं।[६] इसी प्रकार गुप्तवंश के सिक्कों पर अंकित बालादित्य उपाधि केवल नरसिंहगुप्त के लिए प्रयुक्त हुआ है।[७] इस प्रकार के सिक्कों पर जिस पर 'बालादित्य' अंकित है एक ओर हाथ में धनुष-बाण लिए राजा की मूर्ति और दूसरी ओर हाथ में पद्म लिए पद्मासना लक्ष्मी देवी की मूर्ति हैं।

---

१ का०इं०इं०, ३,नं० ७६, पृ० २८४।
२ इं०हि०इं०, पृ० ६३. शास्त्री, आर्यमंजूश्रीमुलकल्प, पृ० ६३७आगे।
३ वही, पृ० ४७, ५३, पो० हि०एं०इं०, पृ० ५६६, नो० २।
४ ज०रा०ए०सो०, १६०५, पृ० ४४।
५ इं०म्यु०के, १, पृ० ११६–२०,नं० १-६।
६ सालातोर, लाइफ इन गुप्त एज, पृ० २८।
७ इं० म्यू० कै०, १, पृ० ११६–२०।

युवान च्वांग का बालादित्य और एरण लेख का भानुगुप्त एक ही व्यक्ति थे, इस पक्ष में विद्वानों को कहने का मुख्य आधार एरण लेख के भानुगुप्त और युवानच्वांग के 'वृत्तांत' के बालादित्य के संबंध में कहे गये कुछ शब्द हैं। युवान च्वाँग ने वर्णन किया है कि बालादित्य ने हूण सरदार (मिहिरकुल) को कैद कर लिया परन्तु राजमाता की आज्ञा से मुक्त कर दिया।[1] युवान च्वांग के इस कथन की पुष्टि ये एरण लेख से करते हैं जहां भानुगुप्त के लिए 'जगति प्रवीरो राजा महान् पार्थसमोऽतिशूर:' वाक्य का प्रयोग किया गया है।[2] इसके अतिरिक्त ये विद्वान्[3] यह कहते है कि हूणों के साथ युद्ध के उल्लेख का संबंध नरसिंहगुप्त के साथ नहीं जोड़ा जा सकता क्योंकि नरसिंहगुप्त ने अपने जीवन--काल में कभी हूणों का सामना नहीं किया। विद्वानों को ऐसा कहने का मुख्य आधार यही है कि उसके सम्बन्ध में हूणों से युद्ध का उल्लेख नहीं मिलता है। गुप्त नरेश भानुगुप्त से हुणों के युद्ध का वर्णन गोपराज के एरण वाले लेख में मिलता है। अतएव युवान-च्वांग-वर्णित बालादित्य तथा भानुगुप्त को एक ही व्यक्ति मानना युक्तियुक्त होगा।[4] किन्तु इस अनुमान के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं है जिससे यह प्रमाणित हो सके कि गुप्त-वंश में कोई भानुगुप्त नामक सम्राट हुआ था जिसने 'बालादित्य' उपाधि धारण की। केवल इस आधार पर कि वह पृथ्वी पर पार्थ के समान वीर था अतएव गुप्त-सम्राट-कुल का रहा होगा और बालादित्य उपाधि धारण की होगी, ठीक नहीं प्रतीत होता। हाँ, इतना कहा जा सकता है कि यह गुप्त-वंश से सम्बन्धित रहा होगा जो म्लेच्छों (हूणों) को देश को रोंदते उठ खड़ा हुआ और उनसे लोहा लिया।[5] एरण लेख[6] के अतिरिक्त भानुगुप्त के सम्बन्ध में और

---

१ बील, रिकार्डस, १, पृ० १६८।

२ सिलेक्ट इंस्क्रप्शंस, पृ० ३३५,लेख पंक्ति ५।

३ रायचौधरी, पो०हि०एं०इं, पृ० ५६६, सालतोर, वही, पृ० ४८, उपाध्याय, गुप्त साम्राज्य का इतिहास, १, पृ० १३४।

४ देखिये, पो० हि० एं०इं०, पृ० ५६६।

५ द्रष्टव्य, डि० कि० म०, पृ० ६४ टिप्पणि ५।

६ का० इ० इं०, ३, पृ० ६३।

कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है ।[१] अतएव भानुगुप्त युवान-च्वागं का 'बालादित्य' नहीं था इस बालादित्य 'की पहचान प्राय: सभी विद्वान नरसिंहगुप्त से करते हैं ।[२] अत: प्रकट है कि युवान-च्वाग का 'बालादित्य और कोई नहीं नरसिंगुहप्त ही था ।

अब देखना यह है कि प्रकटादित्य का पिता 'बालादित्य' कौन था । यदि सिनहा के कथन पर विश्वास किया जाय तो प्रकटादित्य का पिता वैण्यगुप्त था जिसने 'द्वादशादित्य' के अतिरिक्त बलादित्य उपाधि भी धारण की । बालादित्य सम्भवत: इसलिए क्योंकि नरसिंहगुप्त बालादित्य से उसकी प्रतिद्वन्द्विता थी ।[3] तोरमाण के आक्रमण के समय सम्भवत: उसने हूणों की सहायता की । फलस्वरूप उसकी तोरमाण ने गुप्त साम्राज्य के पूर्वी प्रदेशों का शासक बनने में, सहायता की । वेण्यगुप्त के सम्बन्ध में साहित्यिक और पुरातात्विक दोनों प्रमाण उपलब्ध हैं । साहित्य में 'आर्य-मंजुश्री मूलकल्प' का उल्लेख किया जा सकता है । विद्वानों ने इसमें उल्लिखित 'भकाराख्य' का परीक्षण वैण्यगुप्त के सिक्कों के 'भा' से किया है ।[४] इसमें ऐसा भी उल्लेख है कि बुधगुप्त की मृत्यु के पश्चात् गुप्त साम्राज्य की दो राजधानियाँ हुई—एक मगध और दूसरा गौड़ ।[५] बंगाल में गुणैधर नामक गाँव से प्राप्त एक लेख से इसकी पुष्टि भी हो जाती है ।[६] यह लेख वैण्यगुप्त का था । इस लेख में वैण्यगुप्त के लिए साम्राटोचित उपाधि का प्रयोग नहीं किया है । किन्तु इससे यह नही समझ लेना चाहिए कि उसकी एक अधीन शासक की सी

---

१ ज० न्यू० सो० इं०. २०, १० पृ० ७४, ७५ (परमेश्वरीलाल गुप्त और कर्टिस ने प्रकाशादित्य' नामक सिक्कों को भानुगुप्त का बतलाया है । डांडेकर ने इसको समीकरण बुधगुप्त से किया है, हिस्ट्री आफ दि गुप्ताज, पृ० १३६ किन्तु इस विषय पर जबतक पुष्ट प्रमाण नहीं मिलते हम इस अनुमान के नहीं मानेगें ।)

२ सिनहा डि० क्रि० म०, पृ० ६५, बसाक हि० ना० इ० ई०, पृ० १०१ मजुमदार. वाकाटक गुप्त एज, पृ० १६२ ।

३ सिनहा, हि० कि० म०, पृ० ६५ ।

४ वही ।

५ देखिये, इं० हि०, क्वा० ६, पृ० ४५ आगे ।

६ इं० हि० क्वा०, ६, पृ० ४५ आगे ।

स्थिति थी।[१] इस सम्बन्ध में हमारा भ्रम तब दूर हो जाता है जब वैण्यगुप्त का नालंदा से मिली एक मुद्रा देखते हैं, जिस पर उसको सम्राटोचित उपाधि से अभिहित किया गया है।[२]

नरसिंहगुप्त और वैण्यगुप्त में प्रतिद्वन्द्विता थी। इस कथन की पुष्टि तब हो जाती है जब बुधगुप्त के पश्चात् गुप्त साम्राज्य का उत्तराधिकारी नरसिंहगुप्त हुआ (बुधगुप्त के पश्चात् नरसिंहगुप्त साम्राज्य का स्वामी हुआ इस विषय पर सिनहा,[३] मजूमदार[४] में मतैक्य है। अन्य विद्वानों में इस पर मतैक्य नहीं हो सका है क्योंकि किसी ने इस काल में गुप्त वंश में विभाजन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया[५] तो किसी ने गुप्तों की मुद्राओं को आधार बना एक नये मत का प्रतिपादन किया।[६]) इस प्रतिद्वन्द्विता के कारण ही नरसिंहगुप्त के जीवन-काल में ही बंगाल में वैण्यगुप्त ने 'बालादित्य' उपाधि धारण कर अपने को 'महाराजाधिराज 'घोषित कर दिया। इसको प्रतिद्वन्द्विता और द्वेष ही कहेंगे। इस कार्य में उसको सम्भवत: तोरमाण की सहायता मिली। प्रकटादित्य इसी का पुत्र था।[७] 'मंजुश्रीमूलकल्प'[८] के अनुसार प्रकटादित्य जब बालक था तभी जेल में बन्द कर दिया गया। इस कार्य में नरसिंहगुप्त का हाथ रहा होगा।[९] तोरमाण जब मगध की ओर बढ़ा तो इसको मुक्त किया और काशी और मगध का शासक नियुक्त किया।[१०] किन्तु तोरमाण के हटते ही, ईसवी ५०७ के लगभग इन प्रदेशों में विद्रोह हो गया। ईसवी ५०७ में बंगाल में गोपचन्द्र ने वैण्यगुप्त के

---

१ डंडेकर, हिस्ट्री आफ दि गुप्तज, पृ० १४२, सिनहा, डि० कि० म०, पृ० ६६।
२ मे० आर्के० सर्वे इं०, नं० ६६, पृ० ६७।
३ डि० कि० म०, पृ० ८०।
४ वाकाटक गुप्त एज, पृ० १९२।
५ बसाक, हि० ना० ई० इं०, पृ० ७६।
६ रायचौधरी, पो० हि० एं० इ०, पृ० ५८१-५९४।
७ डि० कि० म०, पृ० ९५।
८ इं० हि० इं०, पृ० ६३।
९ देखिये, सिनहा भी डि० कि० म०, पृ० ९३।
१० इं० हि० इं०, पृ० ५३ आगे।

विरुद्ध विद्रोह कर दिया और स्वतन्त्र राज्य की स्थापना कर उसका प्रथम 'महाराजाधिराज' हुआ।[१] वैण्यगुप्त के विरुद्ध यह विद्रोह ईसवी ५०७ में ही हुआ क्योंकि नेपाल के इतिहास में भी इस समय हम एक परिवर्तन पाते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि बंगाल के इस विद्रोह की प्रतिक्रिया नेपाल में हुई। वसन्तदेव ने सम्भवतः इसीलिए सलाहकार के रूप में महासामन्त महाराज क्रमलील को सं० ४५४ में बुलाया।

इस गोपचन्द्र की संपुष्टि सिनहा ने[२] 'मंजुश्रीमूलकल्प' के 'गोप' से की है जिसने बालक प्रकटादित्य को पकड़कर जेल में बन्द किया था। इनके अनुसार प्रारम्भ में वह नरसिंहगुप्त के अधीन सामन्त नृपति था किन्तु बाद में वैण्यगुप्त का उन्मूलन कर स्वयं वर्धमान भुक्ति का 'महाराजाधिराज' बन बैठा। देखना यह है क्या वस्तुतः गोपचन्द्र नरसिंहगुप्त के अधीन सामन्त नृपति था?

जब हम बंगाल के, एवं विवेच्य काल के उत्तर भारत के, इतिहास का विश्लेषण करते हैं तब डा० सिनहा का मत खरा नहीं उतरता। बंगाल प्रारम्भ से ही विद्रोही रहा है, इसको हम देख चुके हैं।[३] विद्रोही क्षेत्र के शासक हमेशा अवसर की तलाश में रहते हैं। थोड़ा भी अवसर उनके लिए स्वर्ण अवसर होता है। इसके अतिरिक्त वैण्यगुप्त लोकप्रिय शासक भी नहीं था। वह हूण तोरमाण की सहायता से 'महाराजाधिराज' हुआ था। अतएव गोपचन्द्र ने उसकी अलोकप्रियता का लाभ उठाया और उसके राज्य के एक वरिष्ठ अधिकारी 'महासामन्त महाराज' विजयसेन को अपने पक्ष में कर उसको (वैण्यगुप्त) सम्भवतः मार डाला। 'महासामन्त महाराज' विजयसेन के नाम का उल्लेख वैण्यगुप्त के गुणैधर ताम्रपत्र लेख में हुआ है।[४] गोपचन्द्र के मल्लसारुल लेख में भी 'महाराज' विजयसेन के नाम का उल्लेख हुआ है।[५] विद्वानों ने इसका समीकरण गुणैधर लेख के विजयसेन से किया

१ एपि० इं०, २३, पृ० १५५।
२ डि० किं० मग०, पृ० ६४, टिप्पणी।
३ देखिये, पृष्ठभूमि।
४ एपि० इं०, २३, पृ० १५५।
५ इं० एं०, ३६, पृ० १९३।

है।[1] मल्लसारुल लेख से पूर्व विजयसेन को मुद्रांकित करने का अधिकार नहीं प्राप्त था किन्तु इस लेख में वह मुद्रांकित करते हुए भी पाया गया है जो उसके राजनीतिक स्तर (स्टेटस) को बतलाता है।

इसके अतिरिक्त इस कथन की तब और पुष्टि होती है जब मैत्रक द्रोण सिंह के कार्य से प्रसन्न होकर नरसिंह गुप्त उसको 'महाराज' उपाधि से स्वयं विभूषित करता है। 'महाराजाधिराज' सम्राट् की उपाधि थी। गोपचन्द्र को वह क्यों इस उपाधि से विभूषित करता ? यदि वह उसका सामन्त था। ऐसी दशा में हम यही कहेंगे कि मल्लासारुल लेख के गोपचन्द्र का सम्बन्ध 'मंजुश्रीमूलकल्प' के 'गोप' से नहीं था। होर्नल ने (इं० ए०, ३९, पृ० २०८) गोपचन्द्र का समीकरण तिब्बती इतिहासकार तारानाथ के युवराज गोविन्द-चन्द्र से किया है। और बतलाया है कि यह बालादित्य का पौत्र तथा सम्राट् कुमारगुप्त द्वितीय का पुत्र था जिसको यशोधर्मा ने राज्यच्युत कर दिया था। इसके आगे वे यह भी कहते हैं कि यदि यह समीकरण मान लिया जाय तो यह ज्ञात हो जाता है कि गोविन्दचन्द्र अथवा गोपचन्द्र ने सुदूर पूर्व में ही क्यों शासन किया एवं 'महाराजाधिराज' उपाधि धारण की। 'महाराजा-धिराज' उपाधि धारण करने के सम्बन्ध में होर्नल ने यह बतलाया है कि-इस उपाधि का वह अधिकारी था। वह गुप्त सम्राटों का वंशज था। होर्नल ने गोपचन्द्र का काल ईसवी ५६८ माना है। किन्तु होर्नल के इस समीकरण और तिथि से हम सहमत नहीं हैं। क्योंकि एन० जी० मजूमदार ने (एपि० इं०, २३, पृ० १५६, १५८) गोपचन्द्र का काल निश्चित कर दिया है जिसको आज प्रायः विद्वान मान भी लिये हैं।

बंगाल के इस विद्रोह को दवाने का संभवतः तोरमाण ने प्रयत्न भी किया। किन्तु सफलता हाथ नहीं लगी। इसी बीच पूर्वी मालवा में भी विद्रोहाग्नि फैलने लगी थी। बंगाल को सम्भवतः ऐसे ही छोड़ वह मालवा की ओर बढ़ा। भानुगुप्त के नेतृत्व में गोपराज से इसका घमासान युद्ध हुआ।[2] गोपराज[3] मारा गया। हूणों के लिए यह जीत भी हार के ही समान रही होगी। बहुत सम्भव है इसी युद्ध में तोरमाण मारा गया।

१ इं० हि० क्वा०, ६, पृ० ४५ आगे, एपि० इं०, २३, पृ० १५८।
२ देखिये, का० इं० इं०, ३, नं० २०।
३ देखिये वही

जैन ग्रन्थ 'कुवलयमाला' भी तोरमाण के बारे में प्रकाश डालता है।[1] इस ग्रन्थ का संपादन ७७८ ईसवी में हुआ था। तोरमाण के सम्बन्ध में यह लिखा है कि वह उत्तरापथ का स्वामी था और चन्द्रभागा नदी के किनारे पवैया में रहता था। उसके गुरु† का नाम हरिगुप्त था जो गुप्तवंशी था।[2] अहिच्छत्रा से हरिगुप्त नामक शासक के सिक्के भी मिले है।[3] सिनहा ने इस हरिगुप्त का मिलान 'कुवलयमाला' के हरिगुप्त से किया है।[4] इसका एक लेख भी मिला है।[5] यह लेख उत्तरप्रदेश के बांदा जिलान्तर्गत धानेश्वर खेरा नामक गांव से प्राप्त एक कांस्य प्रतिमा पर उल्लिखित है। इससे विदित होता है कि श्री हरिराज गुप्तवंशी था। सरकार ने इस हरिराज और सिक्कों के हरिगुप्त को एक बतलाया है।[6]

तोरमाण के सिक्कों[7] और लेखों[8] पर 'जबुव्ल', 'जोव्ल', 'जबुल' आदि मिलता है। कनिंघम ने इसको जातिवाचक बतलाया है।[9] हूणों में जाबूली जाति के लोग जो जबूलिस्तान में रहते थे। तौरमाण इसी जाति का था।[10] यहां एक प्रश्न विचारणीय है। वह यह कि हुणों में कोई 'जबूली' जाति थी अथवा 'जबूलिस्तान' में रहने के कारण से वे 'जबूली' कहलाये। साधारण

---

१ ज० वि० उ० रि० सो०, १६, पृ० २८ आगे। मित्रा का लेख भी देखिये, इं० हि० क्वा०, ३३, पृ० ३५३ आगे।

२ इं० हि० क्वा० ३३, पृ० ३५४ आगे।

३ एपि० इं०, ३३, पृ० ६५-६८।

४ डि० कि० म०, पृ० ६४।

५ वही।

† इस तरह का उदाहरण जिसमें गुरुओं को प्रशनसन करते हुए पाते हैं परवर्ती तिब्बत स्थित मंगोलों में भी मिलता है, तद्युगीन शासन कुबलिया खां (१३वीं सदी) का गुरू मध्य तिब्बत प्रदेश का प्रशासक था, चार्ल्स बेल-द रिलीजन आव तिब्बत, पृ० ६५-६७, राहुल सांकृत्यायन, तिब्बत में बौद्ध धर्म, ४५-४६।

६ एपि० इं०, ३३, पृ० ६७।

७ न्यू० क्रा०, १८६४, पृ० २५६।

८ एपि० इं०, १, पृ० २३६ आगे।

९ न्यू० क्रा०, १८६४, पृ० २६१।

१० वही, पृ० २६३।

तथा अपनी मूलभूमि से निर्वासित अथवा आक्रामक जातियां जब किसी दूसरी भूमि पर बस जाती हैं तब अपनी मूलभूमि की स्मृति में किसी नगर का निर्माण करती हैं। इस सम्बन्ध में शकों में 'क्षहरातों' और 'कार्दमकों' का दृष्टान्त दिया जा सकता है। ये कार्दमक और क्षहरात इसलिये कहलाये क्योंकि ये 'कार्दम' घाटी और क्षहर' नगर के निवासी थे।[1] अतएव यही कहना उपयुक्त होगा कि जबूलिस्तान में रहने के कारण ही ये से 'जबूली' कहलाये।

तोरमाण की मृत्यु के पश्चात् उसके द्वारा विजित क्षेत्रों पर यदि दृष्टि-पात करें तो ज्ञात होगा कि पूर्वी मालवा से पूर्व के प्रदेश हूणों के अधिकार से निकल गये थे। कोशाम्बी, जो कि हूणों के सैनिक अभियान का गढ़ था, पर इस काल में ध्रुवदत्त और शिवदत्त अथवा शर्वदत्त का शासन था।[2] मगध जिस पर नरसिंहगुप्त बालादित्य का शासन था (किन्तु तोरमारण के काल में जो निर्वासित जीवन व्यतीत कर रहा था[3]) तोरमाण की मृत्यु होते ही मगध की गद्दी पर पुनः जा बैठा।[4] इसी तरह पूर्व बंगाल में, वैण्यगुप्त के विरूद्ध विद्रोह के कारण वर्धमानभुक्ति से, महाराजा-घिराज गोपचन्द्र का शासन प्रारम्भ हो गया।

तोरमाण के पश्चात् उसके पुत्र[5] मिहिरकुल (गुल) ने हूण-राज्य पर शासन किया। यह भी अपने पिता के सदृश प्रतापी था तथा भारत में हूणों का द्वितीय शासक समझा जाता है। ग्वालियर से प्राप्त उसके लेख में उसके शासन का १५वां वर्ष अंकित मिलता है। ईसवी सन् में इस वर्ष पंद्रह को हम ५२५ मान सकते हैं, इस आधार पर कि ईसवी ५१० में तोरमाण की मृत्यु हो गई होगी और उसी वर्ष मिहिरकुल का सिंहासनारोहण हुआ होगा।

---

१ देखिये लेखक का लेख, जबलपुर विश्वविद्यालय, बुलेटिन, मध्यभारती, १, पृ० ६० आगे।

२ इंडियन आर्केलाजी, १९५४-५५, पृ० १८।

३ डि० कि० म०, पृ० १०३।

४ वही।

५ देखिये मिहिरकुल का सं० १५ में लिखित ग्वालियर का लेख (श्री तोरमाण इति यः प्रथितो भूचक्रपः प्रतभृगुणः तस्योदितकुलकीर्तेः पुत्रोतुलविक्रमः पतिः पृथिव्या मिहिरकुलेतिख्यातो भंगोयः पसुपति)।

हम देख चुके हैं कि तोरमाण की मृत्यु होते ही उत्तर भारत की राजनीति में क्या-क्या परिवर्तन हुए। किन्तु मिहिरकुल पराक्रमी था। बंगाल पर तो सम्भवतः नहीं परन्तु मगध पर उसका प्रभाव था। मगध पर इस समय नरसिंहगुप्त का शासन था। इस तरह नरसिंहगुप्त का मगध की राजधानी में पुनर्गमन हुआ।[1] किन्तु कोई, न नरसिंहगुप्त और न मिहिरकुल ही, युद्ध के लिए तत्पर था। मिहिरकुल और नरसिंहगुप्त दोनों सम्भवतः अपने-अपने राज्यों की आंतरिक सुव्यवस्था में लगे हुए थे। नरसिंहगुप्त ने सम्भवतः मिहिरकुल के प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया था। युवान-च्वांग के वृतान्त से ऐसा विदित होता है कि बालादित्य हूण शासक को भेंट आदि दिया करता था।[2] सम्भवतः इसलिए कि वह (मिहिरकुल) बौद्धों के प्रति सहानुभूति का व्यवहार करेगा।

लेकिन चीनी वृत्तान्तों से विदित होता है कि क्रूरता और नृशंसता उसके (मिहिरकुल) लिए मनोरंजन का साधन थी। अपने शासन के पन्द्रहवें वर्ष तक वह सम्भवतः पूर्वी मालवा और कौशाम्बी क्षेत्र पर अपना अधिकार जमा चुका था। यही कारण है कि उसकी क्रूरता में वृद्धि भी हुई। युवान-च्वांग के अनुसार उसने (मो-हि-लो-कि-लो) शांतिप्रिय बौद्धों पर अत्याचार किये और उनके स्तूपों तथा विहारों को लूटकर उन्हें नष्ट कर दिया।[3] सुंग-युन के अनुसार जो ईसवी ५१९-५२० में मिहिरकुल की राजधानी (गन्धार) में गया था, नृशंसता उसके लिए मनोरंजन का साधन थी।[4] मिहिरकुल के इस व्यवहार ने नरसिंहगुप्त को वह 'संधि' तोड़ने के लिए बाध्य किया जिससे वह अनुबंधित था। नरसिंहगुप्त बौद्ध धर्म का अनुयायी था। वह बौद्धों के ऊपर अत्याचार नहीं सहन कर सकता था। उसके द्वारा मिहिरकुल का विरोध करना स्वाभाविक था। किन्तु मिहिरकुल ने इस विरोध के दण्डस्वरूप तत्काल नरसिंहगुप्त पर आक्रमण नहीं किया। वह अवसर की तलाश में था। गोपचन्द्र की सम्भवतः उसके शासन के वर्ष

१ डि० कि० म०, पृ० १०१।

२ बील, दि रिकार्डस, १, पृ० १६८।

३ वाटर्स, १, पृ० २८८।

४ बील, वही, भूमिका, पृ० ९९-१००, अर्ली हि० इं०, पृ० ३१७।

१८वें (५२५ ई० के लगभग) में मृत्यु हो गई। उसका सम्भवत: कोई उत्तराधिकारी नहीं था। मिहिरकुल इसी अवसर की तलाश में था। किन्तु उसे यह नहीं मालूम था कि पश्चिमी मालवा में जनेन्द्र यशोधर्मा उठ खड़ा होगा। वह तो सम्भवत: यही जानता था कि बंगाल (गोपचन्द्र) और सौराष्ट्र (द्रोणसिंह) में उस समय कोई शक्तिशाली नृपति नहीं था जो बालादित्य की सहायता को आता। द्रोणसिंह की भी इसी समय मृत्यु हुई थी। यह हम इस आधार पर कह रहे हैं क्योंकि द्रोणसिंह की तिथि ज्ञात है। उसके बाद यदि कोई लेख मिलता है तो वह है उसके उत्तराधिकारी ध्रुवसेन प्रथम का जो कि उसके काल का प्रारम्भिक लेख है। हम प्रारम्भिक लेख इसलिए कह रहे हैं क्योंकि उस पर गु० सं० २०६ अंकित है और उसके पश्चात् भी उसके लेख मिलते हैं। गु० सं० १८३ के पश्चात् तिथि से अंकित यही दूसरा लेख है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि द्रोणसिंह की मृत्यु ५२५ ईसवी के लगभग हुई। उसकी मृत्यु के पश्चात वहाँ का शासक उसका भाई ध्रुवसेन प्रथम हुआ। उसके लेखों से विदित होता है कि उसने सिंहासन को अपने बाहुबल से प्राप्त किया।[1] इससे अनुमान किया जा सकता है कि द्रोणसिंह की मृत्यु होते ही राज्य पर कोई संकट आयी होगी।[2]

मिहिरकुल को इससे अच्छा अवसर सम्भवत: दूसरा न मिलता। वह नरसिंहगुप्त पर ५२६ ईसवी में टूट पड़ा।[3] बालादित्य लोकप्रिय शासक था।[4] अत्याचारी मिहिरकुल के विरुद्ध उसको जनता और अन्य राजाओं का भी सहयोग प्राप्त था। इस हूण आक्रमण के विरुद्ध सम्भवत: यशोधर्मा भी बालादित्य के साथ था। किन्तु, युवान-च्वांग ने इसका वर्णन नहीं किया, इसलिए कि वह बौद्ध धर्म से सम्बन्धित व्यक्ति और स्थान का ही वर्णन अपने वृत्तान्त में करना चाहता था। कहने का तात्पर्य यह है कि उसने यशोधर्मा के सहयोग को महत्व नहीं दिया। यद्यपि उसमें ऐसा वर्णन मिलता

१ एपि० इं०, ४, पृ० १०४-७ (लेख पंक्ति १०-११ स्वभुज पराक्रमेण)।

२ देखिये आगे।

३ अर्ली हि० ना० इं०, पृ० १८७।

४ देखिये वाटर्स, १, पृ० २८८, बील, वही, १, पृ० १६६।

है कि मध्यभारत के किसी राजा ने 'वज्र' के (जो बालादित्य का पुत्र था) पश्चात् नालंदा में संघाराम का निर्माण कराया था।[1] विद्वानों ने मध्यभारत के इस राजा को यशोधर्मा माना है।[2]

युवान-च्वांग के अनुसार बालादित्य ने मिहिरकुल को पकड़ लिया। किन्तु अपनी माता के कहने पर उसको मुक्त कर दिया।[3] पराजित होकर वह उत्तर की ओर भागा।[4] लेकिन इस हूण-पराजय को लेकर विद्वानों में विवाद है। स्मिथ[5] के विचारानुसार हूण संकट को ऊपर आता देख यशोधर्मा और बालादित्य ने इस संकट का सामना करने के हेतु एक संघ (कनफडरेसी) बनाया। यदि मौदी[6] का विश्वास किया जाय तो इस संघ को बनाने का मुख्य श्रेय यशोधर्मा को था। इस संघ के सम्बन्ध में यदि हम यह कहें कि बाह्य आक्रमणों का मिलकर सामना करने की भावना अभी मिट्टी नहीं थी तो अनुपयुक्त न होगा। यद्यपि इस काल तक गुप्त साम्राज्य के कई राज्य अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर चके थे। दशपुर के औलिकरों और बंगाल के शासकों का उदाहरण दिया जा सकता है। भारतीय इतिहास में, बाद के काल में, हम इस प्रवृत्ति को नहीं पाते हैं। तब प्राय: शासक आपसी वैमनस्य और स्वार्थ के कारण आक्रामक के साथ संधि कर लेते थे। यद्यपि संघ को स्थापित करने का मुख्य श्रेय यशोधर्मा को था तथापि इस मोर्चे का प्रधान सेनापति गुप्त सम्राट् बालादित्य ही था। बालादित्य इसलिए क्योंकि वह लोकप्रिय[7] शासक था और गुप्त सत्ता का सूर्य अभी अस्त नहीं हुआ था।

---

१ वाटर्स २, पृ० १६५

(To the west of this monastery Baladitya's son and successor Vajra built another, and to the north of this a king of Mid-India afterwards erected a long monastery.)

२ देखिये, अर्ली० हि० ना० इं०, पृ० १६६, डि० कि० म०, पृ० ११३।

३ बील, दि रिकार्ड्स, १, पृ० १६६।

४ वही।

५ अर्ली हि० इं०, पृ० ३१८।

६ ज० बा० ब्रा० रा० ए० सो० २४ (१९१६-१७), पृ० ५८६ आगे।

७ बील, वही, १, १६६।

(I मोदी के इस विचार से हेय सहमत हैं जिसमें वह यशोधर्मा को संघ की स्थापना का मुख्य श्रेय प्रदान करते हैं। हमने मोदी का समर्थन इसलिए किया है क्योंकि यह ज्ञात है कि यशोधर्मा एक महत्वाकांक्षी और कुशल कूटनीतिज्ञ था।[१] इस मोर्चे की स्थापना कर उसने बतला दिया कि उसमें एक कुशल नेता के गुण विद्यमान हैं। बालादित्य की मृत्यु के पश्चात् उसने गुप्तों और हूणों के प्रभाव-क्षेत्र से भी बड़े राज्य की स्थापना कर इस कथन की पुष्टि भी कर दी।[२]

किन्तु (जैसा हम अभी कह चुके हैं) कि विद्वानों में इस हूण आक्रमण और उसका भारतीय प्रतिरोध को लेकर मतभेद है। इस विवाद का मुख्य आधार यशोधर्मा का मंदसोर का लेख है जिससे अनुमान किया जाता है कि उसने हूणों को पराजित किया था।[३] मंदसोर का यह लेख युवान-च्वांग के वृत्तांत की प्रामाणिकता पर विचार के लिए बाध्य कर देता है। प्रश्न यह है किसको मान्यता दी जाय—यशोधर्मा के मंदसोर लेख को (जो कि यशोधर्मा और हूण-युद्ध के समकालीन था) अथवा युवान च्वांग के वृत्तांत को, जो कि घटना के लगभग एक शताब्दी बाद लिखा गया। स्मिथ ने अपनी पुस्तक के चतुर्थ संस्करण में युवान-च्वांग के वृत्तान्त को मान्यता नहीं दी है।[४] वही ऐसा सर्वप्रथम विद्वान है जो केवल मंदसोर लेख पर विश्वास करता है। किन्तु विद्वानों ने इसकी प्रामाणिकता को एकदम से भुलाया नहीं।[५] उन्होंने दोनों प्रामाणों पर अपने मतों की स्थापना की।

---

१ देखिये, आगे।

२ देखिये, का० इं० इं०, ३, नं० ३३ पृ० १४७ आगे।

३ वही, पृ० १५२. इं० हि० क्वा०, ३, पृ० १-१२, इं० एं० १८८६, पृ० २२८, ज० ए० सो० बं०, ५८, पृ० ६६, एलेन, कैटलाग, भूमिका, पृ० ५६, मुखर्जी, हर्ष, पृ० ५६।

४ देखिये, अर्ली हि० इं०, पृ० ३३०, ३२७ और ज० रा० ए० सो०, १६०६, पृ० ६६-६८, मोदी (ज० बां० ब्रा० रा० ए० सो०, २३, पृ० ५३६ आगे) और पाठक (इं० ए०, १६१५, पृ० १६ आगे) ने भी इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया।

५ देखिये, पादटिप्पणि ३।

फ्लीट[1] ने दोनों प्रमाणों को मान्यता देते हुए यह कहा है कि मिहिरकुल की सर्वप्रथम पराजय पूर्व में नरसिंहगुप्त बालादित्य द्वारा और तत्पश्चात् पश्चिम में यशोधर्मा द्वारा हुई। फ्लीट के इस मत का एलन[2] और मुखर्जी[3] भी समर्थन करते हैं। इन लोगों ने यही कहा है कि मिहिरकुल की पहली हार बालादित्य के हाथों और अंतिम पराजय यशोधर्मा द्वारा हुई। इन विद्वानों का ऐसा सोचना संभवत: राजतरंगिणी के उस उद्धरण से है जिससे विदित होता है कि उज्जयिनी के शासक विक्रमादित्य ने (यशोधर्मा) मिहिरकुल को पराजित करके वहाँ पर मातृगुप्त को प्रशासक नियुक्त किया।[4]

किन्तु होर्नल का कथन इस सम्बन्ध में सर्वथा भिन्न है। उनके विचारानुसार यशोधर्मा–विष्णुवर्धन ने जो कि नरसिंहगुप्त बालादित्य के अधीन शासक था, बालादित्य के ही शासन-काल में मिहिरकुल को पराजित किया और इस विजय से उत्साहित होकर उसने एक साम्राज्य की स्थापना की।[5] ध्यान देने योग्य यहाँ एक बात है और वह यह कि इस विजय का श्रेय होर्नल यशोधर्मा को देते हैं[6] जबकि अन्य विद्वान् मिहिरकुल के विरुद्ध संगठित एक संघ को इसका श्रेय देते हैं।[7] तत्कालीन इतिहास पर यदि एक विहंगम दृष्टि डालें तो इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगें कि मिहिरकुल का सामना, जिसके पास अनुश्रुतियों के अनुसार एक बहुत बड़ी सेना थी, अकेले एक राजा नहीं कर सकता था, बिना राजाओं का संघ बनाये। और शक्तिशाली शासकों के विरुद्ध (जब कि वह विदेशी आक्रामक हो) संघ बनाने

---

१ इं एं १८, पृ० २२८ आगे।
२ एलन, कैटलग, भूमिका, पृ० ५६।
३ हर्ष, पृ० ५६।
४ राजतरंगिणी, अनु० स्टेन, १, पृ० ८३ के आधार पर होर्नल, ज० रा० ए० सो०, १६०३, पृ० ५५१।
५ ज० ए० सो० बं०, ५८, पृ० ६६।
६ वही।
७ देखिये पीछे।

की प्रवृत्ति गुप्त काल के लिए नवीन नहीं थी ।[१] इसके अतिरिक्त होर्नल के मत के विरुद्ध यदि कुछ कह सकते हैं तो यह कि उन्होंने जो यशोधर्मा-विष्णुवर्धन को बालादित्य के अधीन शासक बतलाया है वह हमें ग्राह्य नहीं है। इस वक्तव्य का मुख्य आधार वह कथन है जिसमें हमने यह कहा है कि स्कन्दगुप्त की मृत्यु के पश्चात् ही दशपुर का इलाका गुप्तों के प्रभाव-क्षेत्र से बाहर हो गया ।[२]

अब हमें फ्लीट और उनके समर्थकों के विचारों का परीक्षण करना है। इन विचारकों के अनुसार मिहिरकुल की दो बार पराजय हुई—पहले बालादित्य के हाथों, बाद में यशोधर्मा द्वारा। इन्होंने हूणों के विरुद्ध संघ के निर्माण के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। इन विचारकों के मतों से भी हम कुछ सहमत हैं। सहमत इस अर्थ में कि इन्होंने मिहिरकुल की दो बार पराजय की बात की है। थोड़ा भिन्न इस अर्थ में कि इन लोगों ने संघ को नहीं माना है। हमारे विचारानुसार यशोधर्मा ने मिहिरकुल को दूसरी बार (बालादित्य की मृत्यु हो जाने के बाद) पराजित किया[३]। वासुदेव उपाध्याय भी इसी मत के हैं। किन्तु यह भी हूणों के विरुद्ध बने संघ को नहीं मानते है[४]।

लेकिन प्रो० हेरास, फ्लीट और उनके समर्थकों से सर्वथा भिन्न हैं। इनके मतानुसार मिहिरकुल की अंतिम और निर्णायक पराजय बालादित्य के द्वारा हुई[५]। किन्तु वासुदेव उपाध्याय ने यह निश्चित कर दिया है कि मिहिरकुल की अंतिम और निर्णायक पराजय यशोधर्मा के द्वारा हुई[६]।

---

१ किन्तु प्रो० हेरास यहाँ इस प्रकार के संघ के विरुद्ध है (इं० हि० क्वा०, ३, पृ० ७) उनके इस वक्तव्य का मुख्य आधार विश्नाथ की वह पुस्तक (इन्टरनेशनल लाइन ऐंसेट इंडिया, पृ० ५६) है जिससे उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला है कि एक ही दुश्मन का सामना करने के लिए दो प्रबल विरोधी आपस में एक नहीं हो सकते—जबकि दोनों सबल हों।

२ देखिये तीसरा अध्याय।

३ देखिये आगे।

४ इं० हि० क्वा०, १५, पृ० ३०२ आगे।

५ वही. ३, पृ० १-१२।

६ वही, १५, पृ० ३०६।

इस प्रकार फ्लीट और उनके समर्थकों की श्रेणी में उपाध्याय भी आ जाते हैं। रायचौधरी भी इसी पक्ष के विद्वान हैं[१]। हमारे विश्लेषण का निष्कर्ष भी इसी मत के समर्थन में निकलता है। किन्तु प्रोफेसर राधाकृष्ण चौधरी[२] (जिन्होंने भारत पर हूण आक्रमण पर सन् १९५९ में एक शोध-निबन्ध भी लिखा हैं) ने प्रो० हेरास के मत का ही प्रतिपादन किया है जिनके अनुसार मिहिरकुल का प्रथम युद्ध यशोधर्मा के साथ हुआ। बाद में बालादित्य के द्वारा उसकी बुरी तरह पराजय हुई। इस मत का प्रतिपादन करते हुए इन्होंने होर्नल के मत का भी समर्थन किया है जिसके अनुसार यशोधर्मा बालादित्य के अधीन शासक था। इसके समर्थन में इन्होंने मंदसोर लेख[३] के उस पंक्ति का उद्धरण प्रस्तुत किया है जिससे ध्वनित होता है कि यशो-धर्मा अपने स्वामी के लिए दुर्गम मार्गों पर चल पड़ता था, बिना अपनी सुख-चैन की चिन्ता किये। और यह भी कहा है कि मंदसोर लेख, जिसकी तिथि ईसवी सन् में ५३२ है, केवल प्रशस्ति मात्र है। इसका विस्तृत विवेचन हम आगे करेंगे। अतएव पुष्ट ऐतिहासिक तथ्यों का निष्कर्ष इससे नहीं निकाला जा सकता है।[४] प्रो० चौधरी के मत के सम्बन्ध में हम इतना ही कहेंगे कि उनका यह कहना कि यशोधर्मा गुप्तों के अधीन शासक था, ठीक नहीं।[५]

इस प्रकार इन विवेचनों के पश्चात हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि बालादित्य के नेतृत्व में संघ द्वारा पराजित होकर मिहिरकुल उत्तर की ओर भागा। इस 'संघ' को संगठित करने में परवर्ती गुप्तों और कन्नौज के मौखरियों का भी सम्भवतः सहयोग प्राप्त था।[६] यदि हम तत्कालीन इतिहास पर दृष्टिपात करें तो इस निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं। गुप्त

---

१ पो० हि० एं० इं०, ५६६ आगे।

२ ज० बि० रि० सो०, ४५, पृ० १३२।

३ सि० इं०, न० ५३, पृ० ६१ (स्वसुखमनभिवांछन्दैर्गमे दन्यसदगां धुरमति-गुरुभारां योदधद्भर्तुरथै—)।

४ ज० बि० रि० सो०, ४५, पृ० १३०।

५ देखिये, पीछे पृ० १७३।

६ देखिये, सिनहा भी, डि० कि० म०, पृ० १५१।

संवत २०९ में अभिलिखित खोह ताम्रपत्र लेख से विदित होता है कि गुप्त शासकों का प्रभाव ईसवी ५२९ तक था। अर्थात ईसवी ५२९ के पूर्व ही मिहिरकुल की बालादित्य के द्वारा पराजय हुई होगी।[1] बंगाल के धर्मादित्य के लेखों से भी ऐसा अनुमान किया जा सकता है। धर्मादित्य संभवतः गोपचन्द्र का उत्तराधिकारी था। किन्तु इन दोनों शासकों में कैसा सम्बन्ध था यह अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। इसको गोपचन्द्र का उत्तराधिकारी हम इस आधार पर कह रहे हैं क्योंकि इसके एक लेख में, जो कि तिथिरहित हैं, कुछ पदाधिकारियों के नाम हैं जिन्होंने गोपचन्द्र के काल में भी इसी पद पर काम किया था।[2] गोपचन्द्र के आँख मूँदते ही देश पर हूण संकट आया जिसकी चपेट में सम्भवतः धर्मादित्य भी आया। इस संकट का सामना करने के लिए धर्मादित्य भी नव-निर्मित संघ में सम्मिलित हुआ। इस संघ को हूण आक्रमण को विफल करने में सफलता मिली। इस विजय के कुछ ही वर्षों के पश्चात बालादित्य की मृत्यु हो गई। उसके पश्चात उसका पुत्र वज्र[3] गुप्त साम्राज्य का उत्तराधिकारी हुआ।[4] ईसवी ५२९ के लगभग ही यह कार्य सम्पन्न हुआ होगा। धर्मादित्य ने भी, जो अपने को 'महाराजाधिराज' कहता है, सम्भवतः इसी समय अपने शासन के तीसरे वर्ष का फरीदपुर ताम्रपत्र-लेख लिखवाया।[5]

इस युद्ध में यशोधर्मा ने अपनी योग्यता का परिचय दिया। स्थिति के शान्त हो जाने के बाद ही धर्मादित्य ने अपना दूसरा लेख अपने शासन के वर्ष तीन में लिखवाया जिसका काल ईसवी सन् में ५२९ के लगभग ही रहा होगा। बालादित्य ने मिहिरकुल को माता के कहने पर छोड़ दिया था। छूट जाने के बाद वह कश्मीर में आतंक मचाये हुए था। कल्हण उसको

१ चट्टोपाध्याय भी देखिये, अर्ली हि० ना० इं०, पृ० १६६।
२ देखिये, सि० इं०, पृ० ३५७, ३५४।
३ प्रो० सिनहा (डि० कि० म०, पृ० ११३) ने इसका समीकरण नरसिंहगुप्त के पुत्र कुमारगुप्त तृतीय से किया है किन्तु उन्होंने इसकी जो तिथि दी है उससे हम सहमत नहीं है।)
४ वाटर्स, २, पृ० १६५।
५ देखिये, सि० इं०, पृ० ३७०।
६ देखिये पीछे।

अत्याचार का वर्णन करता है।[1] अर्थात् उसका आतंक और अत्याचार अभी समाप्त नहीं हुआ था। लोकप्रिय बालादित्य की मृत्यु हो चुकी थी। यशोधर्मा के लिए मार्ग प्रशस्त था। वह महत्वाकांक्षी था। उसने मिहिरकुल को पराजित किया। इस प्रकार उसके आतंक और अत्याचार को नष्ट किया। उसके लेख में लिखा भी है कि उसने मिहिरकुल को अपने चरणों में झुकाया जिसका सिर इसके पहले किसी के चरणों में नहीं झुका था, उसके इष्ट शिव के चरणों को छोड़कर।[2] उसने पूर्व के शासकों को भी पराजित किया।[3] उसके द्वारा पूर्वी प्रदेशों की विजय सम्भवतः ईसवी ५२९ के लगभग हुई क्योंकि इस तिथि के पश्चात परिव्राजकों के लेखों को हम नहीं पाते हैं, उसी तरह बंगाल में धर्मादित्य एवं अन्य किसी शासक का लेख भी हम नहीं पाते हैं। छठी शती ईसवी के तृतीय चरण में सिक्कों और अभिलेखों से केवल समाचारदेव का पता चलता है।[4]

इस प्रकार यह निश्चित हुआ कि पराजित होकर मिहिरकुल उत्तर कि ओर कश्मीर में चला गया।[5] चीनी वृत्तांत से तो यही विदित होता है कि बालादित्य से पराजित होकर वह उतर की ओर चला गया।[6] किन्तु जब हम 'राजतरंगिणी' पर एक दृष्टि डालते हैं तो भ्रम में पड़ जाते हैं। 'राजतरंगिणी' को देखने से हम यह सोचने लग जाते हैं कि क्या वस्तुतः मिहिरकुल बालादित्य द्वारा पराजित होने के बाद उत्तर की ओर भागा?

१ स्टेन, राजतरंगिणी, १, पृ० ७८।

२ सि० इं०, पृ० ३९५, नो० १ (नीचैस्तेनापि यस्य प्रणति-भुजबलावर्ज्जन-क्लिष्टमुर्द्धा चूडा पुष्पोपहारैर्म्मिहिरकुलनृपेणार्च्चितं पाद-युगमम्)।

३ वही, पृ० ३८८।

४ एलन, कैटलाग, भूमिका, पृ० १७१, भट्टसलि, एपि० इं०, १८, पृ० ७६।

५ स्टेन, राजतरंगिणी, १, पृ० ७८
(Mihirakula had been ousted by a hostile alliance from the greatest part of these territories and forced to retire northward, towards Kashmir).

६ स्टेन (एँसेंट खोतन, १, पृ० ५८) ने भी लिखा है कि तुर्कों और सासानियों के आक्रमण के कारण हूणों को गंधार प्रदेश को छोड़ना पड़ा।

ऐसा प्रश्न हम इसलिए कर रहे हैं क्योंकि 'राजतरंगिणी' में 'तोरमाण' नाम मिलता है।[१] यह तोरमाण प्रवरसेन द्वितीय का पिता कहा गया है।[२] यहाँ कई समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं। पहली तो यही कि क्या प्रवरसेन द्वितीय मिहिर कुल का ही दूसरा नाम था? अर्थात् 'राजतरंगिणी' का तोरमाण क्या मिहिरकुल का पिता था? कुछ विद्वानों ने ऐसा कहा भी है। भाउदाजी[3] ने तो स्पष्ट कहा है कि एरण का तोरमाण और कश्मीर का तोरमाण एक ही व्यक्ति है। किन्तु यह स्पष्ट नहीं हो सका है कि प्रवरसेन द्वितीय मिहिरकुल का ही दूसरा नाम था अथवा वह उसका छोटा भाई था। प्रवरसेन द्वितीय का मिहिरकुल से सम्बन्ध स्थापित करते हुए होर्नल ने कहा है कि वह उसका पौत्र था[४]।

भाउदाजी की ही भाँति स्मिथ[५] ने भी कश्मीर के तोरमाण का, जिसके कुछ सिक्के भी मिले हैं, मिहिरकुल के पिता तोरमाण से समीकृत किया है। किन्तु विद्वानों ने स्मिथ और भाउदाजी के इन विचारों का खण्डन कर दिया है।[६] इस प्रकार एरण लेख का तोरमाण और 'राजतरंगिणी' का तोरमाण दो भिन्न व्यक्ति थे।[७] मिहिरकुल का 'राजतरंगिणी' के तोरमाण से कोई सम्बन्ध नहीं था। मिहिरकुल एक स्वतन्त्र एवं अत्याचारी शासक था[८] और कश्मीर में बालादित्य द्वारा पराजित होने के बाद ही गया।

---

१ स्टेन, राजतरंगिणी, १, पृ० ८१।

२ वही, पृ० ८२।

३ ज० बा० ब्रा० रा० ए० सो० ८, पृ० २४६।

४ ज० रा० ए० सो०, १६०३, पृ० ५७०।

५ इं० म्यू० कै० १, पृ० २६५।

६ ज० न्यू० सो०, इं० १२, पृ० १५२-१५७, स्टेन, राजतरंगिणी, १, पृ० ८१, नो० १०३।

७ ज० न्यू० सो० इं०, २५, पृ० १७२ आगे।

८ राजतरंगिणी, १, ३२२।

यशोधर्मा–विष्णुवर्धन, जो औलिकरवंशी[1] था, उज्जयिनी का ऐसे समय में शासक हुआ जब वाकाटक और गुप्त दोनों साम्राज्य पतनोन्मुख थे। वाकाटक साम्राज्य पर इस समय संभवतः हरिषेण का पुत्र (ई० ५१०--५३०)शासन कर रहा था। इसी के शासन काल में वाकाटक साम्राज्य का बड़ी तेजी से ह्रास हुआ। छत्तीसगढ वाकाटकों के अधिकार से निकलकर शरभपुरियों के हाथ में चला गया। मालवा और मध्यप्रदेश के उत्तरीक्षेत्र पर राष्ट्रकूट नृपति अभिमन्यु ने अपने स्वतन्त्र राज्य की नींव डाली। परन्तु इन इलाकों पर राष्ट्रकूटों का अधिकार अधिक दिनों तक नहीं रहा। कल--चुरियों ने उसको छीन लिया।[2] किन्तु मालवा वाकाटकों के हाथ से निकलकर औलिकरों के हाथ में सम्भवतः हरिषेण की मृत्यु होते ही चला गया।[3]

---

१ का० इं० इ०, ३, पृ० १५० (प्रख्यातऔलिकर लांछन) किन्तु उसके किसी भी लेख से उसके वशक्रम का पता नहीं चलता है। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि किसी शासक वंश से उसका सीधा सम्बन्ध नही था। औलिकर लांछन, दशपुर के 'वर्मा' शासकों का भी था। अतएव इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता कि यशोधर्मा दशपुर के वर्मा वंश का था। इससे एस० एन० चक्रवर्ती ने यह निकर्ष निकाला कि यशोधर्मा शशांक और कन्नौज के यशोवर्मा की भांति एक (मिलिटेरी ऐडवेंचरर) योद्धा ही नहीं था जिन्होंने सैनिक अभियान किया। बल्कि उसके वंश और उसके पूर्वजों को भी हम जानते हैं (एपि० इं०, २६, पृ० १३१)। किन्तु जायसवाल ने (इं० हि० इं०, पृ० ५६) फ्लीट (का० इं० इं० ३, पृ० १४८ लेख पंक्तिया ६) के गलत पाठ के कारण यशोधर्मा-विष्णु-वर्धन को हर्षवर्धन का पूर्वज वतला दिया (वही, पृ० ४१)। लेकिन कीलहार्न (इं० एं०, १७) पृ० २१९२०) ने फ्लीट के पाठ को सुधार दिया। ऐसी दशा में जायसवाल के मत को माना नहीं जा सकता। सिनहा (डि० कि० म०, पृ० ११६ नो० ३) ने यशोधर्मा को किसी शासक वंश का बतलाने में अपनी असमर्थता बतलायी है। किन्तु इस सम्बन्ध में प्रो० मिराशी ने अपने शोध से यह निश्चित कर दिया कि यशोधर्मा--विष्णु--वर्धन औलिकर कुल का था और बृहत्संहिता के द्रव्यवर्धन को उसका पिता बतलाया है (स्टडीज इन इंडोलाजी, १, पृ० २००-११)।

२ याजदानी, अर्ली हिस्ट्री आफ दि दकन, १-६, पृ० १६१, मिराशी, का० इं० इं०, ४, भूमिका, पृ० ४५-४६।

३ देखिये, तीसरा अध्याय, मिराशी, स्टडीज, इन इण्डोलाजी, १ पृ० २११—१२।

वाकाटक साम्राज्य के खण्डहर पर जिन राजवंशों ने अपना महल तैयार किया उन्होंने बुंदेलखण्ड और बघेलखण्ड के राज्यों को भी उदरस्थ कर लिया। शरभपुरियों ने मेकल के प्रदेश को आत्मसात कर लिया।[1] कलचुरियों ने भी डभाला प्रदेश को हस्तगत कर लिया।[2] यही कारण है कि इन प्रदेशों के परिवाजक, उच्चकल्प और पाण्डुवंशियों का लेख ५३३ ईसवी के पश्चात् हम नहीं पाते है। परिव्राजकों और उच्चकल्पवंशियों का लेख क्रमशः ५२८ ईसवी और ५३३ ईसवी तक मिले हैं। किन्तु पाण्डुवंशियों का तो भरतबल और उदयन के लेखों के पश्चात् मिला ही नहीं।

वाकाटक साम्राज्य की ही भांति गुप्त--साम्राज्य पर इस समय नरसिंहगुप्त बालादित्य का उत्तराधिकारी उसका पुत्र कुमारगुप्त तृतीय था। सिनहा ने इसका मिलान युवान-च्वांग के 'वज्र' से किया है।[3] पतनोन्मुख गुप्त-साम्राज्य को यह भी संभालने में असमर्थ था।[4] इस प्रकार उत्तर और दक्षिण दोनों जगह संगठित राज्य का अभाव था। यशोधर्मा के लिए अपनी महत्वाकांक्षाओं को साकार रूप में देखने के लिए यह अच्छा अवसर था। उसने अवसर से लाभ उठाया। यह उसके लेख[5] और युवान-च्वांग के वृत्तान्त से प्रमाणित हो गया है। इस वृत्तान्त से यह भी ज्ञात होता है कि मध्यभारत के किसी राजा ने वज्र के पश्चात् नालंदा में संघाराम का निर्माण

---

१ शरभपुरियों और मेकल के पाण्डुवंशियों में वैवाहिक संबंध था किन्तु वैवाहिक संबंध महत्वाकांक्षियों के मार्ग में बाधक नहीं होते। उदाहरण के रूप में हम गुप्त-लिच्छवि सम्बन्ध को ले सकते हैं। सम्भवतः भरतबल का उत्तराधिकारी भी प्रसन्नमात्र के पुत्र महाराजभराज की महत्वाकांक्षाओं का शिकार हुआ। उसके सम्बन्ध में आरंग लेख पंक्ति २-३ (का० इं० इं, ३, पृ० १९१, आगे) में निम्न विरूद का प्रयोग हुआ है -- विक्रमोनतसामन्तमुकुटचूड़ामनि प्रभासकाम्बु धौत पादयुगलः। कृष्णराव का, अर्ली डाइनेस्टीज आफ आंध्रदेश, पृ० ६५० भी देखिये।

२ इं० हि० क्वा०, ३२, पृ० भी ४३१ आगे।

३ दि रिकार्डस, २, पृ० १७०।

४ डि० कीं० म०, पृ० ११५।

५ इं० एं०, १५, २५३ आगे।

कराया[१]। युवान च्वांग के इस वृत्तान्त की पुष्टि तब हो जाती है जब हम नालंदा से यशोधर्मा का लेख पाते हैं[२]। किन्तु यह लेख विद्वानों में विवाद का विषय बना हुआ है। हीरानन्द शास्त्री ने लेख के यशोवर्मदेव की शिनाख्त मंदसोर लेख के यशोधर्मा से की है।[३] किन्तु भट्टसलि[४] ने इस यशोवर्मदेव को आठवीं सदी के कन्नौज का यशोवर्मदेव बतलाया है। मजूमदार[५] और मृत्युंजयन[६] ने शास्त्री के मत का समर्थन किया है। हम भी शास्त्री के ही मत का समर्थन करेंगे साहित्यक और अभिलेखीय प्रमाण के अधार पर। युवान-च्वांग के वृत्तान्त से यह विदित होता है कि मध्यभारत के किसी राजा ने (यशोधर्मा) नालन्दा में बालादित्य के पुत्र बज्र के पश्चात् एक संघाराम बनवाया था। अभिलेखीय प्रमाण हमारे पास यशोवर्मा का मंदसोर लेख है जिससे विदित्त होता है कि उसने पहले पूर्व के राजाओं को अपने अधिकार में किया पश्चात् मिहिरकुल को परास्त किया[७]। बहुत सम्भव है पूर्व के शासकों को अपने अधिकार में कर लेने के बाद उसने नालंदा में संघाराम बनवाया। उसके लेख से विदित होता है कि उसने लौहित्य से महेन्द्र और हिमालय से पश्चिमी समुद्र पर्यन्त के प्रदेशों को जीत लियाथा।[८] उसके इस लेख से यह भी विदित होता है कि उसने उन प्रदेशों को भी जीता जो गुप्तों के अधीन नहीं थे और जहां तक हूण पहुंच भी नहीं सके थे[९]।

---

१ देखिये, पीछे।
२ एपी० इं०, २०, पृ० आगे, माडर्न रिव्यू ३१,पृ० ३०६--७, इं० हि० क्वा०, ८३ पृ० २२८--३०।
३ एपि० इं०, २०, पृ० ४० आगे।
४ माडन रिव्यू, १९३१, पृ० ३०६--७।
५ इं० हि० क्वा०, ८, पृ० ३७३।
६ वही, पृ० ६१७।
७ यशोधर्मा का मंदसोर लेख, पंक्ति ५-६ उपाध्याय, प्रा० भा० अ०अ०, पृ० १०६।
८ वही, पंक्ति ५।
९ वही, पंक्ति ४

("ये भुक्तनाथैर्न्न सकल--वसुधाक्क्रान्ति-दृष्ठ-प्रतापैर्न्नाज्ञा

हूणाधिपानां क्षितिपति-मुकुटाद्ध्यासिनी यान्प्रविष्ठा।)

इस पंक्ति के 'गुप्त नाथैर्न्न' को लेकर विद्वानों में मतभेद है। फ्लीट[1] ने इसका अर्थ 'गुप्तों का स्वामी' किया है। जायसवाल[2] ने इसको गुप्त-प्रभुओं के अर्थ में लिया है। सिनहा[3] ने जायसवाल के मत का समर्थन करते हुए कहा है कि यशोधर्मा प्रारम्भ में सम्भवतः गुप्त अधिपति के अधीन था। किन्तु ये दोनों मत (फ्लीट और सिनहा) ग्राह्य नहीं हैं क्योंकि हम देख चुके हैं कि यशोधर्मा किसी के अधीन शासक नहीं था[4]। गुप्त-प्रभुओं के अर्थ में ही उसका प्रयोग उपयुक्त है[5]। अब प्रश्न उठता है ऐसा कौन सा प्रदेश का जिसको गुप्त नरेशों (सम्भवतः बुधगुप्त के पश्चात् के गुप्त शासक। ऐसा हमने इसलिए कहा क्योंकि बुधगुप्त की पुण्ड्रवर्द्धन जहां से बंगाल, नेपाल और कामरुप पर्यन्त के प्रदेशों की राजनितिक गतिविधियों पर नजर रखा जा सकता था, और कालिन्द और नर्मदा पर्यन्त के प्रदेशों पर शासन करते हुए पाते हैं। उसकी मृत्यु के पश्चात् ही इन प्रदेशों में अव्यवस्था हुई ऐसा हमने पिछले अध्याय में देखा भी) ने अपने अधिकार में नहीं किया था। पुण्ड्रवर्द्धन और मध्यदेश के कुछ राज्य गुप्तों के हाथ से निकल चुके हैं। लोहित्य अथवा कामरूप पर इस काल में (बुधगुप्त की मृत्यु के पश्चात्) पुष्यवर्मा के वंशज शासन करने लगे थे। इम कथन की पुष्टि नालंदा -लेख से होती है।[6]

इस लेख से विदित होता है कि नारायणवर्मा (५००--५२० ई०)[7] ने दो अश्वमेध किया।[8] सरकार ने अपने मत की स्थापना डा० भट्कसलि[9] के मत का खण्डन करके की है। भट्टसलि ने यह कहा है कि नारायणवर्मा

---

१ का० इं० इं०, ३, पृ० १६८।
२ इं० हि० इं०' पृ० ४०--४१।
३ डि० किं० म०, पृ० ११७, नां० २।
४ देखिये पीछे।
५ चौधरी को भी देखिये. ज० बि० रि० सो०, ४५, पृ० १२०।
६ देखिये, मे० आके० सर्वे इं०, नं० ६६।
७ चौधरी, अर्ली हि०,आसाम, पृ० १२०--१२१।
८ सरकार, इं० हि० क्वा०, २१, पृ० १४३-१४५।
९ वही, पृ० २२ आगे।

के पिता महेन्द्रवर्मा ने यह अश्वमेध किया था जब कि गुप्तवंश की कुललक्ष्मी स्कन्दगुप्त के काल में विचलित हो रही थी। किन्तु स्कन्दगुप्त के काल में महेंन्द्र वर्मा द्वारा अश्वमेध करने का कोई कारण नहीं दिखता। यद्यपि स्कन्दगुप्त के नाम का उल्लेख बंगाल के किसी अभिलेख में नहीं हुआ है तथापि उसके गु० सं० १४१में अभिलिखित सुपिया और कहांव लेख से यह स्पष्ट है कि गुप्त साम्राज्य के सभी प्रदेश उसके शासन के अधीन थे।[1] कामरूप के शासकों को अश्वमेध करने का अवसर यदि मिल सकता था तो वह बुधगुप्त की मृत्यु के पश्चात् ही क्योंकि उसी समय से गुप्त साम्राज्य को हम कई राज्यों में विभक्त हुआ पाते हैं।[2] फिर सरकार ने भट्टसलि के पाठ को गलत प्रमाणित करते हुए हमारे इस कथन की पुष्टि भी कर दी है कि कामरुप गुप्त सत्ता की अधीनता से अपने को मुक्त बुधगुप्त की मृत्यु के के पश्चात् ही कर सका होगा।[3]

नारायणवर्मा के पश्चात् उसका पुत्र महाभूत अथवा भूतिवर्मा उत्तरराधिकारी हुआ।[4] उसने निधनपुर ताम्रपत्र लेख भी लिखवाया।[5] यह लेख महादेव महेश्वर की स्तुति में लिखवाया गया था। इस लेख का एक दूसरा अर्थ भी श्री प्रतापचन्द्र चौधरी ने किया है। उनके अनुसार परमेश्वर (नृपति) भूतिवर्मा ने बहुत से सामन्तों को अपने अधीन किया और पूरे कामरूप प्रदेश को अपने अधिकार में किया।[6] इस प्रकार गुप्त सता के कमजोर पड़ते ही कामरूप के शासकों ने अपने राज्य का विस्तार किया और पुण्ड्रवर्द्धनभुवित को अपने अधिकार में कर लिया।[7] इस तरह बुधगुप्त के पश्चात् पुण्द्धनभुक्ति पर गुप्तों के प्रभाव के अन्त का कारण विदित हो जाता है। यशोधर्मा के मार्ग में कामरूप का शासक भूतिवर्मा सम्भवतः बाधक था। अतएव उसके प्रभाव को नष्ट करने के लिए लौहित्य तक यशोधर्मा

---

१ देखिये, तीसरा अध्याय।
२ वही।
३ देखिये, इं० हि० क्वा०, २१, पृ० १४५।
४ मे० आर्कै० सर्वे इं०, नं० ६६ पृ० ७०
५ एपि०, इं०, १२. पृ० ६५ वही, १६, पृ० २४५।
६ अर्ली हि० आसाम, पृ० १२१ आगे।
७ वही. पृ० १२४।

का बढ़ जाना स्वाभाविक था।[१] परिणाम स्वरूप ही यशोधर्मा की मृत्यु के पश्चात् पुण्ड्रवर्द्धनभुक्ति पर गु० संवत्[२] २२४ में हम पुनः परवर्ती गुप्त सत्ता को कार्यरत पाते हैं।

बंगाल भी, नरसिंहगुप्त के शासन काल में, गुप्त-सत्ता की अधीनता को त्याग चुका था जिसको पुनः कोई गुप्त शासक अपने झण्डे के नीचे नहीं ला सका। बंगाल की गुप्त सत्ता के विरुद्ध इस प्रतिक्रिया के प्रभाव से नेपाल भी अछूता नहीं बचा। नेपाल के इतिहास में इसको हम परिलक्षित करते हैं।[३] किन्तु बंगाल और नेपाल एक सत्ता के प्रभाव में पुनः यशोधर्मा के ही काल में आये। बंगाल को यशोधर्मा ने अपने अधिकार में कैसे किया इसका वर्णन हम पीछे कर चुके हैं। नेपाल के सम्बन्ध में हमने आगे वर्णन किया है।[४]

पूर्व के इन प्रदेशों को अधिकार में कर यशोधर्मा उत्तर और पश्चिम की ओर बढ़ा। उत्तर के शासकों में मिहिरकुल प्रसिद्ध था। सम्भवतः उसका उत्पात अभी बन्द नहीं हुआ था। यही कारण है कि यशोधर्मा को पुनः उसको पराजित करना पड़ा। इसके पहले बालादित्य द्वारा उसकी पराजय हो चुकी थी। किन्तु वह छोड़ दिया गया था। मिहिरकुल की पराजय का वर्णन मंदसौर लेख करता है।[५]

मिहिरकुल को पराजित कर यशोधर्मा सम्भवतः पश्चिम पयोधि की ओर बढ़ा। सुराष्ट्र प्रदेश पर इस काल में मैत्रक ध्रुवसेन प्रथम शासन कर रहा था। भरुकच्छ और महाराष्ट्र प्रदेश में वाकाटक साम्राज्य के पतन के पश्चात् राज्यों में सत्ता प्राप्ति के लिए होड़ लगी हुई थी। त्रैकूटकों को पराजित कर गुर्जर भरुकच्छ में उठ गये थे। सुनाओकला ताम्रपत्र लेख से, जिसकी तिथि ५४० ईसवी बतलाई गई है, विदित होता है कि भरुकच्छ

---

१ वही, १२५-२६।

२ उपाध्याय, प्रा० भा० अ० अ०, पृ० ८० आगे (इसलेख का गुप्त-प्रभु कौन था यह विवादास्पद है)।

३ देखिये. आगे, नेपाल के लिच्छवि।

४ वही।

५ उपाध्याय, प्रा० भा अ० अ० पृ० १०६, लेख पंक्ति ६।

प्रदेश पर गुर्जर महासामन्त महाराज संगमसिंह शासन कर रहा था। सरकार ने संगमसिंह को मंदसौर के औलिकरों का सामन्त बतलाया भी है।[1] उससे विदित होता है कि यशोधर्मा पश्चिम की ओर गया था।

ध्रुवसेन प्रथम के लेखों से भी ऐसा अनुमान किया जा सकता है। गु० सं० २१०[2] में अभिलिखित लेख में ध्रुवसेन के लिए 'महासामन्त' और 'महाराज' विरुद प्रयोग किया गया है। किन्तु इसके कुछ वर्ष पश्चात् उसको इन उपाधियों का त्याग करना पड़ा। इसकी जगह अब वह महाप्रतिहार[3], महादण्डनायक,[4] महाकार्त्तिक[5] विरुद ही धारण करता। इससे उसके राजनीतिक स्तर में ह्रासका अनुमान किया जा सकता है।[6] अपनी पूर्वस्थित को पुनः वह गु० सं० २२१ में प्राप्त कर सका।[7] इसी काल से उसके लिए 'महाराज' और 'महासामन्त' विरुद का फिर से प्रयोग किया जाने लगा[8]।

ऐसी कौन सी शक्ति थी जिसने ध्रुवसेन को उसके पद से च्युत किया? जब हम इस पर विचार करते है और तत्कालीन भारत के राजनीतिक इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो केवल औलिकर यशोधर्मा ही ऐसी शक्ति दिखलाई पड़ता है जो नृपतियों को उनके पद से च्युत करने में समर्थ था। उत्तर भारत के राजनीतिक इतिहास के पन्ने जब पलटते हैंतो ५४० ईसवी के लगभग ही उत्तर भारत के राज्यों में एक प्रतिक्रिया परिलक्षित करते हैं। यह प्रतिक्रिया यशोधर्मा की मृत्यु के फलस्वरुप ही हुई होगी। ऐसा अनुमान किया जा सकता हैमैत्रक ध्रुवसेन प्रथम ने ५४० ईसवी के लगभग ही महासामन्तमहाराज उपाधि को पुनः धारण किया। इसी प्रकार बंगाल में भी छठी शती ईसवी के चतुर्थ दशक में गौड़ों को पाते हैं। नेपाल के इतिहास में

---

१ क्लासिकल एज, पृ० १६३।
२ इं० ए०, ३६, पृ० १३०, एपि० इं० १६, पृ० ११३ आगे।
३ एपि० इं०, ४ पृ० १०४-१०७।
४ ज० रा० ए० सो०, १८६५, पृ० ३८२।
५ वही।
६ वीरजी, एसेंट हिस्ट्री आफ सौराष्ट्र, पृ० ३२।
७ वियेना ओरियण्टल जर्नल, ७. पृ० २६७।
८ ज० बा० ब्रा० ए० सो० (न्यू० सि०), १, पृ० १८।

भी हम यह प्रतिक्रिया परिलक्षित करते हैं।[१] इस प्रकार यशोधर्मा का मंदसोर लेख प्रशस्ति मात्र ही नहीं था।

यशोधर्मा के मंदसोर से प्राप्त तीन लेखों[२] में से दो पर विष्णुवर्धन का भी नाम मिलता है। यह विष्णुवर्धन कौन था इस पर विद्वानों ने बहुत सी अटकलबाजियां लगाई। एलन[३] और वासक[४] ने क्रमशः यशोधर्मा का सामन्त और अधिपती बतलाया है। किन्तु विद्वानों[५] ने यह सिद्ध कर दिया है कि यशोधर्मा और विष्णुवर्धन दो भिन्न व्यक्ति नहीं थे बल्कि एक ही व्यक्ति के दो नाम थे।

डा० होर्नल ने विष्णु नामांकित कुछ सिक्कों को यशोधर्माविष्णुवर्धन का बतलाने की चेष्टा की है।[६] इन सिक्कों पर केवल 'विष्णु' नाम अंकित है। 'गुप्त' इस पर अंकित नहीं है। सिक्कों पर 'गुप्त' नाम के न होने के करण ही होर्नल ने यह अनुमान किया। किन्तु विद्वानों[७] ने सिक्कों के स्वरुप और प्रकार को देखकर यह सिद्ध कर दिया है कि 'विष्णु' नामांकित सिक्के यशोधर्मा विष्णुवधन के नहींअपितु गुप्तवंशी नृपति का था। अब तक प्राप्त सामग्रियों के आधार पर कहा जा सकता है कि यशोधर्मा विष्णुवर्धन ने सिक्के नहीं चलाये थे।

यशोधर्मा के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वह भारतीय इतिहास गगन में धूमकेतु की भांति आकर, छठी शती ईसवी के चतुर्थ दशक में चला गया। गुप्त विक्रमादित्यों के पश्चात् आलोच्य काल में यदि कोई शासक उत्तर भारत के विशृंखलित राज्यों को एक चित्र के नीचे लाने में समर्थ हुआ तो वह यशोधर्मा--विष्णुवर्धन था। उसके अभिलेखों में जिस चक्रवर्ती-क्षेत्र का विवरण मिलता है उसमें कोई अतिशयोक्ति नहीं दिखलाई पड़ती। पूर्व-

१ देखिये नेपाल के लिच्छवि।
२ इं० एं०. १५, पृ० २२२, २५३ और २५७
३ कैटलाग, भूमिका, पृ० ५७-५८।
४ हिं० ना० ई० इं०, पृ० ६८--६६।
५ विस्तृत जानकारी के लिए देखिये, डि० किं०म०. पृ० ११८-११६।
६ ज० रा० ए० सो०,१६०३, पृ० ५५१ आगे।
७ इस विषय का विस्तृत विवेचना सिनहा ने किया है. डि० किं० म०, पृ० १२१-२३।

पश्चिम और उत्तर के राज्यों को यशोधर्मा ने किसी तरह अपने अधीन किया इसको हमने अभी देखा। यदि शेष किसी प्रदेश का वर्णन करना अभी वाकी है तो वह है दक्षिण कोशल अथवा 'महेंन्द्र प्रदेश'का। इस प्रदेश में, जिस समय यशोधर्मा विजय-प्रयाण को निकला, राज्यों में युद्ध छिड़ा हुआ था। विष्णुकुण्डिन त्रिकलिंग के गंगा और गंजाम प्रदेश के शैलोद्भवों में युद्ध छिड़ा हुआ था। शरभपुरियों के राज्य में भी आन्तरिक अव्यवस्था थी।[१] संघर्ष में रत रहने के कारण ये राज्य यशोधर्मा का विरोध करने में असमर्थ थे। ऐसी दशा में यदि इन राज्यों ने उस विजेता के प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया हो तो अश्यचर्य नहीं। आलोच्य काल में यह अपवाद नहीं था। समुद्रगुप्त के संबंध में हम जानते हैं कि बहुत से राज्यों ने केवल उसके विक्रम को देख-कर उसके प्रभुत्व को स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार यशोधर्मा के लिए प्रशस्तिकार महेन्द्र जब प्रत्यन्तवर्ती प्रदेशों को उसके प्रभाव क्षेत्र में बतलाता है तो उसको प्रशस्तिगान कहकर छोड़ा नहीं जा सकता[२]।

इस अध्याय के विश्लेषण से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि केन्द्रीय शक्ति के अभाव एवं सामन्तवादी पद्धति के विकास के कारण तथा हूण आक्रमण से उत्तर भारत की राजनीति में एक नईचेतना का स्फुरण हुआ। हूण आक्रमण ने गुप्तों के वैभव को नष्ट कर, केन्द्रीय सत्ता को नष्ट कर दिया। यद्यपि, यशोधर्मा ने उसकी पुर्नस्थापना का प्रयास किया। किन्तु सामन्तवादी प्रवृत्ति केवल पकड़ने के कारण केन्द्रीय शक्ति कि स्थापना फिर से न हो सकी। हर्ष के सम्बन्ध में लिखते हुए वेशम ने कहा भी है, 'यद्यपि हर्ष का उत्तर भारत के अधिकतर भाग पर अधिकार था तथापि कान्यकुब्ज और स्थाण--वीश्वर से निकलते ही हम बहुत से राजाओं को सिंहासनारुढ़ पाते हैं।[३] सामन्तवाती प्रवृत्ति ने केन्द्रीय शक्ति को पनपने ही नहीं दिया। यदि कोई राज्य अपनी सत्ता को दूसरे राज्य पर स्थापित करने की चेष्टा करता था तो दूसरे राज्य संगठित होकर उसका मुकाबला करते थे। यह कार्य वे उसकी शक्ति को संतुलित रखने के लिए करते थे।

१ देखिए, अर्ली डाइनेस्टीज आफ आन्ध्रप्रदेश, पृ० ६५२।
२ सरकार ने इसको प्रशस्तिमात्र कहा है। देखिए, स्टडीज इन दी ज्याग्रफी आफ एंसेंट एण्ड मेडिवल इंडिया, प्रथम अध्याय
३ वेशम, दि वन्डर दैटवाज इंडिया, पृ० ६८।

पांचवा अध्याय

शक्ति सन्तुलन का काल

यशोधर्मा की मृत्यु के पश्चात् उत्तर भारत में सम्राट् पद के लिए दो ऐसी शक्तियों को हम झगड़ते हुए पाते हैं जिनका बहुत पहले से पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध था, किन्तु बाद में आकर, इस काल में, एक दूसरे की विरोधी हो गई। ये शक्तियां 'परवर्ती गुप्त[१]' और कन्नोज के मौखरि' थे। इन दोनो शक्तियों का उदय पांचवीं शती के अंतिम चरण में अथवा छठी शती ईसवी के प्रारम्भ में हुआ[२]। इस काल में उत्तरभारत में बहुत से राज्यों को 'गुप्तों' की शक्ति के शिथिल पड़ते ही उठते हुए पाते भी हैं।[3] इनके निवास स्थल को लेकर विद्ववानों में विवाद है। जहां तक 'मौखरियों' के निवास का प्रश्न है इस पर प्रायः सभी विद्ववान्, पायर्स को छोड़कर एक मत है। किन्तु पार्यस के मत का खण्डन सिनहा ने बडे विद्वत्तापूर्ण ढंग से किया है।[४] आलोच्य काल के 'मौखरियों' के निवास के सम्बन्ध में सिनहा का निष्कर्ष भी वही है जो अन्य विद्ववानों का है। हमारा विश्लेषण भी इन्हीं विद्ववानों के विचारों से समता रखता है कि मौखरि आलोच्य काल में कान्नोज के आसपास ही रहते रहे होंगे।

'परवर्ती गुप्तों' के निवास के सम्बन्ध में डा० सिनहा का मत निर्विवाद नहीं है। उन्होंने यह प्रतिपादित किया है कि ये (गुप्त) प्रारम्भ

---

१ लेखक ने इनको 'मालवा के गुप्त' कहा है और अन्यविद्वानों ने 'मगध के गुप्त'।

२ देखिये, सिनहा भी डि० कि० म० पृ० १३० आगे।

३ देखिये तीसरा अध्याय।

४ डि० कि० म०, पृ० १४४ आगे

(To us it appears that the Maukharis were a tribe whose different branches were spread in different areas).

से मगध में थे ।[१] किन्तु, जैसा गांगुली[२] ने भी कहा है, जब हम मगध के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तब वहां पहले 'गुप्तों' को और पश्चात् 'मौखरियों' के शासन को पाते हैं । इस सम्बन्ध में सिनहा का तर्क यह है कि गुप्तों के शासन के बावजूद परवर्ती गुप्त मगध में ही रहते थे । अपने मत की पुष्टि के लिए उन्होंने गुप्त-शासन के अंतिम वर्षों की समता औरंगजेब के पश्चात् के मुगल साम्राज्य से की है[३] । और कहा हैं कि कमजोर 'गुप्त' सम्राट् के आश्रयदाता 'परवर्ती गुप्त' थे जो मगध में ही उठ रहे थे[४] ।इनके द्वारा मालवा पर अधिकार के सम्बन्ध में सिनहा का यह कथन है कि औलिकर यशोधर्मा के पश्चात् परवर्ती गुप्तों ने मालवा पर पुनः गुप्त सत्ता की स्थापना की। गुप्त सत्ता की स्थापना के सम्बन्ध में वे कहते हैं कि गुप्तों से उनका बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था और उनके नाम का अंन्त भी 'गुप्त' से होता था । मालवा पर इनकी 'सत्ता' की स्थापना में सम्भवतः यह नाम भी सहायक हुआ[५] । इस प्रकार के तर्क देकर उन्होंने परवर्ती गुप्तों का मालवा में प्रारंभ से रहने के मत का खण्डन किया है । और 'परवर्ती गुप्तों' का मगध में निवासस्थान बतलाने के विरुद्ध विद्वानों ने वही प्रश्न किया है, जो मालवा

---

१ वही, पृ० १३०-१५६ ।

२ ज० बि० उ० रि० सो० १६, पृ० ३६६ आगे ।

३ डि० कि० न०, पृ० १५० ।

४ वही, पृ० १५०--५१ ।

(Almost continuous crises forced the weak emperors to depend on the family of Krishnagupta, which had helped the empire in the dark days of the Huna invasions. As generally happened, in course of time dependence further increased' and the result was that in the shadow of the name of he emperor and the imperial institutions well understood by the people--the family of Krisnagupta went on adding to its power, and soon was strong enough to exercise the real authority in Magadha and Northern Bengal.)

५ वही, पृ० १५४ ।

को निवास स्थान बतलाने के पक्ष में विद्वनों ने किया था।[१] इन्होंने कहा है कि यदि मगध पर गुप्तों के शासन के कारण परवर्ती गुप्तों की वह निवास भूमि नहीं हो सकती तो मालवा भी उनकी निवास भूमि कैसे हो सकती है जबकि वहां भी औलिकर शक्तिशाली थे ? अतएव यही क्यों न समझा जाय कि परवर्ती गुप्त गुप्तों के ही काल में मगध में उठ रहे थे[२] ।

इसमें सन्देह नहीं कि सिनहा का कथन बहुत ही तर्कपूर्ण है। किन्तु जब हम विवेच्य काल के राजवंशों के अभिनव-पराभव के इतिवृत्त का संश्लेषण करते है, और तत्कालीन राजनीतिक प्रवृत्ति का परीक्षण करते हैं तब यह स्पष्ट होता है कि परवर्ती गुप्तों की निवास भूमि मालवा हो रही होगी। मालवा को परवर्तीगुप्तों की निवास-भूमि मुखर्जी[३], रायचौधरी[४] सरकार[५]. डांडेकर[६] ने भी बतलाया है।

तत्कालिन इतिहास को देखने से यह विदित नहीं होता कि मगध अथवा उसके आसपास पांचवी शती के अंत अथवा छठी के प्रारंभ में गुप्तों के अतिरिक्त कोई अन्य राज वंश पनप रहा था, जबकि राजवंशों के पनपने का यह क्रम इस कालसे प्रारम्भ हो गया था[७] । मालवा और उसके आसपास के क्षेत्रों में हम अनेक राजवंशों को उभड़ते पाते हैं। इस क्षेत्रसे गुप्त नामधारी कुछ शासकों का नाम भी सिक्कों और अभिलेखों से जाना जा चुका है।

---

१ वही पृ० १५५।

२ वही

(If the Later guptas could not be in Magadha because imperial Guptas ruled there, they also could not be in Malava. If the Later Guptas could be placed in Malwa notwithstanding the rise of Yasodharman in that part of the country, then there cannot be any objection in placing them in Magadha as feudatories of the Gupta emperor.)

३ ज० बि० उ० रि० सो०, १५, पृ० २५१—५८।

४ वही, पृ० ६५१ आगे।

५ ज० रा० ए० सो० वं० (ले०) ११।

६ ए हिस्ट्री आफ दि गुप्ताज, पृ० १६६ आगे।

७ देखिये, तीसरा अध्याय।

जिष्णु[1], रामगुप्त, भानुगुप्त के नाम उदाहरण के रूप में दिये जा सकते हैं। ये स्थानीय शासक थे। अतएव परवर्ती गुप्तों को मालवा-क्षेत्र में ही रखना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है‡। अतः इन्हें हम मालवा के गुप्त कहेंगे।

मगध का तत्कालीन राजनीति में प्रमुख हाथ था। मगध वह लक्ष्य था, जिसको प्रत्येक महत्वाकांक्षी नृपति प्राप्त करने की कोशिश करता था, क्योंकि मगध को अधिकार में करने के बाद ही वह सम्राटोचित उपाधि धारण करता था[२]। इस प्रकार मगध को हस्तगत करने के लिए नृपतियों में होड़ लगी हुई थी। अतएव मौखरि और परवर्ती गुप्त नृपतियों में युद्ध का एक कारण सम्भवतः मगध भी रहा होगा। इस काल में मगध, जो गुप्त काल तक सम्राटों की राजधानी बनी रही, रणक्षेत्र बन गयी। दक्खिन और बंगाल के शासकों द्वारा अनेक बार रौंदी गयी। कालान्तर में सम्भवतः इसीलिए कन्नौज का महत्व बढ़ा।[3] वह व्यापारिक महत्व का स्थान भी था। सार्थवाह उधर से गुजरते थे। इसके महत्व का एक कारण और भी था—मालवा का विभक्त हो जाना। मालवा इस काल में बफर राज्य बन गया था।[४] उसके कुछ भाग पर मैत्रकों का अधिकार था, कुछ पर गुर्जरों का और कुछ पर कलचुरियों का।[५] यही कारण है कि परवर्ती गुप्तों को मालवा को छोड़ाना पड़ा जो पुनः हर्षवर्धन की सहायता

---

१ देखिये, दूसरा अध्याय

२ मौखरि और परवर्ती गुप्तों के इतिहास पर दृष्टिपात करने से हमारे कथन की पुष्टि होती है। चालुक्य नृपति कीर्तिवर्मा ने अपने विजित प्रदेशों में मगध को भी बतलाया है। इसके काल में मगध पर किसी शक्तिशाली नृपति को राज्य करते हुए हम पाते भी नहीं हैं और इसके काल तक मगध का राजनीतिक महत्व था।

‡ हर्षचरित से भी इसकी पुष्टि होती है देखिये का वेलथामस का अनुवाद पृ० ११६

३ यह मौखरियों, वर्धनों, प्रतिहारों और गहड़वालों की राजधानी रही।

४ देखिये मिराशी भी कार्पस इं० इं०, ४, पृ० ५१ (भूमिका)।

५ देखिये आगे।

से मगध में बस सके।[१] मौखरियों और वर्धनों के सतत प्रयत्न से कन्नौज को भी वही महत्व प्राप्त हुआ जो कभी मगध को प्राप्त था।

परवर्ती गुप्तों में कृष्णगुप्त का नाम सर्वप्रथम मिलता है।[२] इसके सम्बन्ध में अभिलेख में ऐसा वर्णन मिलता है कि वह सद्वंश का था और उसने असंख्य शत्रुओं को अपने बाहुबल से पराजित किया था।[३] अब प्रश्न यह है कि कृष्णगुप्त के लिए यह वाक्य प्रशस्ति मात्र है अथवा इसमें सत्यांश भी है? तत्कालीन अभिलेखों के अध्ययन से विदित होता है कि प्रशस्तिकार प्रशस्ति लिखते समय अपने प्रश्रयदाता के सम्बन्ध में अतिशयोक्ति भी लिख जाता था। मालवा में ही कृष्णगुप्त के समकालीन एक लेख में मातृविष्णु के लिए "चतुःसमुद्र-पर्यन्त प्रथितयशसः अक्षीण-मानधनस्थानेक-शत्रु-समर-जिष्णोः" का प्रयोग हुआ है।[४] इसके अतिरिक्त गु० सं० १६५ में एरण से ही प्राप्त एक लेख में मातृविष्णु के लिए इसी विरुद का प्रयोग हुआ है।[५] इस लेख मेंबुधगुप्त को 'भूपतौ' कहा गया है। इसके बाद वाले लेख में जो हूण राजा तोरमाण के शासन के प्रथम वर्ष में लिखा गया था, तोरमाण को 'महाराजाधिराज' कहा गया है। ऐसी स्थिति में हम यही कहेंगे कि मातृविष्णु के लिए प्रयुक्त विरुद प्रशस्ति मात्र था। इस प्रकार कृष्णगुप्त के सम्बन्ध में कहा गया उपर्युक्त वाक्य भी प्रशस्तिमात्र था। यद्यपि विद्वानों ने इस विषय पर अनेक प्रकार के अनुमान लगाये हैं। पायर्स ने मौखरियों को कृष्णगुप्त का शत्रु बतलाया है।[६] इसका खण्डन करते हुए सिनहा ने हूणों को शत्रु माना है।[७] ऐसा प्रतीत होता है कि हूण

---

१ हर्षचरित्र, परब पृ० ९१। देखिये त्रिपाठी, हिस्ट्री आफ कन्नौज, पृ०, १०५, नौ० १,

२ देखिये अपसद लेख।

३ वही (सद्वंश स्थिर उन्नतो गिरिरिव श्रीकृष्णगुप्तो नृपः ॥
दृप्तारातिमदान्धवारणघटाकुम्भस्थली : क्षुन्दता।
यस्यासंख्यारिपुप्रतापजयिना दोष्णा मृगेन्द्रायितम् ॥॥

४ देखिये, उपाध्याय, प्रा० भा० अ० अ०, पृ० १०७।

५ वही, पृ० ७६।

६ दि मौखरिज, पृ० ६२-६३।

७ डि० कि० म०, पृ० १५७-१५८, सालातोर, लाइफ इन गुप्त एज, पृ० ५६।

ही शत्रु थे क्योंकि मालवा पर ५०० ईसवी तक हूणों का अधिकार हो चुका था।[1]

कृष्णगुप्त का समकालीन हरिवर्मा था।[2] यह मौखरि वंश का था। हरिवर्मा और कृष्णगुप्त ने सम्भवत: तत्कालीन परिस्थिति को देखते हुए एक होकर कार्य करने की योजना बनाई। इस अनुमान का मुख्य आधार मौखरि और परवर्ती-गुप्तों में वैवाहिक सम्बन्ध है।[3] हर्षगुप्ता का विवाह हरिवर्मा के पुत्र आदित्यवर्मा से हुआ था।[4] कृष्णगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र श्री हर्षगुप्त शासक हुआ। म ोखरियों में इसका समकालिक आदित्यवर्मा था।[5] हूणों के अधीन ५०५ ईसवी तक उसने सम्भवत: शासन किया।[6] हमने इसको हूणों के अधीन इसलिए कहा है कि मालवा प्रदेश 'हणों' के अधीन ५२६ ईसवी तक था।[7]

हर्षगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र जीवितगुप्त प्रथम सिंहासनासीन हुआ। उसका समकालीन 'मौखरि' वंश में ईश्वरवर्मा था। ५२५ ईसवी के पश्चात् अत्याचारी मिहिरकुल के विरुद्ध जब यशोधर्मा के प्रयत्न से एक संघ बना तो उसमें इन दोनों वंशों के शासकों ने भी सम्भवत: सहयोग किया और मिहिर-कुल के विरुद्ध युद्ध किया। मिहिरकुल की पराजय के पश्चात् सम्भवत: ५२९ ईसवी में जब यशोधर्मा ने एक विशाल भू-प्रदेश को अपने अधीन किया तो मौखरि और परवर्ती गुप्त शासक भी उसके शासन-छत्र के नीचे आ गए। ५४० ईसवी के लगभग ही 'मौखरि' और परवर्ती गुप्त अपने को मुक्त कर सके क्योंकि इसी समय यशोधर्मा की मृत्यु हुई।[8]

---

१ देखिये, चौथा अध्याय।
२ देखिये, उपाध्याय, प्रा० भा० अ० अ०, पृ० ११०।
३ सिनहा, डि० किं० म०, पृ० १५६।
४ कृष्णगुप्त का पुत्र हर्षगुप्त था। फ्लीट ने कहा है कि राजकुमारी हर्षगुप्ता हर्षगुप्त की बहन थी (कार्पस, ३, भूमिका, पृ० १४)।
५ देखिये, उपाध्याय, प्रा० भा० अ० अ०, पृ० ११०।
६ वही।
७ देखिये, चौथा अध्याय।
८ वही।

यशोवर्मा की मृत्यु के पश्चात्, सम्राट्-पद के इच्छुक, ये दोनों राजवंश संभवतः सामूहिक रूप से सैनिक अभियान के लिए निकले। जीवितगुप्त महत्वाकांक्षी था। इन विजयों से उत्साहित होकर उसने 'क्षितिश-चूडामणि'[१] उपाधि धारण की। उसके सम्बन्ध में ऐसा भी वर्णन मिलता है कि उसके प्रताप से हिमालय प्रदेश और समुद्र के किनारे के दुश्मनों को ज्वर हो जाता था।[२] हिमालय प्रदेश के दुश्मनों में नेपाल और कामरूप के राजवंशों को रख सकते हैं।[३] इन प्रदेशों को अधिकार में करने के पश्चात् ही गुप्त शासक जब बंगाल प्रदेश से अपना शासन पत्र निकालते थे उस पर 'परम-दैवत' विरुद अंकित करते थे। अतः 'परमदैवत' विरुद का क्षेत्रीय महत्व था। इस विरुद का प्रयोग भी केवल पूर्वी और पुर्वोत्तर भारत में ही हुआ है।[४] गु० सं० २२४ में दामोदरपुर से प्राप्त एक लेख में जीवितगुप्त के लिए 'परमदैवत' विरुद का प्रयोग हुआ है।[५] किन्तु इस लेख के अधिपति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है।[६]

सैनिक अभियान के लिए ऐसा विदित होता है कि, जीवितगुप्त और ईश्वरवर्मा में राज्यों का बंटवारा हो गया था। अर्थात् जीवितगुप्त ने पूरब के राज्यों का सैनिक अभियान द्वारा विजय किया और ईश्वरवर्मा ने पश्चि-

---

१ देखिये, प्रा० भा० अ० अ०, पृ० ८२।

२ वही (पूच्योतत्स्फारतुषारनिर्झरपय : शीतेऽपि शैल स्थितान्यस्योच्चैर्दि-वपतो मुमोच न महाघोर : प्रतापज्वर : ॥)

३ बसाक और चट्टोपाध्याय भी देखिये, क्रमशः हि० ना० ई० ई०, पृ० १२२, अ० हि० ना० ई०, पृ० २०६।

४ नेपाल के लिए देखिये, नेपाल के लिच्छवि। कामरुप के शासकों में भूति-वर्मा ने गु० सं० २३४ में इस विरुद का प्रयोग किया है, उड़ीसा के शासकों ने भी इस विरुद का प्रयोग किया था।

५ देखिये, प्रा० भा० अ० अ०, पृ० ८० (किन्तु लेख में अधपिति का नाम नहीं दिया गया है। सरकार (सि० इं०, १, पृ० ३३, नो० ४) रायचौधरी (पो० हि० इं० इं०, पृ० ५०७) मजूमदार (हि० बंगाल, १, पृ० ४६) आदि विद्वानों के अनुसार इस लेख का अधिपति परवर्ती गुप्त ही रहे होंगे।)

६ देखिये सिन्हा, डि० कि० म०, पृ० १२४ आगे।

म के। यद्यपि बंगाल–विजय के समय दोनों साथ थे।[१] ऐसा प्रतीत होता है, 'गौडों' को पराजित कर दोनों दो दिशा की ओर चले गये। एक हिमालय-प्रदेश की ओर तो दूसरा विंध्य की पाड़ियों की ओर। ईश्वरवर्मा के जौनपुर लेख से विदित होता है कि उसने आन्ध्र-नृपति को पराजित किया था और आन्ध्र-नृपति उसके डर से विन्ध्य की पहाड़ियों में भागा-भागा फिरता था।[२]

जौनपुर लेख से ऐसा विदित होता है कि ईश्वरवर्मा ने रैवतक पर्वत तक विजय प्रयाण किया। यह पर्वत मैत्रकों के राज्यांतर्गत था।[3] यशोधर्मा के जीवन-काल तक मैत्रक शासक उसके अधीन थे किन्तु उसकी मृत्यु के पश्चात् ही वे स्वतन्त्र होगये[४]। इनको पुनः अधीन बनाने के उद्देश्य से ही ईश्वरवर्मा ने रैवतक पर्वत पर आक्रमण किया। किन्तु सफलता हाथ न लगी। मैत्रक ध्रुवसेन प्रथम से उनको मुहकी खानी पड़ी। इस जीत में गारूलक वराहदास की भी सहायता ध्रुवसेन को सम्भवतः प्राप्त थी। ऐसा अनुमान हम इस आधार पर कर रहे हैं, कि ध्रुवसेन के सैनिक अभियान में वराहदास को सहयोग देते हुए पाते हैं।[५] इसके अतिरिक्त इसके सम्बन्ध में लेखों में ऐसा भी वर्णन मिलता है कि इसने अपने बाहुबल से दुश्मनों को पराजित किया।[६] फिर जौनपुर लेख का काल भी ध्रुवसेन प्रथम के ही काल में पड़ता है। विद्वानों ने लेख का काल ५४६ ईसवी निर्धारित किया है।[७] मैत्रकों के राज्य पर गुहसेन के जीवन-काल तक कोई आक्रमण नहीं हो सका क्योंकि वह योद्धा के अतिरिक्त दूरदर्शी भी था। उसके काल में राज्य के कोष में काफी वृद्धि हुई।[८] उसके विक्रम का वर्णन मैत्रक लेख करते हैं।

---

१ देखिये, अ० हि० ना० इं०, पृ० २०६।

२ का० इं० इं०, ३, पृ० २२६-३० विन्ध्याः प्रतिरन्ध्रमान्ध्रपतिनाशंकापरे–नासितं।

३ वीरजी, वही, पृ० ३८।

४ देखिये, चौथा अध्याय

५ ज०यू० बॉ०, ३, पृ० ७६ आगे (किन्तु वीरजी ने इस विजय का श्रेय गुहसेन को दिया है जिसका काल ५५३ ईसवी से ५७६ ई० तक आंका गया है (वही, पृ० ३६)।

६ देखिये, एपि० इं०, ३, पृ० ३१८, पंक्ति ८-१०, फ्लीट, कार्पस, पृ० १६५

७ एपि० इं०, १७, पृ० १६२, दि मौखरिज, पृ० ७१।

८ देखिये, का० इं० इं०, ३, पृ० १६५।

उसमें ऐसा वर्णन मिलता है कि खड्ग शैशवावस्था से उसका द्वितीय बाहु था।[1] उसने प्रजा का रंजन भी किया[2]। जिसका कोष धन से भरा हो, जो योद्धा हो तथा जहां की प्रजा खुशहाल हो ऐसे राज्य को पराजित करना कठिन होता है। सम्भवत: इसीलिए गुहसेन के काल तक मैत्रक राज्य पर बाह्य आक्रमण नहीं हो पाए।

जौनपुर लेख से विदित होता है, कि ईश्वरवर्मा ने धारा के नृपति को भी पराजित किया था[3]। धारा का यह नृपति सम्भवत: गुर्जर नृपति संग—मसिंह ही था। वह पहले यशोधर्मा के काल में सामन्त नृपति था।[4] यशोधर्मा की मृत्यु के पश्चात् एवं मौखरियों के आक्रामक रूप को देख कर मैत्रकों की सहायता पाकर अगर उसने मौखरियों पर आक्रमण किया हो तो आश्चर्य नहीं। मैत्रकों और गुर्जरों में घनिष्ठ सम्बन्ध था।[5] गुर्जरों ने सम्भवत: मैत्रकों की सहायता पाकर लाट को अपने अधिकार में कर लिया था। किन्तु कलचुरियों के शक्तिशाली होते ही उनके अधिकार से यह प्रदेश जाता रहा जिसको वे पुन: चालुक्यों की सहायता से प्राप्त कर सके।

ध्रुवसेन के पश्चात् उसका भाई धरपट्ट मैत्रक ५५० ईसवी के लगभग राज्य का उत्तराधिकारी हुआ।[6] किन्तु जब वह सिंहासनारूढ़ हुआ तो काफी वृद्ध हो चुका था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने कुछ ही महीने शासन किया। यही कारण है कि उसके शासन-काल का अभी तक कोई लेख नहीं मिला। धरपट्ट के पश्चात् संभवत: ५५० ईसवी में ही, उसका पुत्र मैत्रक राज्य का उत्तराधिकारी हुआ। वह लगभग ५७० ईसवी तक प्रजा की सेवा

---

१ वही (शैशवात्प्रभुताखड्गद्वितियबाहुरेव)

२ वही (सकल-स्मृति-प्रणीत-मार्गसम्यकपरिपालनप्रजाहृदयरञ्जनादन्वर्थ-राजशब्दो)।

३ फ्लीट, कार्पस, पृ० २१६-३०।

४ देखिये, चौथा अध्याय।

५ देखिये, त्रिपाठी, प्राचीन भारत का इतिहास, पृ० २९५, इं० ए०, १३, पृ० ७७--७६।

६ वीरजी, वही, पृ० ३८।

करता रहा। इसकी अंतिम ज्ञात तिथि गु० सं० २४८ है[1] और इसके उत्तराधिकारी धरसेन द्वितीय की प्रारम्भिक ज्ञात तिथि २५२ मिलती है।[2]

ईसवी ५४४-४५ के लगभग ही सम्भवत: ईश्वरवर्मा और जीवितगुप्त प्रथम की मृत्यु हुई। इन दोनों की मृत्यु होते ही, भारत के पूर्वी प्रदेशों में सम्भवत: कोई विद्रोह हुआ जिसका दमन करने के लिए ईश्वरवर्मा का पुत्र ईशानवर्मा गया। ईशानवर्मा के हरहा लेख में ऐसा वर्णन मिलता है कि उसने आंध्र, शूलिक और गौडों को पराजित किया।[3] आन्ध्रों में उसने विष्णुकुण्डी नृपति माधववर्मा प्रथम को पराजित किया। पोलमुरु लेख से भी विदित होता है कि माधववर्मा प्रथम ने इस पराजय का बदला लेने के हेतु, अपने शासन के ४८ वें वर्ष में, पूर्वी प्रदेशों को जीतने के लिए गोदावरी को पार किया।[4]

शूलिकों की अवस्थिति के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है।[5] किन्तु इसका समुचित समाधान हरहा लेख से हो जाता है। इस लेख से विदित

---

१ इं० एं०, ५, पृ० २०७।

२ भावनगर अभिलेख, पृ० ३१, इं० एं०, १५, पृ० १८७।

३ देखिये, प्रा० भा० अ० अ०, पृ० १११
(जित्वान्ध्राधिपतिं सहस्रगणितत्रेधाक्षरद्वारणम् व्यावल्गन्नियुतातिसंख्य-तुरगान्भङ्क्त्वा रणे शूलिकाम्। कृत्वा चायतिमौचितस्थलभुवो गौडान्स मुद्राश्रयानध्यासिष्ट नतक्षितीशचरणः सिंहासनं यो जिती)।

४ क्लासिकल एज भी देखिये, पृ० २०८-२०९
(It is usually believed tnat here is an indirect reference to his struggle with the maukhari king Isanvarman who claims, however, to have defeated an Andnra king some time before A. D. 553).

५ फ्लीट और अरवमूथन ने इसका समीकरण मुलकों से किया है (इं०एं० २२, पृ० १८९ अरवमथन, वही. पृ० ६८, एस० के० शास्त्री ने इनको आंध्रों का पड़ोसी बतलाया है (ज० आ० हि० रि० सो० २, पृ० १८०). हीरानन्द शास्त्री ने इनकी अवस्थिति कलिंग. विदर्भ और चेदि के पास बतलायी है (एपि० इं० १४, पृ० ११०), हेरास ने इनका समीकरण चोलों से की है (ज० आ० हि० रि० सो० १, पृ० १३०.३३), प्रो० रे ने इनका समीकरण चालुक्य से की है (डा० हि० ना० इं०, १, पृ० ४३८)।

होता है कि शूलिक वेंगि (आंध्र) और गोड प्रदेश के वीच में कहीं निवास करते थे। कोडालक-मण्डल में आठवीं शती में इनकी अवस्थिति का पता भी चलता है। बहुत सम्भव है उड़ीसा के तोषलि प्रदेश के पास ही ये रहे हों।[1] शूलिकों की भांति गौडों की अवस्थिति को लेकर भी विद्वानों में मतभेद है। हरहा लेख की पंक्ति १३ के अनुवाद पर भी त्रिवाद है। लेख इस प्रकार है "कृत्वाचायति मौचितस्थलभुवो गौडान् समुद्राश्रयान्"। इसका अनुवाद करते हुए हर प्रसाद शास्त्री ने कहा है कि ये (गौड) समुद्र के किनारे रहते थे और ईशानवर्मा ने उनको उसी क्षेत्र में रहने को बाध्य किया।[2] डा० बसाक ने इसका भिन्न अर्थ किया है। उनके अनुसार ईशानवर्मा ने गौडों को समुद्र किनारे शरण लेने को बाध्य किया।[3] किन्तु ये दोनों मत ठीक नहीं प्रतीत होते।[4] 'भविष्यपुराण' और 'युवान च्वांग' के वृत्तान्त से ऐसा विदित होता है कि गौड लोग मुर्शिदाबाद जिले के आसपास रहते थे।[5] अतएव यह कहना कि समुद्र के किनारे रहने वाले इन गौडों को समुद्र में शरण लेनी पड़ी ठीक नहीं।[6]

ईशानवर्मा की इन विजयों को देखकर ही प्रशस्तिकार ने उसके लिए "राजन्राजकमण्डलाम्बरशशी" का प्रयोग किया है।[7] राजाओं में चन्द्र के समान ऐसा वर्णन ईशानवर्मा के लिए परवर्ती गुप्तों के अपसद लेख में भी हुआ है। यहां उसके लिए "क्षितिपतिशशिनः" का प्रयोग हुआ है।[8] इन विरुदों को देखने से विदित होता है कि ईशानवर्मा ने सम्राटोचित विरुद धारण किया था। असीरगढ़ से प्राप्त मुद्रा से भी इसकी पुष्टि होती है।[9]

---

१ उ० हि० रि० ज०, १, पृ० १३६-३७।
२ देखिए, एपि० इं०. १४, पृ० ११५ आगे।
३ हि० ना० ई० इं०, पृ० १११।
४ सिनहा भी देखिये, डि० कि०, पृ० १६५।
५ सरकार देखिये, ज० रा० ए० सो० ब० (ले०) ११, पृ० ६६।
६ वही, सिनहा के मत के लिए देखियें, डि० कि० म०, पृ० २१५-१६।
७ उपाध्याय प्रा० भा० अ० अ०, पृ० १११
८ वही, पृ० ८३।
९ का० इं० इं० ३, नं० ४७।

इस मुद्रा में ईशानवर्मा के लिए स्पष्ट रूप से "महाराजाधिराज" विरुद का प्रयोग हुआ है। ईशानवर्मा से पूर्व इस विरुद का प्रयोग जीवितगुप्त प्रथम ने किया था। इस प्रकार परवर्ती गुप्त सम्राट-पद के लिए अपने को उतराधिकारी समझने लगे थे क्योंकि ईशानवर्मा द्वारा सम्राटोचित विरुद धारण करते ही दोनों राजकुलों में युद्ध प्रारम्भ हो गया था।[1] परवर्ती गुप्ता और मौखरियों में इस युद्ध का निर्णय सम्भवतः ५५४-५५ ईसवी के पश्चात् ही हुआ। ऐसा हम इसलिए कह रहे हैं कि हरहा लेख, जिसका काल ५५४ ईसवी है, से यह नहीं मालूम होता कि मौखरियों का किसी (परवर्ती गुप्त) राजवंश से युद्ध हुआ जबकि अपसद लेख से इस युद्ध पर प्रकाश पड़ता है। इस युद्ध में सम्भवतः दोनों नृपति, ईशानवर्मा और कुमारगुप्त, मारे गये। यद्यपि ईशानवर्मा के सम्बन्ध में ऐसा वर्णन नहीं मिला कि वह मारा गया तथापि ऐसा अनुमान किया जा सकता है क्योंकि हरहा लेख के पश्चात् उसके सम्बन्ध में विशेष चर्चा किसी लेख में नहीं होती। इस युद्ध में कुमार गुप्त की विजय हुई, किन्तु उसे अपने प्राण से हाथ धोना पड़ा। प्रयाग में उसकी अंत्येष्टि क्रिया की गई।[2] किन्तु विद्वानों में इस पंक्ति को लेकर विवाद है।[3] चट्टोपाध्याय ने कहा है कि इस विजय के फलस्वरूप एवं अपने इष्ट देव को खुश करने के लिए कुमारगुप्त ने प्रयाग में अग्नि में अपनी आहूति दी। उन्होंने इसको एक प्रकार का धार्मिक अनुष्ठान बतलाया है जिसका प्रचलन मध्यकालीन भारत में अधिक था।

कुमारगुप्त की इस विजय की पुष्टि अपसद लेख से होती है। इस लेख में ऐसा वर्णन मिलता है कि दामोदर गुप्त ने अनेक अलंकारों से युक्त युवती ब्राह्मण कन्याओं की शादी करायी और दानस्वरूप अग्रहार भी दिया।[4] इस प्रकार विवाह संपन्न कराने का एक महत्व था। महाभारत के वनपर्व में

---

१ मौखरियों और परवर्ती गुप्तों में युद्ध का वर्णन अपसद लेख में हुआ है।

२ देखिये अपसद लेख (शौर्यसत्यव्रतधरो यः प्रयागगतो धने। अम्भसीव करीषाग्नौ मग्नः स पुष्पपूजितः) बसाक भी देखिए, हि० ना० ई० इं०, पृ० १२३।

३ चटोपाध्याय, ज० यू० पी० हि० सो०, १०, पृ० ६५ आगे. कलकत्ता रिव्यू २६, पृ० २०१।

४ देखिये अपसद लेख (गुणवद्द्विजजनकन्यानां नानालंकारयौवनवतीनाम्। परिणायितवान्स नृपः शतं निसृष्टाग्रहाराणाम्)।

इस प्रकार के विवाह करने के महत्व को बतलाया गया है। उसके अनुसार जो कन्याओं को ब्राह्मणों को ब्राह्म के रुप में देता है वह भूमि को इन्द्र के समान भोगता है[१]। इससे विदित होता है कि कुमारगुप्त की विजय हुई थी और दामोदरगुप्त 'सार्वभौमसत्ता' का उपभोग कर रहा था।

मौखरि और परवर्ती गुप्तों में इस युद्ध को देखकर उत्तरभारत के कई राज्य अपनी स्वायत्तता की घोषणा करने लगे थे। गया में मौखरि उठ खड़े हुए।[२] मौखरियों की इस शाखा में तीन नृपतियों के नाम का पता चलता है। ये हैं यज्ञवर्मा, शार्दूलवर्मा और अनन्तवर्मा। यज्ञवर्मा के सम्बन्ध में ऐसा वर्णन मिलता है कि उसने यज्ञ की महिमा का गान किया[३] और शासकों को क्षात्र धर्म का उपदेश दिया।[४] शार्दूलवर्मा ने जो सम्भवत: ईशानवर्मा और कुमारगुप्त के काल में हुआ था इन दोनो के झगड़े से लाभ उठाकर अपना स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी और विरोधी नृपतियों को पराजित कर 'सामन्त चूडामणि' बन गया[५]। इस कथन की पुष्टि महाराज नन्दन का गु० सं० २३२ में अभिलिखित अमौना ताम्रपत्र लेख भी करता है।[६] इस लेख में ऐसा वर्णन है कि कुमारामात्य महाराज नन्दन राजा और गुरु के चरणों में ध्यान लगाता है[७]। मौखरि नृपति को क्षात्र धर्म का उपदेश करते हुए पाते हैं। अतएव बहुत सम्भव है अमौना का यह 'देव-गुरु' जिसके चरणों में महाराज नन्दन ध्यान लगाता था गया के मौखरि ही हों।

---

१ यो ब्राह्मदेयां तु ददाति कन्यां भूमिप्रदानं च करोति विप्रे।
ददाति दानं विधिना च यश्च स लोकमाप्नोति पुरन्दरस्य ॥ १८६।१५

२ आर्कें० सर्वे ई०, ५१, पृ० २७-२८, का० इ० ई०, ३, पृ० २२४, इं० एं०, २०, पृ० १८६, २२७।

३ देखिये, चौधरी सि० इं० वि०, पृ० १६-१८, नागार्जुनी गुहा लेख (इष्टसमृतयज्ञमहिमा)।

४ वही (क्षत्रस्थि तेर्देशिकः)

५ वही।

६ एपि० इं०, १०, पृ० ५०।

७ वही (देव-गुरु-पादानुध्यातकुमारामात्यमहाराज नन्दनः)।

किन्तु महाराज नन्दन के लेकर अधिपति को विद्वानों में विवाद है।[१] डा० ब्लाक[२] ने परवर्ती गुप्त को अधिपति बतलाया है। लेकिन इस काल में (२३२+३१९—५५१ ई०) मौखरि ईशानवर्मा ही शक्तिशाली था और प्रभुसत्ता के लिए मौखरियों और परवर्ती गुप्तों में लड़ाई हो रही थी। ऐसी स्थिति में परवर्ती गुप्तों को महाराज नन्दन का अधिपति कहना युक्तिसंगत नहीं होगा। सिनहा ने 'गुप्तों' को महाराज नन्दन का अधिपति बतलाया है।[३] लेकिन इन 'गुप्तों' के सम्बन्ध में उन्होंने एक जगह यह भी कहा है कि वे परवर्ती गुप्तों के शरणागत थे[४] और परवर्ती गुप्त नृपति जीवितगुप्त प्रथम ५४३ ईसवी के लगभग काफी शक्तिशाला हो चुका था। उसकी 'क्षितीश चूडामणि' उपाधि से इस ओर संकेत होता है। फलतः गुप्त नृपति महाराज नन्दन के अधिपति प्रतीत नहीं होते। यदि उनका कोई अधिपति हो सकता था तो वह 'गया' के मौखरि ही।

मगध के अतिरिक्त बंगाल और कामरुप के शासकों ने भी स्वतंत्रता की घोषणा कर दी। बंगाल में ५५० ईसवी के लगभग समाचारदेव 'महाराजाधिराज' के रुप में उठ खड़ा हुआ[५]। इसके शासन के १४वें वर्ष का लेख भी मिला है[६]। इसके नाम से दो सोने के सिक्के भी मिले हैं।[७] सिक्कों पर इसने 'नरेन्द्रादित्य' उपाधि घारण की है। इसके सिक्कों के प्रकार के अधार पर विद्वानों ने इसको शशांक का पूर्वज कहा है और कुछ ने इसको गुप्त वंश से संबंधित बतलाया है। लेकिन केवल सिक्कों के प्रकार के अधार पर वंश निर्धारण करना उचित नहीं। सिनहा ने बड़े तर्कपूर्ण ढंग से उन विद्वानों का खण्डन किया है जिन्होंने समाचारदेव का सम्बन्ध 'गुप्तों' और 'गौडों'

---

१ देखिये, डि० कि० म०, पृ० १२६, एपि० इं०, १०, पृ० ५०।
२ एपि० इं०, १०, पृ० ५०।
३ डि० कि० म०, पृ० १२६।
४ देखिये, पीछे।
५ देखिये, हि० ना० ई० इं०, पृ० १६२, क्लासिकल एज, पृ० ७७, एपि०, इं० १८, पृ० ७५, आगे, हि० बं०, १ पृ० ५४।
६ एपि० इं०, १८, पृ० ७५ आगे।
७ इं० म्यू० कै०; १ प्लेट १६, नं० ११ और १३, एलन, कैटलाग, भूमिका, पृ० १४६ और ज० ए० सो० बं०, १८५२ प्लेट १२।

से बतलाने की चेष्टा की है ।[१] अतएव यही कहना उपयुक्त होगा कि गोपचन्द्र और धर्मादित्य की ही भांति समाचारदेव भी बंगाल का 'महाराजधिराज' था ।

यशोधर्मा के पश्चात् कामरूप पर जीवितगुप्त प्रथम का और उसके पश्चात् सम्भवतः मौखरि ईशानवर्मा का अधिकार था । अतः कामरूप को स्वतन्त्र होने का अवसर गु० सं० २३४ के लगभग ही मिला होगा, जबकि गुप्तों (परवर्ती) और मौखरियों में 'परम सत्ता' की प्राप्ति के लिए युद्ध छिड़ा हुआ था । मगध और बंगाल के कई शासक अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर चुके थे । कामरूप के शासकों के लिए भी यह उपयुक्त अवसर था । भूतिवर्मा ने अश्वमेध यज्ञ करके कामरूप, डवाक और समतट पर अपनी प्रभुता की स्थापना भी की ।[२] गु० सं० २३४ में अभिलिखित उसके वडगंगा शिलालेख से इसकी पुष्टि भी होती है ।[३] कामरूप के सर्वप्रभुतासंपन्न शासकों में वही अकेला शासक है जिसने 'परमदैवत' उपाधि का प्रयोग किया ।[४] इस प्रकार उसके द्वारा इस उपाधि के प्रयोग किये जाने का कारण सम्भवतः पुण्ड्रवर्द्धनभुक्ति से संचालित साम्राज्यवादी सत्ता का विरोध एवं अपनी स्थिति को सुदृढ़ बतलाना मात्र था । किन्तु इस लेख की तिथि को डा० सरकार ने २४४ पड़ा है । लेकिन उनके इस पाठ से हम सहमत नहीं हैं ।[६] हमारी इस असहमति का मुख्य आधार तत्कालीन उत्तर भारत की राजनीतिक स्थिति है । हमने अभी देखा कि मगध और बंगाल में ५५० ईसवी के लगभग राज्यों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी । राजपूताने में 'गुर्जर' उठ खड़े हुए ।[७] इनका उल्लेख जोधपुर के नवीं शती के गुर्जर

---

१ देखिये, डि० कि० म०, पृ० २२६-२८ ।
२ एपि० इं०. २७, पृ० २२, वही, ३७, पृ० ६२.६७, ज० आ० रि० सो० ८, पृ० ३३, १० पृ० ६३ ।
३ वही, पृ० १८ आगे ।
४ देखिये, वही, पृ० २३ ।
५ इं० हि० क्वा० २१, पृ० १४५, वही, २२, पृ० ११३, एपि० इं०, ३०, पृ० ६३ (सरकार ने तिथि के सम्बन्ध में संदेह व्यक्त किया है) ।
६ क्लासिकल एज भी देखिये, पृ० ६१, नो० २ ।
७ वही, पृ० ६३-६५ ।

प्रतिहार राजवंश के लेख में हुआ है।[1] इस वंश का स्थापक हरिचन्द्र था। इसके चार पुत्र थे—भोगभट, कक्क, रज्जिल, और दद्द। इन्होंने माण्डव्यपुर (मन्दोर, जोधपुर से पांच मील उत्तर तरफ) को जीतकर उसको अपनी राजधानी बनाई। रज्जिल के पश्चात् उसका पुत्र नरभट और उसके पश्चात् उसका पुत्र नागभट शासक हुए। नागभट ने अपनी राजधानी माण्डव्यपुर से हटाकर मेडन्टक को बनाया। मोटे तौर पर इन शासकों का काल ५५० ईसवी से ६४० ईसवी तक आंका जा सकता है।[2]

इस प्रकार उत्तर भारत के राज्य जिनको जीवितगुप्त और ईशानवर्मा ने एक के अधीन किया था आपसी युद्ध के कारण विकेन्द्रित होने लगे थे। लेकिन ईशानवर्मा की पराजय से ही यह झगड़ा समाप्त नहीं हुआ बल्कि वंशानुगत हो गया। मौखरि वंशतालिका के अनुसार ईशानवर्मा के पश्चात् उसका पुत्र शर्ववर्मा शासक हुआ।[3] प्रभुसत्ता के लिए इनमें और परवर्ती गुप्त नृपति दामोदरगुप्त में युद्ध चलता रहा। किन्तु हरहा लेख और असीरगढ़ लेख को देखने से विदित होता है कि ईशानवर्मा के दो पुत्र थे—सूर्यवर्मा और शर्ववर्मा। असीरगढ़, नालन्दा एवं गुप्त[4] अभिलेखों से यही विदित होता है कि ईशानवर्मा के पश्चात्, शर्ववर्मा 'महाराजाधिराज' अथवा 'परमेश्वर' हुआ।[5] सूर्यवर्मा के सम्बन्ध में ये लेख सर्वथा मौन है। इसके नाम के सिक्के अभी तक नहीं मिले हैं जबकि शर्ववर्मा के सिक्के भी प्राप्त हुए हैं।[6] इससे अनुमान किया जा सकता है कि उसने राज्य नहीं किया और सम्भवतः पिता के ही जीवन काल में युद्ध क्षेत्र में मारा गया।[6] यद्यपि इस सूर्यवर्मा की पहचान महाशिवगुप्त के सिरपुर लेख के सूर्यवर्मा 'नृप' से

---

१ एपि० इं० १८, पृ० ८७ आगे, ज० डि० ले० १०, पृ० १ आगे, प्रा० भा० अ० अ० पृ० १४१।
२ क्लासिकल एज, पृ० ६५।
३ देखिए असीरगढ़ ताम्रपत्र लेख और एपि० इं०, २१, पृ० ७३ आगे, वही, २४, पृ० २८३ आगे।
४ देखिये जीवितगुप्त द्वितीय का देववरणार्क लेख।
५ वही।
६ देखिये, आर्के० सर्वे रि० १६, पृ० ८१
७ सालातोर भी देखिये, लाइफ इन गुप्त एज, पृ० ५३।

की गई है।[१] केवल नाम के साम्य के आधार पर हरहा लेख के सूर्यवर्मा को, सिरपुर लेख का सूर्यवर्मा नहीं माना जा सकता।[२] विवेचन से इसकी निःसारिता सिद्ध हो जाती है। इसके लिए हमें महाशिवगुप्त तीवरदेव का काल निर्धारित करना होगा। बनर्जी[३] और घोष[४] ने तीवरदेव का काल सातवीं आठवीं शती में निर्धारित किया है। घोष ने बड़े तर्कपूर्ण ढंग से सप्रमाण महाशिवगुप्त का काल सातवीं शती में निर्धारित कर सिरपुर लेख के सूर्यवर्मा का हरहा लेख के सूर्यवर्मा से पहचान करनेवाले वक्तव्यों का खण्डन कर दिया है।[५] ऐसी स्थिति में, जब महाशिवगुप्त का काल सातवीं शती में पड़ता हो तब छठी शती ईसवी के सूर्यवर्मा और सातवीं शती ईसवी के सूर्यवर्मा को एक ही मानना समीचीन नहीं है। अतएव यही कहना उपयुक्त होगा कि सूर्यवर्मा (हरहा लेख का) अपने पिता के ही जीवनकाल में युद्ध में मारा गया।

इस प्रकार दामोदरगुप्त का जिस मौखरि नृपति से युद्ध हुआ वह शर्ववर्मा ही रहा होगा।[६] इस युद्ध में सम्भवतः वह (दामोदरगुप्त) मारा

---

१ एपि० इं०, २२, पृ० १६ आगे। पो० हि० एं० इं०, पृ० ५१२, नो० १।

२ सिनहा ने नाम के साम्य के आधार पर सिरपुर लेख के सूर्यवर्मा को हरहा लेख का सूर्यवर्मा माना है (देखिये, डि० कि० म०, पृ० १७३, नो० ३) मिराशी का भी यही मत है (देखिये, एपि० इं०, २२, पृ० ११ और २३, पृ० ११३)।

३ हिस्ट्री आफ उड़ीसा, १, पृ० २०४।

४ एपि० इं०, २५, पृ० २६७ आगे, वही, २६, पृ० २२७।

५ वही २५, पृ० २६७-६८।

६ सरकार ने (ज० रा० ए० सो० बं० (ले), ११) ईशानवर्मा को बतलाया है। लेकिन हमारे पास प्रचुर प्रमाण यह कहने के लिए है कि दामोदरगुप्त ने शर्ववर्मा को पराजित किया था। कांगड़ा जिले से प्राप्त एक ताम्र लेख इसकी पुष्टि करता है (का० इं० इं०, ३, पृ० २८८)। इससे विदित होता होता कि महाराज शर्ववर्मा ने कुछ भूमिदान दी थी। यह प्रदेश हूण-श्राक्रान्त प्रदेश के निकट था। बहुत सम्भव है महाराज शर्ववर्मा हूण-अभियान के समय हूणों को पराजित कर यहां भूमि दान की हो। अपसद लेख में

क्रमशः

गया[1] । किन्तु, इससे यह निष्कर्ष निकालना कि दामोदरगुप्त की पराजय हुई, युक्तियुक्त नहीं[2] । इस प्रकार हार कर भी शर्ववर्मा की जीत हुई। दामोदरगुप्त की मृत्यु के पश्चात् वह मगध में उठ खड़े हुए राज्यों का दमन करने के हेतु गया । इस अनुमान का मुख्य आधार देववरणार्क लेख है जिससे विदित होता है कि उसने शाहाबाद जिले में, जो मगध का एक भाग था, एक गाँव दान स्वरूप दिया था ।[3] नालन्दा से प्राप्त 'मौखरियों' की मुद्राएं भी इसकी पुष्टि करते हैं कि मगध पर उनका शासक था ।[4] यही कारण है कि मगध में शासन करने वाले यज्ञवर्मा के वंशज अनन्तवर्मा के पश्चात् और महाराज नन्दन के वंशजों का पता नहीं चलता है ।सम्भवतः शर्ववर्मा ने इनका समूल नाश कर दिया ।

महाशिवगुप्त बालार्जुन के सिरपुर लेख के सुर्यवर्मा की ही भांती भोजदेव के विक्रम संवत् ८९३ में अभिलिखित वराह ताम्रपत्र लेख[5] के परमेश्वर प्रार्ववर्मा और असीरगढ़ लेख के शर्ववर्मा को डा० सिनहा ने एक ही व्यक्ति माना है ।[6] किन्तु केवल नाम के साम्य के आधार पर शर्ववर्मा के राज्य की सीमा को बुंदेलखण्ड तक खींच देना समीचीन नहीं ।[7]

दामोदरगुप्त के पश्चात् उसका पुत्र महासेनगुप्त उत्तराधिकारी हुआ । ५६३-६४ ईसवी के लगभग वह सिंहासनारुढ़ हुआ । शासनसूत्र संभालते ही

पृष्ट २०४ का शेषांस

ऐसा वर्णन भी मिलता है कि दामोदरगुप्त ने उन मौखरियों की सेना को विघटित किया था जिसने कभी हूणों को पराजित किया था । इस प्रकार इस लेख का शर्ववर्मा और मौखरि शर्ववर्मा एक ही व्यक्ति थे । यद्यपि मजूमदार ने इस एकात्मकता पर सन्देह व्यक्त किया है (देखिए, प्रो० ओ० का०, १५, पृ० २६८) ।

१ त्रिपाठी, हिस्ट्र आफ कन्नौज, पृ० ४४-४५ कलकत्ता रिव्यू, १९२८, पृ० २०१ आगे, रायचौधरी, पो० हि० एं० इं०, पृ० ५१२, मजूमदार, हिस्ट्री आफ बंगाल, १, पृ० ५७ ।

२ देखिये, सनहा, डि० कि० म०, पृ० १७४ ।

३ प्रा० भा० अ० अ०, पृ० ८६ ।

४ देखिये, एपि० इं०, २४, पृ० २८४ ।

५ एपि० इं०, १६, पृ० १५ आगे ।

६ डि० कि० म०, पृ० १९६-२०० ।

७ वही, पृ० १९९ नो० ६ ।

ही सर्वप्रथम उसने अपनी बहन (महासेनगुप्ता) की शादी की[१] । वर्धन कुल के आदित्यवर्धन से उसने अपनी बहन का विवाह किया[२] । मौखरियों के विस्तारवादी नीति से सम्भवतः 'वर्धन' भी चिन्तित थे ।[३] इस विवाह सम्बन्ध के हो जाने से मौखरियों की शक्ति पर एक प्रतिबन्ध लग गया । बहुत सम्भव है इस सम्बन्ध के पश्चात् गुप्त-वर्धन की सम्मिलित शक्ति 'मौखरियों' पर टूट पड़ी हो जिसमें सम्भवतः शर्ववर्मा मारा गया । इस प्रकार मौखरियों की शक्ति को नियंत्रित कर महासेनगुप्त ने ५७०-७१ ईसवी में सम्भवतः मैत्रकों पर आक्रमण किया और मैत्रक धरसेन द्वितीय को अधीन सामन्त बनाने में सफल हुआ । ऐसा अनुमान हम धरसेन द्वितीय के शासन के प्रारम्भिक लेख से करते हैं । इस लेख में उसके लिए 'सामन्त महाराज' उपाधि का प्रयोग किया गया है ।[४] किन्तु इसके दो वर्ष पश्चात् ही गु० सं० २५४ में उसने अपनी पूर्व स्थिति को पुनः प्राप्त कर ली । इस लेख में उसने 'महासामन्त महाराज' उपाधि का प्रयोग किया है ।[५] लेकिन महासेनगुप्त योद्धा के अतिरिक्त नीतिज्ञ भी था । उसने नीति से काम लिया और मैत्रक राज्य में गारुलक वंशी सामन्त महाराज सिंहादित्य को उकसा दिया । गारुलक वंशी नृपति इसके पूर्व मैत्रकों के अधीन शासक थे । किन्तु, इस काल में सिंहादित्य के गु० सं० २५५ में अभिलिखित पालिताना लेख से यह विदित नहीं होता कि मैत्रक नृपति उसका अधिपति था ।[६]

लेकिन सुराष्ट्र प्रदेश की विजय से पूर्व महासेनगुप्त सम्भवतः बंगाल और कामरूप की ओर बढ़ा । बंगाल में उस समय 'महाराजाधिराज'

---

१ देखिये, सिनहा, डि० कि० म०, पृ० १७५ ।

२ का० इं० इं०, ३, पृ० २३२ आगे ।

३ देखिये, सिनहा भी, वही, पृ० १७३
(It is quite possible that small kingdom of Thaneswar was also feeling alarmed at the expansion of the powerful kingdom of the Maukharis.)

४ देखिये, भावनगरअभिलेख, पृ० ३१, इं० इं० १५, पृ० १८७ ।

५ एपि० इं०, २१, पृ० १७६ ।

६ वही, ११, पृ० १६, पृष्ठभूमि भी देखिये ।

समाचार देव का शासन था। इसके शासन का प्रारंभिक वर्ष ५५० ईसवी के लगभग आंका गया है और इसके शासन काल के १४ वें वर्ष में घुग्रहाती लेख से इसके बारे में प्रकाश पड़ता है।[1] इस लेख के पश्चात् उसका कोई दूसरा लेख तिथि के साथ नहीं मिला है। इसलिए बहुत सम्भव है ५६५ ईसवी के लगभग वह महासेनगुप्त द्वारा पराजित किया गया हो। महासेन गुप्त के सम्बन्ध में अपसद लेख में ऐसा वर्णन मिलता है कि उसने सुस्थितवर्मा को पराजित किया जिससे उसकी यश गाथा लौहित्य के किनारे गायी जाती है।[2] सुस्थितवर्मा कामरूप का शासक था।[3] और कामरूप के शासकों के राज्य का विस्तार बंगाल और बिहार की सीमा में बढ़ने लगा था।[4] कामरूप की इस विस्तारवादी नीति पर रोक लगाने के लिए आवश्यक था बंगाल को नियंत्रण में रखना। महासेन गुप्त ने सम्भवतः यही किया। इसी कारण समाचारदेव के बारे में ५६५ ईसवी के पश्चात् कोई उल्लेख नहीं मिलता है। सुस्थितबर्मा से पहले और भूतिवर्मा के पश्चात् कामरूप पर दो व्यक्ति शासन कर चुके थे। ये भी 'वर्मा' कुल के थे।[5] इन दोनों ने सम्भवतः दस वर्ष तक शासन किया।

लेकिन महासेनगुप्त की ये विजयें स्थायी नहीं रही। उसको बंगाल के विद्रोह का सामना करना पड़ा। बंगाल प्रारम्भ से ही विद्रोही था। सम्भवतः इसीलिए जीवितगुप्त प्रथम एवं ईशानवर्मा ने इनका कठोरतापूर्वक दमन किया।[6] 'महाराजाधिराज' समाचारदेव के पश्चात् बंगाल में गौडों का

---

१ देखिये, पीछे।

२ श्री मत्सुस्थितवर्मयुद्धविजयश्लाघापदांकमुहुः।
लौहित्यस्य तटेषु शीतलतलेषुत्फुल्लनागद्रुमच्छायासुप्तविबुद्धसिद्धमिथुनैः स्फीतं यशो गीयते।

३ देखिये भास्करवर्मा का नालंदा से प्राप्त मुद्रा लेख (मे० आर्के सर्वे० इं०, नं० ६६), ज० बि० उ० रि० सो० १५, पृ० २५१।

४ देखिये, बरुआ, अर्ली हिस्ट्री आफ कामरूप, पृ० ५०-५१, देखिये चौथा अध्याय भी।

५ देखिये, पृष्ठभूमि।

नृपति जयनाग हुआ।[१] इसके शासन काल का एक ताम्र लेख भी मिला है।[२] इसके सम्बन्ध में लिखते हुए डा० बारनेट ने कहा है कि इसके बारे में किसी अन्य स्रोत से हम जानकारी नहीं प्राप्त कर सके हैं।[3] किन्तु डा० बसाक ने बौद्ध स्रोत के आधार पर यह प्रमाणित कर दिया है कि जयनाग नाम का 'गौडों' का कोई राजा निश्चित था।[४] एलन के कैटलाग में 'जय' नामक कुछ सिक्के भी हैं। एलन ने इनको 'गुप्तों' का बतलाया है और सिक्के के 'जय' को 'जयगुप्त' पढ़ा है।[५] किन्तु बाद में स्वयं एलन ने, सिक्के के जय और वप्पघोषवाट लेख में उल्लिखित जयनाग को एक माना।[६]

इस जयनाग और शर्ववर्मा के उत्तराधिकारी उसके पुत्र, अवन्तिवर्मा में सम्भवतः महासेनगुप्त की शक्ति को संतुलित बनाये रखने के लिए कोई संधि हुई। मित्र राष्ट्रों का संघ बनाने की यह प्रवृति इस काल में हम पाते हैं[७]। बहुत सम्भव है इन दोनों राजवंशों ने मिलकर मगध-क्षेत्र को महासेनगुप्त से छीन लिया[८]। मौखरियों का मगध में होने की पुष्टि उनकी नालंदा से प्राप्त मुद्राएं एवं देववरणार्क लेख भी करते हैं[९]। 'महाराजाधिराज' जयनाग ने अपने साम्राज्य के पश्चिमी प्रदेशों पर शासन के लिए रोहतासगढ़ सासाराम

---

१ देखिये पीछे, सिनहा डि० किं० म०, पृ० २१६-१६

२ एपि० इं०, १८, पृ० ६० आगे।

३ वही।

४ हि० ना० ई० इं०, पृ० १३६

(नागराजसमाह्वयो गौडराजा भविष्यति
अन्ते तस्य पे तिष्ठं जयाय वर्णतदिवशां)

५ कैटलाग, पृ० १५०-५१।

६ एपि० इं०, १८, पृ० ६० आगे।

७ देखिये पृष्ठभूमि०।

८ देखिये बसाक, हि० ना० ई० इं०, पृ० १३६, सिनहा भी देखिये, डि० कि० म०, पृ० २२२।

९ देखिये पीछे।

को केन्द्र बनाया[1]। यहां से शशांकदेव का मुद्राक्षर–धरण[2] और 'महाराजाधिराज' जयनाग के सिक्के भी मिले है[3]। शशांक सम्भवत: इसी 'महाराजाधिराज' के अधीन 'महासामन्त' था[4]। किन्तु मजूमदार ने इसको महासेनगुप्त के अधीन 'महासामन्त[5]' बतलाया है। जब हम रायचौधरी के इस कथन पर विचार करते है तो उनका कथन तर्कपूर्ण नहीं लगता। इसके लिए हमें जीवितगुप्त प्रथम के गु० सं० २२४ में अभिलिखित दामोदरपुर लेख पर दृष्टिपात करना होगा। इस लेख से ज्ञात होता है कि सम्राट ने इस प्रदेश के शासन के लिए पहले की भांति दत्तवंशी (स्थानीय) व्यक्तियों को नहीं चुना बल्कि अपने ही वंश के किसी राजपुत्र को चुना[6]। राज्यपाल की नियुक्ति में यह परिवर्तन उल्लेखनीय है। अतएव यही कहना युक्तिसंगत होगा कि 'महासामन्त' शशांक महासेनगुप्त के अधीन इस प्रदेश का प्रशासक नहीं था अपितु गौड 'महाराजाधिराज' जयनाग के अधीन था।

अंग-वंग और मगध का क्षेत्र इस काल में विंध्य के दक्षिण ओर से होनेवाले आक्रमणों से अरक्षित हो गया था। विन्ध्य के दक्षिण ओर से संभावित खतरे को सोचकर ही सम्भवत: यशोधर्मा, जीवितगुप्त और ईशानवर्मा ने आन्ध्र पर्यन्त के प्रदेशों को अपने नियंत्रण में रखा। किन्तु इस काल में केन्द्रीय शक्ति के अभाव एवं सामन्तवादी प्रवृति के विकास के कारण आक्रमकों से देश की रक्षा करने की शक्ति शिथिल पड़ गयी थी। सम्भवत: इसीलिए विन्ध्य के दक्षिण ओर से हुए आक्रमणों के सामने अंग-वंग और मगध के राज्यों को झुक जाना पड़ा। चालुक्य नृपति कीर्तिवर्मा के सामने इन राज्यों को नत होना पड़ा ऐसा वर्णन उसके भाई मंगलेश के महाकूट स्तम्भ

---

१ सिनहा, वही, पृ० २२३।

२ का० इं० इं०, ३, पृ० २७३ आगे।

३ एलन, कैटलाग, पृ० १५०-५१।

४ सिनहा, वही, पृ० २२३।

५ देखिये, हिस्ट्री आफ बंगाल, १, पृ० ५६, कलासिकल एज, पृ० ७४, ७८।

६ विरुद्ध मत के लिए देखिये डांडेकर, वही, पृ० १६०, सिनहा, वही, पृ० १२७, बसाक, हि० ना० ई० इं०, पृ० ९२।

लेख में मिलता है[१]। 'विष्णुकुण्डी' नृपति माधववर्मा प्रथम ने भी सम्भवतः उत्तर भारत के पूर्वी प्रदेशों की विजय के लिए गोदावरी को पार किया[२]। उसका यह कार्य उसके शासन के ४८ वें वर्ष में हुआ जिसका ईसवी सन् में काल ५८३ के लगभग पड़ता है[३]।

चालुक्यों और विष्णुकुण्डियों के अतिरिक्त कलचुरियों का भी आक्रमण हुआ। कलचुरि नृपति शंकरगण[४] (५७५ ६०० ई०) के अभोना लेख[५] से विदित होता है कि उसके राज्यांतर्गत उज्जयिनी, नासिक और सम्भवतः डाहल प्रदेश भी था।[६] इस काल के मैत्रकों के इतिहास पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तो इस को परिलक्षित करते हैं कि मैत्रक नृपति धरसेन द्वितीय ने भी शंकरगण की अधीनता स्वीकार की थी। इस निष्कर्ष पर हम धरसेन द्वितीय के गु० सं० २७० में अभिलिखित अलिणा लेख से पहुँचे हैं।[७] इसमें वह 'महासान्त महाराज' विरुद से अभिहित किया गया है लेकिन इसके साथ ही यह भी कहा गया है कि उसने प्रजा पर पड़नेवाली संभावित खतरे को पलट दिया।[८] इससे अनुमान किया जा सकता है कि उसने अपनी प्रजा की रक्षा के हेतु आक्रामक से कोई संधि की।[९] उसकी यह स्थिति सम्भवतः चालुक्य नृपति मंगलेश की शंकरगण के पुत्र बुद्धराज पर, ६०२ ईसवी में,

---

१ इं० ए०, १६ पृ० ७ आगे।

२ देखिए, पीछे।

३ देखिये, क्लासिकल एज, पृ० २०८।

४ देखिये का० इं० इं० ४, भूमिका, पृ० ४५-४६, एपि० इं० ६, पृ० २९६ आगे।

५ एपि० इं०, ६, पृ० २९६ आगे।

६ इं० हि० क्वा०, ३२. पृ० ४३१ आगे।

७ इं० ए०, ७, पृ० ७१, ज० व० ब्रा० रा० ए० सो०, १ (न्यू० सि०), पृ०६६।

८ वही।

९ देखिये, बाँबे गजेटियार, १, प० ११५।

आक्रमण करने तक बनी रही ।[1] अतएव धरसेन द्वितीय ने ६०० ईसवी के लगभग ही 'महाधिराज' उपाधि धारणा की होगी [2]

दक्षिण से हुए इन आक्रमणों की चपेट में सम्भवतः महासेनगुप्त और अवन्तिवर्मा दोनों मारे गए। कलचुरि नृपति शंकरगण के अभोना लेख से विदित होता है कि उसने उन राजाओं को पुनः पदासीन किया जो पहले पदच्युत कर दिये थे।[3] मालवा का पदच्युत राजा देवगुप्त था। सम्भवतः इसीलिए इसके नाम का उल्लेख परवर्ती गुप्तों के लेख में नही हुआ। यद्यपि मधुबन ताम्रपत्र लेख[4] में इसके नाम का उल्लेख हुआ है। हर्षवर्धन के बांसखेड़ा[5] और मधुबन लेख में इसकी उपमा दुष्ट घोड़े से की गई है जिसका नाश राज्यवर्धन ने किया। हर्षचरित में मालवा का दुष्ट शासक के रूप में इसका उल्लेख हुआ है। विद्वानों ने मालवा के इस दुष्ट शासक और बाँसखेड़ा लेख के देवगुप्त को एक ही माना है।[6]

देवगुप्त का महासेनगुप्त के साथ कैसा सम्बन्ध था इसकी जानकारी अभी तक निश्चित प्रमाणों के साथ नहीं हो सकी है। लेकिन कुछ विद्वानों ने इसको महासेनगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र बतलाया है।[7] प्रमाणों के अभाव में इस मत को हम नहीं मानते हैं। अतएव इतना ही इस सम्बन्ध में कहेंगे कि देवगुप्त महासेनगुप्त का कोई सम्बन्धी था[8] जिसका महासेनगुप्त से सैद्धान्तिक मतभेद था। महासेनगुप्त ने वर्धन कुल से सम्बन्ध स्थापित किया था जो स्वयं मौखरि कुल में सम्बन्ध स्थापित करना चाह रहे थे। मौखरि गुप्तों के वंशानुगत दुश्मन थे। देवगुप्त सम्भवतः कलचुरि नृपति की सहायता पाकर

---

१ मंगलेश का बुद्धराज पर आक्रमण, देखिये मिराशी, का० इं० इं०, ४, भूमिका, पृ० ४५-६।
२ देखिये क्लासिकल एज, पृ० ६३, नो० १, इं० एं०, ६, पृ० १२ (पं०१५)।
३ देखिये एपि० इं०, ६, पृ० २६६।
४ देखिये, मुखर्जी, हर्ष पृ० १० आगे।
५ देखिये, प्रा० भा० अ० अ०, पृ० ११३।
६ देखिये, क्लासिकल एज, पृ० ७४।
७ ज० रा० ए० सो०, १६०३, पृ० ५६२, पो० हि० एं० इं०, पृ० ६०७, डांडेकर, हिस्ट्री आफ दि गुप्तज, पृ० १८०।
८ देखिये क्लासिकल एज, पृ० ७५ और डि० किं० म०, १६२ भी।

मालवा का शासक बना। सम्भावित संकट को समझकर ही महासेनगुप्त ने अपने दोनों पुत्रों को वर्धन राजदरबार में शरण के लिए भेजा।[1] देवगुप्त के इस दुष्कृत्य ने प्रभारकवर्धन को क्रोधित कर दिया। उसने देवगुप्त पर आक्रमण भी किया।[2] 'हर्षचरित' में उसको मालव-लक्ष्मी-लता-परशु कहा भी गया है।[3] 'हर्षचरित' से उसकी विजयों का भी पता चलता है कि पहले उसने कश्मीर से अथवा तुखार देश से हूणों को खदेड़ा, फिर सिन्धु, गुर्जर (पंजाब, मारवाड़) और गन्धार के राजाओं को वश में किया, तब वह दक्खिन की ओर झुका और लाट देश पर चढ़ाई की और मालवा को भी जीता।[4]

मौखरि नृपति अवन्तिवर्मा की भी ६०० ईसवी के लगभग मृत्यु हो चुकी थी। उसकी मृत्यु के पश्चात् मौखरि राजवंश का वैध उत्तराधिकारी सम्भवतः नालन्दा मुद्रा लेख का श्री सुव अथवा सुच हुआ।[5] किन्तु 'हर्षचरित' से मालूम होता है कि मौखरि नृपति अवन्तिवर्मा का उत्तराधिकारी उसका ज्येष्ठ पुत्र ग्रहवर्मा था।[6] 'हर्षचरित' में ग्रहवर्मा की राज्यश्री से विवाह का भी वर्णन हुआ है। इस वर्णन में ग्रहवर्मा के पिता का उल्लेख कहीं नहीं हुआ है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि ग्रहवर्मा के विवाह के समय उसके पिता उपस्थित नहीं थे अर्थात उनकी मृत्यु हो चुकी थी।[7] अवन्तिवर्मा की मृत्यु के पश्चात् मौखरि-वर्धन कुलों में यह वैवाहिक सम्बन्ध सम्भवतः कोई कूटनीतिक महत्व रखता था।

वर्धन कुल परवर्ती गुप्तों से सम्बन्ध रखने के कारण मौखरियों का शत्रु हो गया था। नालन्दा लेख का सुच अथवा सुव वर्धन को सम्भवतः दुश्मन ही समझता था। अवन्तिवर्मा की मृत्यु हो चुकी थी। प्रभाकरवर्धन ने नीति से काम लिया और उसने मौखरि कुल में ग्रहवर्मा को खड़ा कर अपने पक्ष

१ देखिये, हर्षचरित कावेल पृ० ११६।
२ गांगुली, ज० बि० उ० रि० सौ०, १६, पृ० ३६६ आगे।
३ हर्षचरित कावेल पृ० १०१।
४ वही।
५ देखिये, घोष, एपि० इं० २४, पृ० २८३ आगे।
६ हर्षचरित कावेल पृ० १२२।
७ सिनहा भी देखिये, डि० किं० म०, पृ० २०६।

में कर लिया और अपनी बेटी राज्यश्री का विवाह उससे कर दिया। इस प्रकार मौखरिकुल की शक्ति को कम करने के लिए उसने विभक्त करो और शासन करो की नीति को अपनाया। वर्धन कुल की इस विस्तारवादी नीति से उत्तरभारत के राज्य शंकित हो उठे। देवगुप्त ने जो कि वर्धन कुल से चिढ़ा हुआ था वर्धन शक्ति के विरुद्ध मित्र राष्ट्रों का सम्भवत: एक संघ भी बनाया। इस संघ में सम्भवत: गौड नृपति शशांक, मगध का मौखरि नृपति सुव अथवा सुच मैत्रक एवं लाट[1] के नृपति थे। ये शक्तियाँ अपनी स्वायत्तता को बनाये रखने के लिए ही संभवत: एक हुई। लाट और मैत्रक इस संघ में इसलिए सम्मिलित हुए क्योंकि उन्हें मालवा की रक्षा करनी थी महत्वाकांक्षी और विस्तारवादी शासकों से क्योंकि मालवा के हाथ से चले जाने से उनकी स्वायता पर आंच आने की सम्भावना थी। सम्भवत: इसीलिए सातवीं शती ईसवी में मालवा का बटवारा हो गया। उसके पश्चिमी भाग पर मैत्रकों ने अधिकार कर लिया।[2] मालवा की भाँति मगध का भी सैनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान था। मगध का हाथ से निकल जाने का अर्थ था गौडों की गतिविधि को प्रश्रय मिलना। अपनी स्वायत्तता की रक्षा हेतु, ही 'गौडों' ने रोहतासगढ़ को प्रशासकीय केन्द्र बनाया था। किन्तु हर्षवर्धन के काल में मगध वर्धनों के अधिकार में चला गया जिसके फलस्वरूप 'महाराजाधिराज' शशांक की गतिविधियों पर हर्ष नियंत्रण रख सकने में सफल हो पाया।

---

१ मजूमदार ने गुर्जरों को लाट का निवासी बतलाया है (ज० डि० लें० १०, पृ० १ आगे) प्रभाकरवर्धन ने लाट पर आक्रमण भी किया था।

२ देखिये, सिनहा, डि० किं० म०, पृ० १८१-८-५ (सिनहा ने स्मिथ के मत से असहमति प्रकट की है। स्मिथ ने युवान-च्वांग के मो-ल-पो की पहचान पश्चिमी मालवा से की है। हमारा भी यही निष्कर्ष है कि मो-ल-पो पश्चिमी मालवा ही रहा होगा। हमारे कथन का मुख्य आधार तात्कालीन राजनीतिक प्रवृत्ति है। सिनहा ने मजूमदार, शास्त्री, ला और वैद्य (देखियें, डि० किं० म०, पृ० १८१ आगे) की भाँति मो-ल-पो को गुजरात प्रदेश का मालवक माना है। यह भी एक अनुमान है। किन्तु तात्कालीन राजनीतिक प्रवृत्ति के आधार पर जब हम मो-ल-पो की पहचान के बारे में विचार करते हैं तब इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह मो-ल पो पश्चिमी मालवा का ही प्रदेश रहा होगा।

३ क्लासिकल एज, पृ० १०६-१०७।

परिशिष्ट १

नेपाल के लिच्छवि

आलाच्य काल में नेपाल पर 'लिच्छवियों' का शासन था[१]। नेपाल की भौगोलिक स्थिति बतलाते हुए 'युवान-च्वांग' ने कहा है कि इसका क्षेत्रफल लगभग ४००० वर्ग ली है और यह हिमालय पर बसा है। इसकी राजधानी लगभग २० ली क्षेत्र फल में है।[२] ये लिच्छवि वैशाली के थे[३]। प्रारम्भ में इनकी शासन-व्यवस्था गणतंत्री थी, इसीलिए इनको समय-समय पर साम्राज्यवादियों का सामना करना पड़ता था। पांचवीं शत्ती इसवी पूर्व में अजातशत्रु ने अपने राज्य-विस्तार के लिऐ वैशाली के लिच्छवियों को नृशंसतापूर्वक ध्वस्त कर दिया। अनुश्रुतियों से विदित होता है कि उसने वैशाली नगर को मटियामेट कर दिया।[४] आजतशत्रु के आतंक से सम्भवत: लिच्छवि नेपाल भाग गये।

'सियूकी' से विदित होता हैं कि लिच्छवि प्रायः गंगा—पार के पड़ोसियों को आतंकित करते रहते थे[५]। जैन-ग्रन्थ 'कल्पसूत्र' से तो ज्ञात होता है कि (संभवत: मगध की विस्तारवादी नीति का सामना करने के लिए) नव लिच्छवियों, नव मल्लों और काशी-कोशल के १८ गण राज्यों ने एक संघ बनाया था[६]। इन लिच्छवियों के राज्य का विस्तार नेपाल तक था।[७] इस प्रकार मगध की विस्तारवादी नीति के समक्ष लिच्छवि और उसके मित्र राज्य बाधक थे। इस संघ को नष्ट कर देना ही अजातशत्रु ने श्रेयस्कर समझा।

१ देखिये, इं० हि० इं०, नोली, नेपालीज इंस्कृप्शंस इन गुप्त केरेक्टर्स
२ 'सि यू की' पृ० ८०।
३ देखिये, पहला और दूसरा अध्याय।
४ देखिये मुनि रत्नप्रभविजय, श्रवण भगवान महावीर, २, २, पृ० ४७१।
५ सि यू की, खण्ड ६, पृ० १६५-६६।
६ देखिये, कल्पसूत्र १२८, सं० जेकोवी, लीपजिक १८७६
७ पो० हि० एं०इं०, पृ० ११६।

इस कार्य में उसे सफलता भी मिली ।[1] अजातशत्रु के पश्चात् शिशुनाग ने वैशाली को अपनी राजधानी बनाया । लिच्छवि आतंकवादियों से अपनी प्रजा की सुरक्षा-हेतु ही उसने वैशाली को राजधानी बनाया । 'नन्दों' के काल तक वैशाली मागधों की दूसरी राजधानी बनी रही ।[2] मौर्यों के काल में इनके राजनीतिक प्रभुत्व का प्रश्न ही नहीं उठता ।[3] इस प्रकार साम्राज्यवादी शासकों के आक्रमणों के भय से वे नेपाल में बस गये हों, तो कोई असम्भव नहीं । वैशाली पर पुनः उनके राजनीतिक प्रभुत्व का उल्लेख हमें नहीं मिलता है । आलोच्य काल में वैशाली पर गुप्तों का अधिकार था ।[4] किन्तु समुद्रगुप्त के दिग्विजय से पूर्व तक लिच्छवियों का मगध और उसके आसपास के क्षेत्रों पर काफी प्रभाव था ।[5] किसी भी उभड़ते हुए राजवंश के लिए उनका अनुग्रह प्राप्त करना आवश्यक था । गुप्त-लिच्छवि-संधि इसका उज्ज्वल प्रमाण है ।[6] 'लिच्छवियों' का अनुग्रह पाकर ही चन्द्रगुप्त 'महाराजाधिराज' हुआ । और दिग्विजयी समुद्रगुप्त 'लिच्छवि दौहित्र' के संबोधन से विख्यात हुआ । यहां यह बतला देना अनुपयुक्त न होगा कि तीसरी शती ईसवी से नृपतंत्री व्यवस्था से गणतंत्री राज्य प्रभावित होने लगे थे। राजा का पद आनुवंशिक होने लगा था । अलोच्य काल में ,तराई के लिच्छवियों' में नृपतंत्री व्यवस्था थी ।[7] 'विजिगीषु' बनने की चाह उनमें भी होने लगी थी । अतएव यह उन्हीं की अनुकम्पा थी कि चन्द्रगुप्त प्रथम महाराजाधिराज हुआ औरसमुन्द्रगुप्त का दिग्विजय सम्भव हो सका । लिच्छवियों ने इस दिग्बि-जययात्रा में सम्भवतः समुद्रगुप्त का साथ दिया । समुद्रगुप्त 'विजिगीषु' था, साम्राज्यवादी । उसकी इस अभिलाषा की आंच लिच्छवियों को भी

---

१ देखिये, माडर्न रिव्यू, १९१९, पृ० ५५-५६ ।
२ देखिये से० बु० ई०, ११, पृ० १६ ।
३ कै० हि० इं०, १' १९२१, पृ० ४६१ ।
४ देखिये दूसरा अध्याय ।
५ ज० यू०पी० हि० सो०, १२,पृ० १०१-१०५ ।
६ देखिये दूसरा अध्याय ।
७ देखिये. दूसरा अध्याय (लेकिन पूर्णरुप से नृपतन्त्री व्यवस्था इसको हम नहीं कहेंगे । इस सम्नबध में हम कह सकते हैं कि लिच्छवियों की राज्य-व्यवस्था इस समय संक्रमण काल से गुजर रही थी ।)

लगी जो स्वयं 'विजिगीषु' बनना चाहते थे[१]। यहां दोनों के स्वार्थ आपस में टकरा गये। संघर्ष की स्थिति आ गई हो तो आश्चर्य नहीं। किन्तु समुद्रगुप्त के समक्ष उनकी एक न चली[२]। वे पराजित हुए। समुद्रगुप्त ने उनका नेपाल तक पीछा भी किया।[3] इस तरह आर्यावर्त के अन्य राज्यों की भांति उसने इनका भी उन्मूलन किया। उसका यह पराक्रम इतना प्रभावशाली था कि उसके भय से उसके जीवन-काल तक नेपाल में कोई शासक अपना सिर नहीं उठा सका। यदि मानदेव का प्रारंभिक काल ४४० ईसवी माने तो उसके पितामह वृषदेव का काल ३८० ईसवी निश्चित होता है, जो चन्द्रगुप्त 'विक्रमादित्य' के प्रारम्भिक वर्ष में पड़ता है। कालान्तर में नेपाल की राजनीतिकगतिविधियों पर नजर रखने के लिए पुण्ड्रवर्धन पर 'गुप्तों' की ओर से नियुक्त प्रशासक भी रहता था। यह स्थिति गु० सं० २२४ तक बनी रही।

विवेच्य काल के इतिहास के निर्माण के लिए हमारे पास साहित्यिक और पुरातात्वि दोनों प्रमाण उपलब्ध हैं। साहित्यिक सामग्री में नेपाल की

---

१ देखिये, इं० हि० क्वा०, २७, पृ० १९७-२०६ (ट्राइवल रिपब्लिक्स इन एंसेंट इंडिया)।

२ इस प्रकार का एक उदाहरण छठी शती ईसवी के इतिहास में मिलता है। मौखरियों और परवर्ती गुप्तों का उदाहरण दिया जा सकता है। इन दोनों वंशो में भी वैवाहिक सम्बन्ध था। और बंगाल-विजय के समय परवर्ती गुप्तों ने मौखरियों की सहायता भी की थी। 'प्रभुसत्ता' के लिए इस काल में राज्यों में होड़ लगी हुई थी। परवर्ती गुप्त भी इस पद के लिए प्रत्याशी थे। किन्तु बंगाल की विजय ने मौखरि नृपति ईशानवर्मा को काफी उत्साहित किया। उसने 'महाराजाधिराज' उपाधि धारण कर ली परवर्ती गुप्तों को यह बुरा लगा। फलस्वरूप दोनों वंशों में संघर्ष छिड़ गया।

३ देखिये, दूसरा अध्याय।

वंशावलियाँ[1] और चीनी वृत्तान्त[2] मुख्य रूप से उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त पुरातात्विक सामग्री में अभिलेख[3] और सिक्के हैं।[4] इन सामग्रियों के आधार पर ही नेपाल के तत्कालीन इतिहास का विवेचन करेंगे।

यदि वंशावलियों के आधारपर नेपाल के राजवंश के इतिहास का विवेचन करें तो इन लिच्छवियों का काल, जिनका काल ज्ञात प्रमाणों से निश्चित हो चुका है, हमारे वर्णित काल से ऊपर पड़ेंगे। उदाहरण के लिए अंशुवर्मा के काल का वर्णन करते समय ऐसा उल्लेख मिलता है कि वह कलि ३००० अर्थात् ई० पू० १०१ में हुआ था।[5] अतएव नेपाल के इतिहास के बारे में लिखने से पूर्व उन शासकों के काल को निश्चित कर लेना आवश्यक है। उनके काल को निर्धारित करने के लिए हमारे पास मुख्य दो स्रोत हैं (१) चीनी वृत्तान्त और (२) अभिलेखीय प्रमाण। अभिलेखों के बारे में विद्वानों का ऐसा मत है कि वे 'गुप्तकालिक लिपि' में अंकित हैं। इस पर विद्वानों में मतवैभिन्य नहीं है।[6]

किन्तु लिच्छवियों के प्रारम्भिक लेखों में अंकित तिथि के संवत् के संबंध में विद्वानों में मतभेद है। इन लेखों की तिथि को किसी संवत् में निर्धारित करने का प्रयास सर्वप्रथम बुलर और इंद्रजी ने साथ-साथ किया। इन्होंने इन लेखों को 'विक्रम संवत्' में अंकित माना है। अपने कथन की पुष्टि के लिए

---

१ कर्क पैट्रिक, एन एकाउंट आफ दि किंगडम आफ नेपाल, लंदन, १८११, डी०, राइट हिस्ट्री आफ नेपाल ट्रांसलेटेड फ्राम परबतिया, कैंब्रिज, १८७७, नेपाल की अन्य वंशावलियों के संदर्भ के लिए देखिये, रेग्मी एंसेंट नेपाल, १९६० ।

२ वाटर्स, युवान-च्वांग, लंदन, १९०४-५, थांग-राजवंश का इतिहास-वांग युवान् त्से का वृत्तान्त ।

३ देखिये, नोली, वही ।

४ ज० रा० ए० सो०, १९०८, पृ० ६६० आगे, ज० न्यू० सो० इं०, २१, भाग १, पृ० ३९-५३ ।

५ भगवानलाल इंद्रजी, इं० एं०, १३ पृ० ४१८ ।

६ बसाक, हिस्ट्री आफ नार्थ ईस्टर्न इंडिया, जायसवाल, क्रोनोलाजी एण्ड हिस्ट्री आफ नेपाल, फ्लीट, इं० एं० १४, लेवी, ली नेपाल, इंद्रजी, इं० ए० १३, मजूमदार, ज० ए० सो० १, १९५९, रेग्मी, एसेंट नेपाल ।

वंशावलि से एक संदर्भ ढूंढ लिया है जहां यह उल्लेख है कि विक्रमादित्य जिसका सिंहासनारोहण ई० पू० ५७ में हुआ था, अपने पूर्वज के राज्यकाल में नेपाल गया था।[१]

अपने कथन की पुष्टि में इंद्रजी ने यह तर्क किया है कि आधुनिक भारतीय लेखक केवल दो ही संवतों का प्रयोग करते हैं ५७ ई० पू० का विक्रम संवत् और ७८ ईसवी का शक अथवा शालिवाहन संवत्।[२] प्रश्न हो सकता है कि जब इंद्रजी ने दोनों संवत का प्रयोग करते हुए भारतीय लेखकों को बतलाया है तब स्वयं ५७ ई० पू० के विक्रम संवत् पर क्यों बल दिया? इस का समाधान करने से पूर्व (इसका समाधान स्वयं इंद्रजी ने किया है) हम यह कह देना चाहेंगे कि इन्द्रजी ने विक्रम संवत् के अतिरिक्त भी नेपाल के कुछ अभिलेखों को एक अन्य संवत् में निश्चित किया है जो लिच्छवियों के अभिलेखों के ठीक बाद से प्रारम्भ होते हैं। उन अभिलेखों की तिथियों को उन्होंने हर्ष संवत् में निर्धारित किया है जो कि ६०६ ईसवी से प्रारम्भ होता है। अपने उपरोक्त प्रश्न का समाधान करते हुए डा० इन्द्रजी ने लिखा है कि यदि नेपाल के प्रारम्भिक लेखों को जो किसी संवत् के ३८६ से ५३५ तक की तिथियों में अंकित हैं ७८ ईसवी से प्रारम्भ होने वाले संवत् में मान लें तो शासकों का काल निर्धारित करते समय (साधारणतया एक शासक का शासन-काल कम से कम बीस वर्ष आंका गया है) अड़चन होगी।[३] इन्द्रजी

---

१ इं० एं० १३, पृ० ४१८।

२ वही।

३ इंद्रजी (इं० ए०, १३, पृ० ४११ आगे) ने लिखा है कि लिच्छवि-कुल का जयदेव द्वितीय जिसका काल (१५६+६०६)=७५६ है और मानदेव जिसका लेख किसी संवत् के ३८६ में है के बीच १६ राजाओं ने नेपाल पर शासन किया। जयदेव द्वितीय के लेख से ऐसा ध्वनित होता है। यदि मानदेव के ३८६को शक-शालिवाहन संवत् में रखा जाय तो मानदेव का काल(३८६+७८=) ४६४ ईसवी हो जाता है। इस प्रकार १६ राजाओं के शासनकाल को विभाजित करने के लिए हमारे पास कुल ७५६—४६४=) २६५ वर्ष बचते हैं। किन्तु १६ राजाओं के शासन-काल को इसमें विभाजित करने पर १५ से कुछ अधिक वर्ष का ही औसत पड़ता है। लेकिन. यदि इन

की इस स्थापना का समर्थन डा० बसाक[1] ने भी किया है। किन्तु ५७ ई० पू० विक्रम सम्वत्, में उन्होंने ३८६ से ४३५ तक की तिथि में अंकित अभिलेखों को ही सम्मिलित किया है।[2] इनके समर्थकों में वैद्य भी हैं।[3]

इन्द्रजी के पश्चात् नेपाल के संवत् पर फ्लीट ने भी शोध किया। फ्लीट[4] ने नेपाल के प्रारम्भिक लेखों में अंकित तिथि को गुप्त संवत् में आंका है। जायसवाल[5] और राधागोविन्द बसाक[6] भी इसके समर्थकों में हैं। गुप्त संवत् को प्रतिपादित करते हुए डा० इन्द्रजी ने जिस क्रम से अभिलेखों को सजाया था फ्लीट ने उस क्रम में परिवर्तन कर दिया। शिवदेव के लेखों की तिथियों को, जिसको डा० इन्द्रजी ने ५०० में अंकित माना है, और आज प्राय: सभी विद्वानों का इस पर मतैक्य है, फ्लीट एवं उनके अनुयायियों ने ३०० (!) में अंकित बतलाया है। उनके ऐसा सोचने का एक विशेष कारण है। उनका तर्क है कि यदि इन लेखो की तिथियों को ५०० में अंकित माना जायेगा तो गुप्त संवत् के अनुसार इनका काल ८०० में रखना पड़ेगा जबकि अभिलेख 'गुप्त लिपि' में लिखे गये हैं जिनका काल इतने दिन

पृष्ठ २१८ का शेषांस

अभिलेखों के संवत् को ७८ ईसवी के शक संवत् में न मानकर ५७ ई० पू० के विक्रम संवत् में माने तो हमारी शिकायत दूर हो जायेगी। अर्थात् १६ राजाओं के शासन काल को विभाजित करने के लिए तब हमारे पास ४३० वर्ष शेष रहेंगे। ४३० वर्षों में १६ शासकों के शासनकाल को विभाजित करने पर प्रत्येक शासक का औसत शासनकाल २२ से कुछ अधिक वर्ष पड़ते हैं। इस प्रकार अपने कथन की पुष्टि और ७८ ईसवी के शक संवत् के विरुद्ध इन्द्रजी यह तर्क पेश करते हैं।

१ बसाक, वही, पृ० २७६ लिपिशास्त्र (पैलियोग्राफी) के आधार पर वह इस निश्चय पर पहुँचे हैं)।

२ वही, पृ० २७४ आगे

३ हिस्ट्री आफ मैडिवल हिन्दू इंडिया, १, पृ० ३६८।

४ का० इं० इं०, ३, परिशिष्ट ४. पृ० १७७ ६१, इं० एं०, १४, पृ० ६४२ ५१।

५ ज० बि० उ० रि० सो०, २२, पृ० १५७-२६४।

६ हिस्ट्री आफ नार्थ ईस्टर्न इंडिया, पृ० २७४।

बाद तक नहीं आंका जा सकता। अतएव यह ५०० में न होकर ३०० (?) में अंकित होगा।[१]

इस वर्ग के विद्वानों का दूसरा तर्क यह है कि शिवदेव अंशुवर्मा का समकालिक था (शिवदेव के लेखों में अंशुवर्मा के नाम का उल्लेख मिलता है)। और अंशुवर्मा का काल (६०६+३०)=६३६ ई० 'हर्ष संवत्' के अनुसार ज्ञात है। किन्तु अंशुवर्मा की तिथि के सम्बन्ध में फ्लीट और बसाक के मत से जायसवाल विभेद करते हैं। यहां वह सिल्वां लेवी के मत का समर्थन करते हैं।[२]

सिल्वां लेवी ने ज्योतिषशास्त्र के आधार पर नेपाल के प्रारम्भिक लेखों की तिथियों को दो संवत् में विभाजित किया है।[३] मानदेव प्रथम से शिवदेव प्रथम (३८६-५३५) तक के लेखों की तिथियों को उन्होंने लिच्छवि संवत् में रखा है और इस संवत् का प्रारम्भ ११० ईसवी से माना है, एवं दूसरे वर्ग के लेखों की तिथियों को, अर्थात अंशुवर्मा के लेखों की तिथियों को, जो किसी संवत् के वर्ष ३० में अंकित है 'तिब्बती संवत्' ५९५ ईसवी से प्रारम्भ हुए संवत् में लिखा हुआ बतलाया है[४]।

अपने मत की स्थापना करते हुए जायसवाल ने लिखा है कि अंशुवर्मा (जैसा कि युवान-च्वांग[५] ६३५-६४५ ई० ने स्वयं लिखा है, उसके आने से पूर्व ही अंशुवर्मा परलोक सिधार चुका था) की मृत्यु ६३९ ईसवी के लगभग हो गयी होगी[६]। अर्थात् किसी संवत् में अंकित वर्ष ४४ तक वह जीवित था। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि वे लोग जो नेपाल में हर्ष संवत् के प्रचलन के पक्ष में हैं युवान-च्वांग के कथन पर विश्वास नहीं करते[७]। और जो यह मानते हैं कि नेपाल में हर्षसंवत् का प्रचलन

---

१ देखिये, बसाक, वही, पृ० २७५।
२ देखिये, क्रोनोलाजी एण्ड हिस्ट्री आफ नेपाल. पृ० ८।
३ ली नेपाल, ३
४ वही।
५ वाटर्स, युवान-च्वांग, भाग २, पृ० ८४।
६ क्रोनोलाजी एण्ड हिस्ट्री आफ नेपाल, पृ० ११।
७ इंन्द्र जी, इं० एं०. १३पृ० ४२२।

था उनके अनुसार हर्ष ने नेपाल विजय की थी। किन्तु जो यह कहते हैं कि नेपाल में 'हर्ष संवत्' का प्रचलन नहीं था वे बाणभट्ट के कथन पर विश्वास करते हैं जिसको सर्व प्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय लेवी को है [1]।

जहां तक शिवदेव के लेखों की तिथियों के संवत् का प्रश्न है (यदि फ्लीट और जायसवाल के मत को मान लिया जाय) वहां तक तो ठीक है, किन्तु जब ये लोग मानदेव और बसंतदेव के लेखों को भी इसी संवत् में अंकित करने लग जाते हैं तब इनके मतों में स्पष्ट विरोधाभास दृष्टिगोचर होता है। एक जगह तो ये लोग यह मानते हैं कि ये गुप्त लिपि में लिखे गये हैं जिसका काल सातवीं शती तक आंका गया है और दूसरी जगह वे शिवदेव के काल को, जिसका लेख भी गुप्तलिपि में लिखा गया है, आठवीं शती में डाल देते हैं। बसाक ने इस विरोधाभास को समझ कर ही मानदेव से वसन्तदेव (सेन) तक के अभिलेखों को 'गुप्त संवत्' में न रखकर 'विक्रम संवत्' में रखा है जिससे लिपिशास्त्र के आधार पर वह सही हो जाय[2]।

---

१ लेवी, ली नेपाल, २, पृ० १४२-४४ (हर्षचरित निर्णसागर संस्करण, पृ० १०१, अत्र परमेश्वरेण तुषारशैलोद्भुवो दुर्गाया गृहीतः करः- बूलर ने इसका अनुवाद इं० एं० ६ पृ० ४०-४१) निम्न किया है—
"Here the supreme lord (Harsh) took tribute from the land in the snowy moutnains, that is difficult of access (i.e. Nepal)"
किन्तु लवी ने तुषार का समीकरण तुखार से कर इनका भिन्न अनुवाद किया है—
(HARSH) recieved taxes from the mountains and inaccessible and where lived the Tukhar (Turks)."

२ बसाक (वही, पृ० २७४ आगे) ने थोड़े परिवर्तन के साथ संबके मत का समर्थन किया है। 'हर्ष संवत' को फ्लीट और इंद्रजी दोनों मानते हैं बसाक ने उसको ज्यों का त्योंले लिया है। विक्रम और गुप्त सम्वत् को लेकर विवाद उठा तो उन्होंने कुछ लेखों की तिथियों को अर्थात मानदेव से वसंतदेव तक के लेखों को 'विक्रम संवत् में रख दिया और बाकी शिवदेव के लेखों की तिथियों को 'गुप्त संवत' में अंकित माना है। 'गुप्त संवत्' का समर्थन करते हुए इन लेखों की तिथियों को जिसको कि विद्वानों ने ५०० से ऊपर की तिथि में अंकित माना है, अंशुवर्मा की चूँकि तिथि ज्ञात हो चुकी, शिवदेव को अंशुवर्मा के समकालिक बतलाने के लिए शिवदेव के लेखों की तिथियों को ३०० में अंकित बतलाया है।

७८ ईसवी से प्रारम्भ होने वाले शक संवत् को भी कुछ विद्वानों ने नेपाल में प्रचलित संवत् बतलाया है। विद्वानों की इस मण्डली में श्री रमेशचन्द्र मजूमदार का नाम अग्रणी है।[१] रेग्मी[२] ने भी इसी मार्ग का अनुसरण किया है।

इन विद्वानों ने पहले वर्ग के अभिलेखों की तिथियों के संवत् को निश्चित करने से पूर्व अंशुवर्मा का काल निश्चित किया है। यह इसलिए कि 'राजपुत्र विक्रमसेन जो कि पहले वर्ग के अभिलेख के किसी संवत् में अंकित ५३५ तिथि में दूतक था दूसरे वर्ग के अंशुवर्मा के किसी संवत् में अंकित वर्ष ३२ और ३४ तिथि में लिखे लेख में भी 'दूतक' ही था (किन्तु इस समय सम्भवतः उसके अधिकारों में थोड़ी वृद्धि हुई। वह 'राजपुत्र' के अतिरिक्त सर्वदण्ड-नायक भी कहलाया[३] अर्थात अंशुवर्मा का वह समसामयिक था। पहले वर्ग का वर्ष ५३५ इस प्रकार दूसरे वर्ग के वर्ष ३२ के समकालीन हुआ। अतएव पहले वर्ग की तिथि को निश्चित करने से पूर्व दूसरे वर्ग की तिथि को निश्चित कर लेना आवश्यक है। दूसरे वर्ग की इसलिए कि उसको निश्चित करने के लिए हमारे पास पर्याप्त सामग्री हैं।

चीनी राजदूत वांग-युवान्-त्से (६४३-६५१ ई०) के वृत्तान्त से विदित होता है कि नेपाल में जब वह आया तो नरेन्द्रदेव नामक राजा राज्य कर रहा था।[४] नरेन्द्रदेव के लेखों में जो प्रारम्भिक तिथि है वह वर्ष ६९ में अंकित है। मजूमदार के मतानुसार वर्ष ६९-६४३ ईसवी के बराबर हुआ।[५] अतएव दूसरे वर्ग का वर्ष ६९ में अंकित लेख का संवत् ५७८ ईसवी के पहले अथवा आसपास रहा होगा। मजूमदार यह भी कहते हैं कि यदि वह संवत् ५७८ के बाद (५-६ वर्ष) माना जायगा तो उस समय विष्णुगुप्त चीनी राजदूत का समकालिक रहा होता, नरेन्द्रदेव नहीं। अतएव वह संवत् निश्चित रूप से ५७८ ईसवी के लगभग प्रारम्भ हुआ होगा। उसको न हम ५९५ ईसवी से प्रारम्भ होने वाला तिब्बती अथवा अंशुवर्मा द्वारा प्रतिपादित

---

१ ज० ए० सो०, १, १९५६, पृ० ४७ ४६, बी० सी० ला वल्यूम, २, पृ० ६२६-४१

२ एसेंट नेपाल, पृ० १०१।

३ देखिये नोली, वही. नं० ३७, ३८।

४ देखिये, थाग राजवंश का इतिहास।

५ ज० ए० सो०, १ पृ० ४७।

संवत् और न ६०६ ई० से प्रारम्भ होने वाला हर्ष सवंत् ही कहेंगे ।[1] और हम यह जानते हैं कि पहले वर्ग का वर्ष ५३५ में अंकित लेख का 'दूतक' राज़पुत्र विक्रमसेन दूसरे वर्ग में, ३२ और वर्ष ३४ में लिखित अंशुवर्मा के लेख में भी दूतक था। अर्थात् ईसवी संवत् में 'राजपुत्र' विक्रमसेन का काल (५७८+३४ = ६१२ हुआ। इस ६१२ ईसवी में से यदि पहले वर्ग के वर्ष ५३५ को घटा दिया जाय तो पहले वर्ग के अभिलेखों में प्रयुक्त होनेवाली तिथियों का संवत् ज्ञात हो जायेगा = ६१२—५३५ = ७७ = ७८ ईसवी। अर्थात् ७७-७८ ईसवी से प्रारम्भ होनेवाला शक संवत् पहले वर्ग के अभिलेखों में प्रयुक्त होनेवाली तिथियों का संवत् हुआ।[2]

एक बात यहां ध्यान देने योग्य है, वह यह कि लेवी और जायसवाल को छोड़कर प्राय: सभी विद्वानों ने (इन्द्रजी, फ्लीट, बसाक, मजूमदार आदि) नेपाल के अभिलेखों में प्रयुक्त तिथियों का सवत् निकालते समय ज्योतिष शास्त्र के सिद्धान्तों को एकदम से भूला दिया है।[3] किन्तु इस पक्ष को भुलाना नहीं चाहिए। सम्भवत: इसीलिए लेवी,[4] जायसवाल[5] और के० जी० शंकर[6] प्रभृत विद्वानों ने इतिहास के विद्यार्थियों का ध्यान इस ओर आकर्षित कया। इस विषय पर आगे लिखने से पूर्व हम उन विद्वानों से अनुरोध किरना चाहेंगे, जो नेपाल में शक संवत् के प्रचलन के पक्ष में है, कि जब ये ज्योतिष शास्त्र के नियमों को मानने से इन्कार करते हैं, तो शक संवत् के प्रारम्भिक तिथि के सम्बन्ध में, जिस पर विवाद है,[7] ७८ ईसवा से ही प्रारम्भ हुआ क्यों मानते हैं? शक संवत् के लिए अन्य प्रतिपादित तिथियों में से किसी अन्य को क्यों नहीं मानते? इस अनुरोध का तात्पर्य केवल

---

१ ज० ए० सो०, १, पृ० ४७-४८।

२ वही, पृ० ४८।

३ मजूमदार, ज० बि० रि० सो० ४५, इ० १०-१२ रेग्मी, एसेंट नेपाल, पृ० ६८।

४ ली नेपाल, ३।

५ ज० बि० उ० रि० सो०, १६३६. पृ० १५७ २६४।

६ इ० हि० क्वा०, ११, पृ० ३०४ आगे।

७ लोहाइजन् दि सीथियन पीरियड आफ इंडियन हिस्ट्री।

इतना ही है कि नेपाल के प्रारम्भिक अभिलेखों में प्रयुक्त तिथियों का संवत् निर्धारित करते समय ज्योतिषशास्त्र की गणना को भुलाया न जाय। नेपाल में शक संवत् का प्रचलन नहीं था इस कथन का मुख्य कारण यह है कि इस संवत् का प्रचलन उड़ीसा, बंगाल और कामरूप में नहीं था जबकी इस क्षेत्र की राजनीतिक गतिविधियों का प्रभाव और उसकी प्रतिक्रिया की छाप नेपाल पर पड़ती थी।

नेपाल के, किसी संवत् के वर्ष ४४६ में अभिलिखित एक लेख में प्रथम आषाढ़ का वर्णन मिलता है।[1] इस प्रकार नेपाल में 'मदमास' की गणना होती थी। यदि २० से ६६ ईसवी के बीच वर्ष के संवत् का निर्धारण करे तो ईसवी में वर्ष ४४९ और ५१५ इ० के बीच पड़ेगा। और इस बीच में प्रथम आषाढ़ मध्यम रवि (मीन मोशन्स) और ब्रह्म-सिद्धांत के अनुसार केवल दो बार, वर्ष ४८३ और ५०२ ईसवी में पड़ता है। अतएव प्रथम वर्ग के नेपाल के अभिलेखों के संवत् को हम ईसवी ३४ और ५३ के बीच ही निर्धारित करेंगे।[2] शंकर ने इन दोनों को नेपाल के संवत् को निर्धारित करने में संभव बतलाया है।

प्रश्न किया जा सकता है कि लेवी ने भी तो ज्योतिषशास्त्र के नियमो को ध्यान में रख कर नेपाल के पहले वर्ग के लेखोंमें प्रयुक्त तिथियों के संवत् का प्रारंभिक वर्ष ११० माना था जिसको उसने 'लिच्छवि-संवत्' की संज्ञा दी है, तो हम क्यों ३४ अथवा ५३ ईसवी को नेपाल के प्रथम वर्ग के अभिलेखों में प्रयुक्त होने वाले संवत् का प्रारंभिक वर्ष माने। यह उपयुक्त और विचारणीय है।

इस का समाधान करते हुए शंकर[3] ने लिखा है कि हम नरेन्द्रदेव का काल जानते हैं। चीनी राजदूत (६४३—६५१ ई०) नरेन्द्रदेव के काल में नेपाल गया था। और यदि लेवी के अनुसार अंशुवर्मा के वर्ष ३४ में अभिलिखित लेख का काल ६२९ ईसवी माने, जबकि अंशुवर्मा वर्ष ४४ में

१ ली नेपाल, ३ पृ० ५१।
२ इ० हि० क्वा०, ११, पृ० ३१०।
३ वही, पृ० ३०८ (चीनी राजदूत का काल शंकर ने ६४६—५१ ई०, माना है, उसी तरह अंशुवर्मा के शासन की अंतिम तिथि उन्होंने ४० माना है)।

मरा अर्थात् वह ६३९ ईसवी तक जीवित था, तो अंशुवर्मा और नरेन्द्रदेव के बीच के शासकों के काल के बंटवारे के लिए केवल (६४३-६३९) ४ वर्ष ही शेष रहते हैं। इन चार वर्षों में जिष्णुगुप्त और विष्णुगुप्त के शासन-काल को रखना है, जिनका शासन-काल उनके लेखों से ज्ञात है[1]। वैसे भी अभिलेखों के प्रमाण से अंशुवर्मा और नरेन्द्रदेव के बीच २५ वर्ष का अंतर स्पष्ट है जिसके लिए किसी तर्क की आवश्यकता नहीं। यह इसलिए कि यदि यह मान लिया जाय कि पहले वर्ग के अभिलेख ५३ ईसवी से प्रारम्भ होने वाले संवत् में लिखे गये थे तो अंशुवर्मा और नरेन्द्रदेव के बीच का अंतर स्पष्ट हो जाता है—३२=(५३५+५३) ५८८ ईसवी। (५८८—३२+४४=) ६००ईसवी। (६००—४४+६९=)६२५ ईसवी। ६०० ई० में अंशुवर्मा की मृत्यु हुई और सं० ६९ में नरेन्द्र का पहला लेख लिखा गया जिसका काल हमारी गणना के अनुसार ईसवी संवत् ६२५ पड़ता है। इस प्रकार अंशुवर्मा और नरेन्द्रदेव के बीच २५ वर्ष का अंतर स्पष्ट हो जाता है।

लेवी के मत के विरूद्ध एक दूसरा कारण भी है। यदि लेवी के 'लिच्छवि संवत्' को मान लिया जाय तो पहले वर्ग के संवत् ५३५ में लिखित लेख की तिथि, जो कि दूसरे वर्ग के वर्ष ३२ में लिखित लेख का समकालिक है, (५३५+११०=) ६४५ ईसवी हुआ। यहाँ एक ध्यान देने योग्य बात है। दूसरे वर्ग के अभिलेख के संवत् का प्रारंभिक वर्ष इस विद्वान लेखक ने ५९५ ईसवी माना[2]। जब हम इस ५९५ ईसवी में वर्ष ३२ जोड़ते हैं, जो कि पहले वर्ग के वर्ष ५३५ के समकालिक है, तो उसका काल (५९५+३२=)६२७ ईसवी निर्धारित होता है। इस प्रकार दोनों संवत् के बीच १८ वर्ष का अंतर पड़ जाता है, जो नहीं होना चाहिए। इस अन्तर को सम्भवतः दूर करने के लिए ही जायसवाल ने लेवी के 'लिच्छवि संवत्' को नहीं माना[3]।

---

१ जिष्णुगुप्त सं० ४८, ४६, ५५, ५६ और विष्णुगुप्त ६४, ६५।

२ लेवी ने इस संवत् की संज्ञा 'तिब्बती' दी है। जायसवाल ने इसको अंशुवर्मा द्वारा प्रवर्तित संवत् कहा है।

३ देखिये, क्रोनोलाजी एण्ड हिस्ट्री आफ नेपाल, पृ० १५।

आलोच्य काल के नेपाल के लेखों की तिथियों को, जो किसी अज्ञात संवत् में हैं, तिथिक्रम में सजाने के लिए हमने श्री शंकर[1] द्वारा प्रतिपादित संवत् का अनुसरण किया है। शंकर द्वारा प्रतिपादित संवत् के प्रारंभिक वर्ष को मानने से कुछ तत्कालीन राजनीतिक समस्याओं का समाधान हो जाता है।

नेपाल में प्राप्त लिच्छवि शासकों का सबसे प्रारंभिक लेख राजा श्री मानदेव का संवत् ३८६ में अंकित है[2]। उस लेख से विदित होता है कि नेपाल में बहुत से विद्रोही उठ खड़े हुए थे। 'मल्ल' भी उनमें से एक थे। ये मल्ल नेपाल के शासकों के लिए सिर दर्द बन गये थे। परिणामस्वरूप ही नेपाल के शासकों को जनता पर 'मलकर' लगाना पड़ा था[3]। राजा मानदेव अपने राज्य में इन विद्रोहियों का दमन कर शांति व्यवस्था (३८९ + ५३ =) ४४० ईसवी में स्थापित कर सका। नेपाल की इन हलचलों को देखकर ही पाटलिपुत्र की राजनीति में थोड़ा परिवर्त्तन हुआ। गुप्त- इतिहास पर यदि हम ध्यान दें तो विदित होता है कि चन्द्रगुप्त 'विक्रमादित्य' के काल तक पुण्ड्रवर्धनभुक्ति पर 'गुप्तों' की ओर से कोई प्रशासक नहीं था। यह प्रदेश गुप्तों के सीधे अधिकार में था। किन्तु नेपाल की इन हलचलों के पश्चात् ही, ४४० ईसवी के बाद, पुण्ड्रवर्द्धन पर 'गुप्तों' द्वारा नियुक्त प्रशासकों की सम्भवतः नेपाल की राजनीतिक गतिविधियों पर ध्यान रखने के लिए भी नियुक्ति होने लगी थी। हम ऐसी सम्भावना कर सकते हैं कि ४४३ ईसवी में नेपाल की इन हलचलों की प्रतिक्रिया स्वरुप कुमारगुप्त प्रथम ने चिरातदत्त को पुण्ड्रवर्द्धन का प्रशासक नियुक्त किया[4]।

इस लेख में आये 'मल्लपुरी' को लेकर विद्वानों में मतभेद है। कुछ विद्वान मल्लपुरी को वर्तमान गोरखपुर के आसपास अवस्थित बतलाते हैं। यह (मल्लपुरी) सम्भवतः 'मल्लों' की राजधानी थी जो लिच्छवियों के सिरदर्द बन गये थे। परिणामस्वरूप ही नेपाल के शासकों ने जनता

---

१ इं० हि० क्वा०, ११ पृ० ३०४ आगे।

२ नोली, नेपालीज इंस्क्रपशन्स इन गुप्त कैरेक्टर्स, पृ० १

३ ज० बि० उ० रि० सो०, २२ पृ० २०४, वही ४६, पृ० १४७।

४ एपि० इं०, १५ पृ० १२६, १३२ (दामोदरपुर ताम्रपत्र लेख सं० १२४ १२८)

पर राष्ट्र की सुरक्षा हेतु, 'मल्लकर' लगाया था। यहां ध्यान देने योग्य एक बात है। क्या मल्लपुरी की अवस्थिति को गोरखपुर के आसपास बता सकते हैं? इस पर जब हम विचार करते हैं तो इसी निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि मल्लपुरी गोरखपुर में नहीं थी और न उसके आसपास ही कहीं। अपितु कहीं दूसरी जगह अवस्थित रही होगी, क्योंकि गोरखपुर-क्षेत्र-'गुप्तों' के सशक्त हाथों में स्कन्दगुप्त[1] के काल तक बनी रही और इस क्षेत्र से किसी प्रकार की विद्रोहाग्नि गुप्त साम्राज्य के विरूद्ध नहीं भड़की जबकि अन्य क्षेत्रों से विद्रोहात्मक चिनगारी निकलने लगी थी[2]। इसके अतिरिक्त जो 'मल्ल' नेपाल के शासकों के लिए सिर सिरदर्द बन गये थे वे यदि गोरखपुर क्षेत्र में रहते तो क्या गुप्तों के लिए सिरदर्द न बनते? और फिर यदि वे इसी क्षेत्र में रहते तो गुप्तों को गोरखपुर के आसपास भी प्रशासकों की नियुक्ति करनी पड़ती। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए यदि मल्लपुरी की अवस्थिति पर विचार करें तो, जैसा कि रेग्मी ने भी कहा है, पैठन अथवा दैलख के पश्चिम कहीं इसकी अवस्थिति माननी पड़ेगी।

मानदेव ने लगभग चालीस वर्ष तक शासन किया (सं० ३८६-४२७ = ४४०-४८० ईसवी)। इसने सिक्के भी चलाये। इसके सिक्कों पर मानांक विरुद अंकित है।[4] इस पर तो विद्वानों में मतैक्य है कि मानदेव ने सिक्के चलाये, किन्तु उनमें सिक्के के काल को लेकर विवाद है। फलस्वरूप किसी ने तीन मानदेव की कल्पना की[5] तो किसी ने सिक्के के किस्म को देखकर उसका काल अंशुवर्मा के पश्चात् बतलाया।[6] यहां चूंकि नेपाल के प्रारम्भिक लेखों की तिथियों का संवत् निर्धारित किया जा चुका है, मानदेव की तिथि के संबंध में कोई संदेह नहीं रह जाता। ऐसी दशा में हम यही

---

१ देखिये, कहांव अभिलेख, सं० १४१।

२ देखिये, तीसरा अध्याय।

३ एंसेंट नेपाल, पृ० १०७।

४ ज० न्यू० सो० इं०. २१, पृ० ४५।

५ देखिये, जायसवाल, ज० वि० उ० रि० सो० २२ पृ० १६१ आगे।

६ मैकडावल ज० न्य० सो० इं० २१ पृ० ३६ ४५।

कहेंगे कि 'मानांक' अंकित सिक्के इसी मानदेव के हैं। इस विषय पर वाल्श[1] और रेग्मी[2] का भी यही निष्कर्ष है।

मानदेव के पूर्व भी तीन शासक हो चुके थे। इन शासकों का अभी तक कोई स्वतंत्र लेख नहीं मिला है। इनके सम्बन्ध में मानदेव का लेख प्रकाश डालता है। वे क्रमश: वृषदेव शंकरदेव और धर्मदेव थे। इन शासकों के शासन काल को यदि बीस-बीस वर्ष भी मान लिया जाय तो वृषदेव के शासन का प्रारंभिक वर्ष ३८० ईसवी निर्धारित हुआ। अर्थात् समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् ही वह नेपाल की गद्दी पर बैठ सका। यहां यदि हम यह कहें कि समुद्रगुप्त से लिच्छवियों का सम्बन्ध बिगड़ जाने से ही ऐसा हुआ होगा तो अनुपयुक्त न होगा[3] समुद्रगुप्त की मृत्यु के पश्चात् ये लिच्छवि नेपाल की गद्दी पर इसलिए बैठ सके की उसकी मृत्यु के पश्चात् ही चन्द्रगुप्त 'विक्रमादित्य' को समुद्रगुप्त द्वारा विजित प्रदेशों में फैली अव्यवस्था और विद्रोहों को शांत करना पड़ा था। इस अशांति के काल में ही वृषदेव नेपाल की गद्दी पर बैठ सका था। किन्तु शक्तिशाली गुप्तों के विरुद्ध वे आवाज बुलन्द नहीं कर सके। अतएव वे अपनी आंतरिक शक्ति को ही मजबूत बनाने में लगे। जब वे सशक्त हो गये तो उनकी शक्ति का प्रदर्शन भी, मानदेव द्वारा, देखने को मिलता है। किन्तु उसकी शक्ति पर नियंत्रण रखने के लिए एवं बंगाल और आसाम की राजनीतिक गतिविधियों पर नजर रखने के लिए पुण्ड्रवर्द्धन पर तुरंत 'गुप्तों' की ओर से प्रशासक नियुक्त किया गया।

मानदेव के पश्चात् अभिलेखीय प्रमाण के आधार पर वसन्तदेव के नाम का पता चलता है। वसन्तदेव का स्वतन्त्र लेख मिला है। इसका प्रारंभिक लेख सं० ४२८ में अंकित है। किन्तु जयदेव द्वितीय[4] और जिष्णुगुप्त[5] के लेखों से विदित होता है कि मानदेव जिसकी अंतिम ज्ञात तिथि सं० ४२७[6]

---

१ देखिये ज० रा० ए० सो० १९०८ पृ० ६६६ आगे।
२ एंसेंट नेपाल पृ० ६१।
३ देखिये पीछे।
४ देखिये इन्द्रजी इं० ए० १८८० पृ० १६३ आगे।
५ नोली वही नं० ५४।
६ नोली वही पृ० १२।

है और वसन्तदेव के बीच कोई महीदेव नामक शासक हुआ था। किन्तु दुर्भाग्य से वह कुछ ही महीनों तक शासन कर सका। बहुत सम्भव है उसकी मृत्यु हो गई हो। फलस्वरूप वसन्तदेव नेपाल के सिंहासन का अधिकारी हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि इसने गुप्तों के नियंत्रण से निकलने का प्रयास किया था। यही कारण है कि इसने अपने थानकोट अभिलेख में, जिसकी तिथि ४२८ है, जो इसके शासन का संभवतः पहला लेख है, अपने पिता (विप्प)[१] को परमदैवत विरुद से अभिहित किया है। परमदैवत विरुद इसके पूर्व केवल (कुमारगुप्त और बुधगुप्त) गुप्त सम्राटों ने ही धारण किया था। इस प्रकार विरुद का प्रयोग सर्वप्रथम सर्वप्रभुता संपन्न शासकों ने ही किया। इसवी सन् में उसने इस विरुद का प्रयोग (४२८ + ५३) = ४८१ में किया।[२] यदि गुप्त सम्राटों के बंगाल से प्राप्त अभिलेखों पर दृष्टिपात करें तो पायेंगे कि वसन्तदेव द्वारा इस विरुद का प्रयोग किये जाने के शीघ्र ही बाद बुद्धगुप्त ने दामोदरपुर से गु० सं० १६३ में अपना ताम्रपत्र निकाला[३] जिसमें उसके लिए परमदैवत विरुद का प्रयोग किया गया। है। गुप्तों को अभी शक्तिशाली देखकर वसन्तदेव कुछ काल के लिए रुक गया। किन्तु (४३६ + ५३) = ४८९ ईसवी में उसने पुनः इस विरुद का प्रयोग किया।[४] बुद्धगुप्त अभी भी जीवित था। इसके दामोदरपुर से प्राप्त एक तिथि-रहित ताम्रपत्र[५] से विदित होता है कि उसके शासन में अवश्य कहीं कुछ कमजोरी आई होगी। फलस्वरूप ही उसने ब्रह्मदत्त के स्थान पर जयदत्त को पुण्ड्रवर्द्धन का प्रशासक बनाया। इस तिथि रहित ताम्रपत्र का काल यदि हम ४८९ ईसवी के पश्चात् रखें तो अनुपयुक्त न होगा। ४९० ईसवी के लगभग यदि बुद्धगुप्त के साम्राज्य पर हम एक विहंगम दृष्टि डालें तो यह पायेंगे कि गुप्त साम्राज्यांतर्गत बहुत से राज्य अपनी स्वतंत्रता की घोषणा करने लगे थे—गुप्तों के नाममात्र की अधीनता स्वीकारते हुए[६]।

---

१ बप्प शब्द की व्याख्या फ्लीट ने की है का० इं० इं० ३ पृ० १८६ नो०।
२ वही नं० १२।
३ एपि० इं० १५ पृ० १३४।
४ नोली वही नं० २३।
५ एपि० इं० २५ पृ० २३८।
६ देखिये तीसरा अध्याय।

वसन्तदेव ने लगभग (४५४ + ५३—) ५०७ ईसवी तक शासन किया। सं० ४५४ तिथि उसके थानकोट से प्राप्त एक लेख पर अंकित है और यह लेख भी उसके शासन का अंतिम ज्ञात लेख है[1] इस की अपनी एक विशेषता है। इसमें 'महाराज महासामन्त श्री क्रमलील' का उल्लेख हुआ है। क्रमलील इस लेख में 'भट्टारक महाराज श्री वसन्तदेव' को इस शासन पत्र के सम्बन्ध में सलाह देते हुए बतलाया गया है। अब यहां देखना यह है कि क्रमलील की राजनीतिक स्थिति क्या थी? जब हम उत्तर भारत के, आलोच्य काल के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं तो विदित होता है कि 'महाराज महासामन्त' विरूद प्रायः बड़े सामन्त अथवा शक्तिशाली सामन्त ही धारण करते थे[2]। अतएव यदि हम कहें कि क्रमलील भी नेपाल में काफी शक्तिशाली सामन्त था तो अनुपयुक्त न होगा। विवेच्य काल के नेपाल के इतिहास पर दृष्टि डालने पर हमें इस प्रकार के सामन्त देखने को मिलते भी हैं। अंशुवर्मा शक्तिशाली सामन्त था। पहले वह, जब उतना शक्तिशाली नहीं था कि 'महासामन्त' उपाधि धारण करता, 'सामन्त' उपाधि ही कारण किये हुए मिलता है[3]।

ईसवी ५०७ वसन्तदेव के शासन का अंतिम वर्ष था और इसी वर्ष इसके लेख में 'महाराज महासामन्त' क्रमलील का उल्लेख हुआ है। ऐसा क्यों हुआ? यह विचारणीय है। नेपाल की राजनीति में छोटे राज्यों और सामन्तों का आतंक प्रारम्भ से ही रहा है। मानदेव के संवत् ३८६ में अभिलिखित छांगुनारायण लेख से इसकी पुष्टि भी होती है[4]। इस प्रकार नेपाल में सामान्त थे और वे शक्ति अर्जित करने में लगे हुए थे। वसन्तदेव भी बूढ़ा हो चला था। शक्तिशाली सामान्तों को अंकुश में रखने में अपने को असमर्थ पा रहा था। इसके अतिरिक्त उत्तर भारत की राजनिति में वह भी कुछ ऐसे परिवर्तन हुए कि अधीन शासक भी अपनी

---

१ नोली, वही नं० १४।
२ देखिये, पृष्ठभूमि।
३ नोली, वही, नं० २३।
४ नोली, वही पृ० १ (नोली ने इस पर तिथि ३८६ ही पढ़ा है, नेपाली लेखक इस पर ३८९ पढ़ते हैं)।

स्वतन्त्रता की घोषणा करने लगे। हूण आक्रामक तोरमाण उत्तर भारत को रौंद रहा था। मगध का शासक नरसिंहगुप्त निष्कासित जीवन-यापन कर रहा था। फलस्वरूप बंगाल में गुप्तवंशी वैण्यगुप्त, जो नरसिंहगुप्त से द्वेष करता था, शासक हुआ[1]। उसको हूणों की संरक्षा प्राप्त थी। किन्तु अधिक दिनों तक वह शासन न कर सका। तोरमाण के पश्चिम की ओर प्रयाण करते ही बंगाल में विद्रोह हुआ। ईसवी ५०७ के लगभग गोपचन्द्र के नेतृत्व में पूर्वी बंगाल स्वतन्त्र हो गया। बंगाल से प्राप्त एक लेख से वैण्यगुप्त का काल जाना जा सकता है, उस लेख पर गु० सं० १८८ अंकित है[2]। बंगाल के इस विद्रोह की प्रतिक्रिया नेपाल पर हुई होगी। फलस्वरूप ही नेपाल में वसन्तदेव को मंत्रणा देने के लिए प्रभावशाली सामन्त क्रमलील को बुलाया गया।

वसन्तदेव के पश्चात् लिच्छवि-सिंहासन का उत्तराधिकारी रामदेव हुआ। इसके अब तक केवल दो ही लेख ज्ञात हैं।[3]

रामदेव के पश्चात् भट्टारक महाराज श्री गणदेव हुआ। उसके शासन का प्रारंभिक लेख सं० (४८२ + ५६ =) ५३५ ईसवी में अंकित है।[4] इस लेख की भी अपनी एक विशेषता है। इसमें सर्व्वदण्डनायक महाप्रतिहार श्री भौमगुप्त के नाम का उल्लेख है। इसका पहले भी (सं० ४६२ + ५३ =) ५१५ ईसवी में उल्लेख हुआ है।[5] किन्तु इससे उसके राजनीतिक स्तर (स्टेटस) का पता नहीं चलता। केवल इतना ही ज्ञात होता है कि वह आभीर था। सं० ४८२ में अंकित थानकोट लेख पर ध्यान देने योग्य बात यह है कि सर्व्वदण्डनायक महाप्रतिहार होते हुए भी वह (भौमगुप्त) दूतक नहीं था जब कि इसके पहले, वसन्तदेव के काल में सर्व्वदण्डनायक महाप्रतिहार रविगुप्त दूतक का भी काम करता था। गणदेव के थानकोट लेख का "दूतक"

---

१ देखिये, सिनहा, डि० किं० म०, पृ० ६८।

२ इं० हि० क्वा०, पृ० ४० गुणैघर ताम्रपत्र लेख।

३ वही, नं० १७-१८।

४ वही, नं० १६।

५ वही, नं० १६।

कोई 'वर्म्मा' है। इस परिवर्तन पर यदि विचार करें तो इसके कारण का पता लगाया जा सकता है।

ईसवी ५३५ के लगभग उत्तर भारत की राजनीति में औलिकरवंशी यशोधर्मा का प्रभुत्व था। उसके लेख से विदित होता है कि उसने उन प्रदेशों को भी जीता था जिन पर न 'गुप्त' और न 'हूण' शासक ही शासन कर सके थे।[1] हिमालय के अंचल में बसा नेपाल भी सम्भवत: यशोधर्मा के प्रभाव में था। यह हम इसलिए कह रहे हैं कि भौमगुप्त जिसकी सं० ४६२ में राजनीतिक स्थिति का पता नहीं चलता है, किन्तु जो महत्वाकांक्षी था यशोधर्मा को आता देख उसकी सहायता की हो तो आश्चर्य नहीं। अतएव यशोधर्मा ने उसको सर्व्वदण्डनायक महाप्रतिहार के पद पर नियुक्त कर दिया। ऐसा हम इसलिए कह रहे हैं कि इसकी राजनीतिक स्थिति का पता हमें नहीं चलता है और सर्व्वदण्डनायक महाप्रतिहार होते हुए भी वह रविगुप्त की भाँति दूतक नहीं था। इसके अतिरिक्त (४८९ + ५३ =) ५४२ ईसवी में जब यशोधर्मा की मृत्यु हो चुकी थी और उत्तर भारत में कोई शक्तिशाली नृपति नहीं रह गया था तब भौमगुप्त ने शासन में अपनी प्रभुता जमाने के ध्येय से 'परमदैवत' उपाधि को भी धारण किया।[2] वास्तविक शासक इसके हाथ की सम्भवत: कठपुतली मात्र ही था। नेपाल की राजनीति में सर्व्व-दण्डनायक महाप्रतिहार भौमगुप्त का प्रभाव (सं० ५१५ + ५३ =) ५६८ ईसवी तक बना रहा। लिच्छवियों के लिए वह राहु था। यह हम इसलिए कह रहे हैं कि नेपाल में सं० ४८९ के पश्चात् लिच्छवियों का सं० ५१५[3] में लेख मिलता है (किन्तु इस लेख पर किसी शासक का नाम नहीं है)। इसके अतिरिक्त 'लिच्छवि कुलकेतु' की संज्ञा सर्वप्रथम शिवदेव के लिए ही प्रयुक्त हुई है।[4] इसके पूर्व किसी लिच्छवि शासक को हम इसका प्रयोग करते हुए नहीं पाते हैं। भौमगुप्त के लिए इतने लम्बे प्रभाव-काल

---

१ का० इं० इं०, ३, पृ० १५० ।

२ नोली, वही, नं० २० (भट्टारक महाराज श्री गणदेव कालं अपरिमितं समाज्ञापयति परमदैवत श्री भौमगुप्त पादानुध्यातो विदितविनय;)।

३ वही, नं० २२, रेग्मी भी, वही, पृ० ११५।

४ वही, नं० २४।

को हम इसलिए निश्चित करते हैं कि इसके पक्ष में जिष्णगुप्त का लेख भी मिलता है[1]। इस लेख से विदित होता है कि भूमगुप्त (भौमगुप्त) जिष्णुगुप्त के पितामह का ज्येष्ठ भाई था, भौमगुप्त के पश्चात् भी कोई शासक हुआ इसका पता नहीं है। भौमगुप्त के पश्चात् इस वंश के सूर्य का यदि उदय हुआ तो वह अंशुवर्मा के पश्चात् जिष्णुगुप्त के काल में (सं०४८)। इस प्रकार नेपाल के इतिहास में हम एक विचित्र बात पाते हैं। सामन्तों में 'राज्यश्री' के लिए झगड़ा नहीं होता था अपितु वे शासन पर अपना प्रभाव जमाने का ही प्रयास करते थे, यद्यपि अंशुवर्मा ने अपने अंतिम दिनों 'महाराजाधिराज' की उपाधि धारण की थी[2]। परिणामस्वरूप ही अंशुवर्मा के पश्चात् कोई ठाकुरीवंशी लिच्छवि शासकों का सहयोगी नहीं बना। उदाहरण के लिए क्रमलील, भौमगुप्त, जिष्णुगुप्त, आदि प्रभावशाली सामन्त थे। और वास्तविक शासन-सूत्र इन्हीं सामन्तों के हाथों में रहता था[3]।

श्री रेग्मी[4] ने अभिलेख के भौमगुप्त और भूमगुप्त की पहचान 'मंजुश्रीमूलकल्प' के भूगुप्त से की है।

नेपाल में लिच्छवियों के शासन की पुर्नस्थापना शिवदेव के काल में हुई। 'अभीरों' (जो कि भौमगुप्त के नेतृत्व में नेपाल की राजनीति में

१ वही, नं० ५४, रेग्मी, वही, पृ० ११७।
२ वही, नं० ५०।
३ रेग्मी, एंसेंट, पृ० ११८
(the Guptas appear to have held the most predominant place in the affairs of the state......for about a period of 75 years they constituted the real power behind the throne. In all records of inscriptions issued by Vasantadeva, Ramadeva and Ganadeva they enjoy the same status as goes to Ansuvarman and Jisnugupta under their respective soveriegns. If Amsuvarman and Jisugupta have been designated as de facto rulers, there is no reason that the same designation should be denied to Ravigupta, Kramlilah and Bhaumgupta who figure in the earlier inscriptions.)
४ वही, पृ० ११७।

काफी सक्रिय हो गये थे) के चंगुल से नेपाल की मुक्ति शिवदेव ने अंशुवर्मा की सहायता से की। शिवदेव ने लिच्छवि वंश की पुर्नस्थापना की इसकी हमने इसलिए चर्चा की कि उसके लेखों में उसको 'लिच्छवि कुलकेतु' कहा गया है[१]। मजूमदार का भी ऐसा विश्वास है कि शिवदेव ने 'आभीरों' को निकाल बाहर कर अपने पैतृक राज्य को फिर से प्राप्त किया[२]। किन्तु ये आभीर जो 'गुप्त' नाम से भी (नेपाल में) अभिहित किये गये हैं, शिवदेव और अंशुवर्मा के ही शासनकाल तक शान्त रहे। अंशुवर्मा की मृत्यु होते ही वे पुनः सक्रिय हो गये।[३]

शिवदेव जिस समय नेपाल के शासन-सूत्र को संभालने के लिए आया उस समय 'आभीरों' और 'मल्लों' का आतंक चरम सीमा पर था। आभीरों का आतंक था, यह हम अभी देख चुके। मल्लों के सम्बन्ध में शिवदेव का लेख प्रकाश डालता है[४] (किन्तु इस लेख पर शिवदेव का नाम नहीं है। यह सं० ५२० में लिखा गया और इसका दूतक वार्त भोगचन्द्र था)। इस लेख में "मल्लकर" का वर्णन है। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि मल्लों से रक्षा करने के लिए ही शासकों ने इस 'कर' को जनता पर लगाया। इस प्रकार नेपाल का वातावरण अशान्तिमय था। अतएव वहां सुव्यवस्था को स्थापित करना आवश्यक था। यह काम अकेले शिवदेव से सम्भवतः नहीं हो सकता था। उसे एक वीर और योग्य सहयोगी की आवश्यकता थी। इन गुणों से युक्त उसे एक सामन्त मिल भी गया। वह अंशुवर्मा था। शिवदेव के लेख उसका गुणगान करने में पीछे नहीं है[५]। अंशुवर्मा का सहयोग पाकर शिवदेव शांति और सुव्यवस्था को स्थापित करने में सफल भी हुआ। अंशुवर्मा शिवदेव का दामाद था। हमने ऐसा अनुमान इसलिए किया कि वंशावलि[६] में सूर्यवंशी नृपति 'विश्वदेववर्मा' को अंशुवर्मा

---

१ देखिये, नोली, वही नं० २४, २५, २७, २८, ३१, ३२, ३३, ३४, (लेख नं० ३१ में केवल 'लिच्छविकुलानंद' कहा गया है।)

२ क्लासिकल एज, पृ० ८४।

३ देखिये जिष्णुगुप्त के लेख, नोली, वही।

४ नोली, वही, नं० ३०।

५ देखिये, वही, नं० २३, २४, २८, ३४आदि।

६ डी० राइट, हिस्ट्री आफ नेपाल, पृ० १३०।

का श्वसुर कहा गया है। विश्वदेव को कुछ विद्वानों ने 'गुप्त' वशंज कहा है[१]। किन्तु 'गुप्तों' को जिष्णुगुप्त के सं० ५९ में अभिलिखत थानकोट लेख में 'सोमवंशी' कहा गया है[२]। लिच्छवि सूर्यवंशी थे और शिवदेव अन्तिम 'लिच्छवि' शासक था, क्योंकि उसकी मृत्यु के पश्चात् ठाकुरी अंशुवर्मा का नेपाल पर शासन हो गया था, तत्पश्चात् नेपाल की राजनीति में 'गुप्त' शासक पुनः सक्रिय हो गये जिनसे पुनरूद्धार नरेन्द्रदेव के ही काल में सम्भव हुआ। अतएव वंशावलि का विश्वदेववर्मा और कोई नहीं शिवदेव ही रहा होगा। शिवदेव इसलिए क्योंकि अंशुवर्मा शिवदेव का समकालीन था जबकि वंशावलि का विश्वदेववर्मा शिवदेव के पश्चात् नरेन्द्रदेव, भीमदेव, विष्णुदेव के बाद आया। अंशुवर्मा और नरेन्द्रदेव का काल विदित है[३]। अतएव विश्वदेव और कोई नहीं शिवदेव ही रहा होगा।

अंशुवर्मा के सम्बन्ध में शिवदेव के लखों[४] में निम्नलिखित उल्लेख मिलता है—

'प्रख्यातामलविपुलयशसास्वपराक्रमोपशमिता मित्रपक्षप्रभावेत, पृथुसमर सम्पातनिर्जयाधिगतशौर्य्यप्रतापोपहत् सकल शत्रुपक्षप्रभावेन सम्यक् प्रजा पालन परिश्रमोपार्जितशुभ्रयशोभिव्याप्तदिमण्डलेन।

इस प्रकार शत्रु और मित्र दोनो पर अंशुवर्मा का समान प्रभाव था। यही नहीं सरकारी विज्ञप्तियों पर भी उसके हस्ताक्षर होते थे ऐसा शिवदेव के लेखों से विदित है।[५] इससे यह भी प्रमाणित होता है कि बिना उसकी जानकारी के कोई कार्य नहीं होता था। यदि हम इस कथन की विवेचना करें तो विदित होगा कि नेपाल में द्वैराज्य शासन प्रणाली थी। इन्द्रजी[६] और जायसवाल[७] ने भी कहा है कि नेपाल में द्वैराज्य शासन-प्रणाली थी। किन

१ जायसवाल, ज० बि० उ० रि० सो०, २२।
२ नोली, वही, नं० ५६।
३ देखिये, नोली, वही, नं० ४८, ६५।
४ वही न० २४, २७।
५ वही न० ६३।
६ इं० ए० ६३ पृ ४२२।
७ हिन्दू राजतन्त्र, पहला खण्ड पृ० १२२।

परिस्थितियों में इस प्रकार की शासन-प्रणाली का जन्म होता था इस पर हमने पिछले अध्याय में गुप्त लिच्छवि सम्बन्ध की विवेचना करते हुए बतलाया है।[1]

ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि अपनी विजयों से उत्साहित होकर अंशुवर्मा ने बड़ी-बड़ी उपाधियाँ धारण करनी शुरू कर दी।[2] ऐसा कर उसने, द्वै राज्य शासन प्रणाली, के होते हुए भी, 'मानगृह' की अवहेलना की (मानगृह से शिवदेव शासन करता था) और सं० ३० में 'कैलाशकूट भवन' की स्थापना कर वहां से शासन भी करने लगा।[3] अंशुवर्मा के इस रूख से दोनों कुलों में संघर्ष की स्थिति आ गई हो तो आश्चर्य नहीं। किन्तु अंशुवर्मा काफी प्रभावशाली था। अतएव शिवदेव का प्रभाव क्षेत्र स्वभावतः सीमित हो गया, और (५३५ + ५३) = ५८८ ईसवी के श्रावण माह में संभवतः उसकी मृत्यु भी हो गई क्योंकि सं० ५३५ के पश्चात् उसका कोई भी लेख नहीं मिलता। उसके सं० ५३५ में अभिलिखित लेख का 'दूतक' राजपुत्र विक्रमसेन था।[4] किन्तु इसके ठीक एक महीने बाद सं० ३२ के भाद्रपद में अंशुवर्मा के लेख में वह सर्वदण्डनायक हो गया। इस प्रकार उसकी पदोन्नति हुई। यहां भी वह दूतक ही था।[5] हमने अंशुवर्मा के लेख के सं० ५३५ को शिवदेव लेख का समकालिक माना है। सं० ३४ को इसलिए नहीं कि यह ज्येष्ठ माह में लिखा गया था और इसका 'दूतक' भी (अब महासर्वदण्डनायक) विक्रमसेन ही था। सं० ३२ में वह केवल सर्वदण्डनायक था, उसके एक माह पहले सं० ५३५ में वह राजपुत्र ही था। इस प्रकार विक्रमसेन के पद में हम क्रमिक उन्नति पाते हैं। अतएव यह निष्कर्ष ही उपयुक्त जान पड़ता है कि सं० ५३५ का समकालिक सं० ३२ ही था। यदि सं० ३४ को सं० ५३५ का समकालिक मानेंगे तो सं० ३४ के लेख को हमें सं० ५३५ के लेख से पूर्व

---

१ देखिये द्वितीय अध्याय।

२ नोली वही न० ३३ ३४ (द्रष्टव्य महाराजाधिराज और सामन्त शिरोमणि)।

३ वही न० ३५।

४ वही, नं० ४०।

५ वही, नं० ३७।

रखना पड़ेगा जबकि सं० ५३५ के लेख को ही पूर्व रहना चाहिए क्योंकि सं० ३४ का लेख ज्येष्ठ माह में लिखा गया था।[1]

अंशुवर्मा ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कब की इस पर श्री रेग्मी का भिन्न मत है। उनके विचारानुसार अंशुवर्मा ने सं० ५३५ तक शिवदेव की, नाममात्र की ही सही, प्रभुता को माना। संवत् ३० से यह नहीं विदित होता है कि वह पूर्ण स्वतन्त्र हो गया था।[2] किन्तु जैसा हमने अभी देखा अंशुवर्मा ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा सं० ३० में ही कर दी थी।

प्रजा-हित[3] को ध्यान में रखते हुए उसने कैलाशकूट भवन से सं० ४५ (?)—६०१ ईसवी तक शासन किया।[4] सं० ३४ के पश्चात् अंशुवर्मा के लेखों का 'दूतक' युवराज उदयदेव हुआ।[5] यह लिच्छवि कुल का था इस पर विद्वानों में मतैक्य है।[6] यहां एक विचारणीय बात है, यह कि लिच्छवि कुल का युवराज अंशुवर्मा के लेखों में 'दूतक' है। इस पर यदि विचार करें तो ऐसी संभावना हम कर सकते हैं कि अंशुवर्मा का लिच्छवि कुल से संघर्ष हुआ था जिसमें लिच्छवियों की सम्भवतः पराजय हुई। फलतः 'युवराज' उदयदेव को अंशुवर्मा के लेखों में दूतक बनना पड़ा।

---

१ नोली, वही, नं० ३६।
२ रेग्मी वही पृ० ६३६ इ० ए० ६, पृ० १६८-६६।
३ नोली, वही, नं० ३५, ३६ (परस्तिनिरतप्रवृत्तितयाकृतयुग कारानुकारी, प्रजाहितार्थोद्यत)।
४ वही, नं० ४८।
५ देखिये रेग्मी, वही।
६ वही, नं० ४८, ४२ ४३, ४४।

परिशिष्ट २

गुप्तकालीन उड़ीसा के राजवंश : विग्रह, शैलोद्भव, मान

इस काल के उत्तर भारत के इतिहास का अध्ययन करने से विदित होता है कि प्रत्येक महत्वाकांक्षी नृपति, जिसने समस्त उत्तर भारत को अपने शासन-सूत्र में लेना चाहा, उड़ीसा को भी अपने शासनांतर्गत करना चाहता था। यशोधर्मा,[1] परवर्ती गुप्त और मौखरियों[2] को हम इस क्षेत्र पर आक्रमण करते हुए पाते हैं। गुप्तों का इस क्षेत्र पर काफी प्रभाव था। समुद्रगुप्त के इलाहाबाद प्रशस्ति लेख से विदित होता है कि इस क्षेत्र के शासक भी उसके प्रभाव के अन्तर्गत थे।[3] इस प्रदेश के शासकों ने अपने लेखों में गुप्त संवत् का प्रयोग किया है। इसके अतिरिक्त प्रसन्नमात्र और महेन्द्रादित्य के सिक्कों पर गुप्त सिक्कों का स्पष्ट प्रभाव है।[4] इन शासकों ने इस क्षेत्र को अपने प्रभाव में इसलिए लाने की चेष्टा की कि यह क्षेत्र उत्तर भारत के किसी भी साम्राज्य के स्थायित्व में रंध्र का काम करता था। नंदकाल से लेकर आलोच्य काल तक का इतिहास इस कथन का ज्वलंत प्रमाण है। इसीलिए गुप्तों ने और उनके पश्चात् यशोधर्मा, जीवितगुप्त प्रथम और मौखरियों ने इस क्षेत्र को अपने प्रभाव में लाने का प्रयास किया।

विवेच्य काल की उपलब्ध सामग्रियों से उड़ीसा के राजनीतिक इतिहास पर उल्लेखनीय प्रकाश नहीं पड़ता है। चौथी अथवा पाँचवीं शती ईसवी में उड़ीसा पर किस राजवंश का शासन था यह ज्ञात नहीं हो सका है। अतएव ऐसा कहा जा सकता है कि यह प्रदेश गुप्त सम्राटों के अधीन था।[5]

---

१ देखिये, चौथा अध्याय।

२ देखिये, पांचवां अध्याय।

३ देखिये समुद्रगुप्त का इलाहाबाद प्रशस्ति लेख।

४ एपि० इं०, २८, पृ० ८३, उ० हि० रि० ज०. १ पृ० १३७

५ देखिये, क्लासिकल एज भी, पृ० ६२।

पाँचवीं शती ईसवी के अंत में अथवा छठी शती ईसवी के प्रारम्भ में ही जब गुप्त साम्राज्य के कई प्रान्त स्वतंत्रता की घोषणा कर रहे थे, सम्भवतः उसी समय, उड़ीसा में भी मानवंशी नृपति श्री 'नन्द' स्वतन्त्र हो गया।[१] उड़ीसा के बालासौर जिले से प्राप्त ताम्र सिक्कों की ढेरी से इसके नाम का पता चलता है। सिक्के की लिपिशास्त्रीय अध्ययन सें श्री नन्द का काल पाँचवीं शती ईसवी निर्धारित हुआ है।[२] इस नृप के सम्बन्ध में और जानकारी किसी अन्य सामग्री से नहीं हो सकी। किन्तु ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि मानवंशी नृपति ने यशोधर्मा द्वारा दिग्विजय करने से पूर्व तक शासन किया। यशोधर्मा के पश्चात् जीवितगुप्त प्रथम और ईशानवर्मा के काल तक मानवंशी नृपति अपने को स्वतन्त्र नहीं कर सके। इनके पराक्रम के सामने सम्भवतः उनको झुक जाना पड़ा। इनके पराक्रम का वर्णन इनके लेखों में मिलता है।[3]

उत्तर भारत की राजनीतिक होड़ में जब परवर्ती गुप्त नृपति महासेन-गुप्त आया तो उसने शासन में शस्त्र के अतिरिक्त कूटनीति का भी प्रयोग किया। दूर के देशों पर जिन पर शासन करने में वह अपने को असमर्थ पाता था वहाँ उसने 'फूट डालो और शासन करो' नीति का अवलम्बन किया। वलभी में वह इस नीति का प्रयोग कर चुका था।[४] उड़ीसा में भी शक्तिशाली 'मान' राजवंश के विरुद्ध भी उसने इसी नीति का प्रयोग किया और वहाँ 'विग्रह' नृपति पृथिवीविग्रह को नियुक्त किया। गु० सं० २५० में अभिलिखित सुमण्डल ताम्रपत्र लेख से पृथिवीविग्रह के नाम का पता चलता है।[५] इसके वंश को निर्धारित करते हुए डा० सरकार ने कहा है कि 'विग्रह' कन्यापक्ष से गुप्तों के सम्बन्धी थे।[६] इसको भट्टारक उपाधि से अभिहित किया गया है।[७] किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए

---

१ उ० हि० रि० ज०, ४, पृ० १० इं० हि० कां०, १९५३ पृ० ४९ आगे।
२ वही।
३ देखिये अपसद और हरहा लेख।
४ देखिये, पांचवाँ अध्याय।
५ एपि० इ०, २८ पृ० ७९ आगे, इ० हि० क्वा०, २६, पृ० ७५ आगे।
६ इ० हि० क्वा०, २६. पृ० ७७-७८।
७ एपि० इं०, २८, पृ० ७९ आगे।

कि पृथिवीविग्रह की राजनीतिक स्थिति निम्न स्तर की थी।[५] पृथिवी विग्रह के अधीन सामन्त नृपति भी थे। सुमण्डल लेख से इसकी पुष्टि भी होती है जहाँ 'महाराज' धर्मराज के नाम का उल्लेख हुआ है।

महाराज धर्मराज के वंश के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। डा० सरकार ने लेख के—तत् पादानुध्यात:——महाराजोभयो (या) न्वयो वप्पादेव्यामुत्पन्नतनु: सहस्र रश्मि पादभक्तो महाराज धर्मराज:——पाठ का अनुवाद करते हुए महाराज धर्मराज को महाराज उभय का वप्पदेवी से उत्पन्न पुत्र बतलाया है।[६] महाराज उभय किस वंश का था इस पर सरकार ने कोई प्रकाश नहीं डाला है। किन्तु श्री सत्यनारायण राजगुरु ने सुमण्डल लेख के महाराज धर्मराज का वंश-निर्धारण शैलोद्भव वंश से की है। इस तथ्य की पुष्टि में इन्होंने दो कारण बतलाया है—(१) सुमण्डल लेख ऐसे स्थान से मिला है जहाँ से कुछ कालोपरान्त शैलोद्भववंशी शासकों के लेख मिलते हैं, (२) गु० सं० ३०० में अभिलिखित माधवराज के गंजाम लेख से विदित होता है कि कोंगोद मण्डल शैलोद्भवों द्वारा शासित होता था। किन्तु, हमारे पास कोई प्रमाण नहीं है जिससे यह ज्ञात हो कि किसी अन्य शासक ने शैलोद्भवों से इस प्रदेश को छीना। इसके अतिरिक्त राजगुरु ने सरकार के पाठ को भी एक जगह गलत बतलाते हुए महाराज उभय की जगह महाराज अभय पढ़ा है।[१] छाड़ा ने भी सरकार के पाठ को गलत बतलाया है।[२] इस प्रकार 'उभय' का 'अभय' हो जाने से महाराज धर्मराज का शैलोद्भव वंश से सम्बन्ध भी स्पष्ट हो जाता है। शैलोद्भववंशी शासकों ने अपने नामों के अंत में 'भीत' अथवा 'अभीत' उपाधि धारण किया था। और 'भीत' अथवा 'अभीत' से 'भय' अथवा 'अभय' का ही बोध होता है। इससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि महाराज धर्मराज शैलोद्भव वंशी था।[३]

---

१ इसके स्तर (स्टेटस) के लिए देखिये 'पृष्ठभूमि'।

२ एपि० इं०, २८, पृ० ७६।

३ उ० हि० रि० ज०, १, पृ० ३१-३२।

४ एपि० इ०, २८, पृ० ८४, नो० ५।

५ उ० हि० रि० ज०, १, पृ० ३१-३२।

प्रश्न हो सकता है कि जब महाराज धर्मराज शैलोद्भववंशी था तो उसके नाम का उल्लेख शैलोद्भव वंशतालिका में क्यों नहीं हुआ ? इस सम्बन्ध में ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि महाराज धर्मराज दो भाई थे और धर्मराज सम्भवत: वैध उत्तराधिकारी नहीं था। किन्तु राज्य को प्राप्त करने का अभिलाषी था। 'भट्टारक महाराज' पृथिवीविग्रह ने उसकी भावनाओं को समझ कर उसको अपनी ओर मिलाकर शैलोद्भववंश में फूट डाली और इस कार्य में सफल हो जाने पर शैलोद्भव राज्य के उत्तर-दायित्व का भार धर्मराज को सौंपा। मौखरि राजवंश के इतिहास पर दृष्टिपात करने से इस प्रकार का एक उदाहरण मिलेगा जब महत्वाकांक्षी नृपति (प्रभाकर वर्धन) ने इस वंश में फूट डालने के लिए एक दूसरे व्यक्ति (ग्रहवर्मा) को मौखरि राज्य का उत्तराधिकारी नियुक्त किया।[1] कालान्तर में शैलोद्भवों ने इसको देशद्रोहात्मक कार्य समझ कर महाराज धर्मराज के नाम को अपनी वंशतालिका से निकाल दिया।

शैलोद्भवों की उत्पत्ति और उनके वंशक्रम पर शैलोद्भवों के लेखों[2] से प्रकाश पड़ता है। बगुडा लेख[3] से ज्ञात होता है कि कलिंग के एक नागरिक ने जिसका नाम पुलिन्दसेन था, स्वयं शासन न कर ब्राह्मणों की पूजा की जिससे देवता प्रसन्न होकर कलिंग पर शासन करने के लिए किसी योग्य शासक को भेजें। देवताओं ने प्रसन्न होकर पत्थरों में से 'शैलोद्भव' को पैदा किया जिसने 'परिकल्पित सद्-वंश:' की स्थापना की। शैलोद्भव ने सम्भवत: दो पुत्रों को जन्म दिया, रणभीत और महाराज धर्मराज को। रणभीत ने तो युद्ध में अपने बहुत से प्रतिद्वन्द्वियों को मारा भी था। किन्तु शैलोद्भव वंशतालिका में हम महाराज धर्मराज के नाम का उल्लेख नहीं पाते हैं। रणभीत के पश्चात् उसका पुत्र सैन्यभीत प्रथम उत्तराधिकारी हुआ, उसके पश्चात् अयशोभीत और तत्पश्चात् सैन्यभीत द्वितीय हुआ जिसको 'माधव वर्मा' और 'श्रीनिवास' नामों से भी अभिहित किया गया

१ देखिये, पाँचवाँ अध्याय।
२ एपि० इं०, ६, पृ० १४३, वही, ३. पृ० ४३, ज० ए० सो० वं०, ७३, पृ० २८३, एपि० इं०, ११, पृ० २८१, वही, १६, पृ० २६५, वही, २१, पृ० ३४, ज० बि० उ० रि० सो० ४, पृ० १६, वही, १६, पृ० १७६।
३ देखिये, एपि० इं०, ३, पृ० ४३।

है।[१] सैन्यभीत द्वितीय के काल का प्रारम्भिक लेख गु० सं० २०० में अंकित है जो आलोच्य काल से ऊपर पड़ता है।

शैलोद्भवों का शासन कोंगोद मण्डल पर था। विद्वानों ने कोंगोद मण्डल की शिनाख्त गजाम से की है।[२] कोंगोद मण्डल की भौगोलिक सीमा यदि खीचें तो उसके पूर्व में बंगाल की खाड़ी और चिल्का झील पड़ेगी, दक्षिण में महेन्द्रगिरि पश्चिम में वे पहाड़ियाँ जो कालाहाण्डो राज्य की पश्चिमी सीमा को खींचती है और कोंगोद मण्डल की उत्तरी सीमा महानदी बताती है।[३] शैलोद्भववंशी शासकों के लेखों से कोंगोद में ६ विषयों का भी पता चलता है। वे कृष्णगिरि, खिदिंगहार वर्त्तनि, गुड्ड, थोरण और कटक भुक्ति थे। विद्वानों ने इन स्थानों की शिनाख्त भी की है।[४]

पृथिवीविग्रह के सम्बन्ध में जानकारी के लिए सुमण्डल लेख के, अतिरिक्त अन्य कोई सामग्री अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी है। पृथिवी - विग्रह ने कब तक शासन किया इसका कोई निश्चित प्रमाण नहीं है, किन्तु इतना कहा जा सकता है कि उसके कुछ ही वर्षोपरान्त मानवंशी पुनः उठ खड़े हुए। किसी संवत् के २६० में अभिलिखित 'सोरो' नामक स्थान से प्राप्त एक लेख से इसकी पुष्टि होती है।[५] प्रभुसत्ता प्राप्त कर लेने पर ही महाराज शंभूयश ने अपने पिता (वप्प) के लिए "परमदैवत" विरुद का प्रयोग किया।[६] सोरो लेख के महाराज शंभूयश का शासन 'उत्तर तोषलि' पर था। इससे ज्ञात होता है कि पृथिवीविग्रह के अधिकार से, जिसका शासन 'कलिंग राष्ट्र'[७] पर था, उसके राज्य का कुछ भाग (उत्तर तोषली)

---

१ मजूमदार भी देखिये, ज० आं० हि० रि० सो०, १०, पृ० ७।
२ वही।
३ देखिये, इं० हि० क्वा, १९३१ पृ० ६६५।
४ देखिये, ज० आं० हि० रि० सो०, १०, पृ० ८, ९।
५ उ० हि० रि० सो०, ४, पृ० ८, ९।
६ नेपाल के लिच्छवि भी देखिये (नेपाल के शासक वसन्तसेन ने भी गुप्तों के नियंत्रण से स्वतन्त्र होने पर अपने पिता के लिए इस विरुद का प्रयोग किया था।)
७ देखिये, सुमण्डल ताम्रपत्र लेख।

'मानवंशियों' ने छीन लिया। पृथिवीविग्रह इस क्षेत्र को अपने अधिकार में पुन: नहीं कर सका।

पृथिवीविग्रह के पश्चात् 'विग्रह' वंश का उत्तराधिकारी लोकविग्रह हुआ। गु० सं० २८० में लिखित कणास ताम्रपत्र लेख [1] से इसकी पुष्टि होती है। किन्तु इस लेख की तिथि को लेकर विद्वानों में मतभेद है। इस लेख में दो जगह तिथि लिखी गयी है। श्री राजगुरु[2] ने एक जगह (गु० सं०) २०० पढ़ा है और दूसरी जगह (मान संवत) २८० और यह कहा है कि मान संवत् २८० गु० सं० २०० के समकक्ष है। अर्थात् मान संवत् का प्रारंभिक वर्ष २४० ईसवी के लगभग था। राजगुरु के इस पाठ से 'परमभट्टारक' श्री लोकविग्रह 'विग्रह' वंशतालिका में प्रथम नृपति हो जायेगा। किन्तु लोकविग्रह को पृथिवीविग्रह के पूर्व नहीं रखा जा सकता। ऐसा कहने का हमारे पास ये कारण है—

१. लोकविग्रह की उपाधि और
२. लोकविग्रह के राज्य की भौगोलिक सीमा

भारतीय इतिहास में शासकों द्वारा प्रयुक्त 'उपाधियों' पर यदि दृष्टि डाली जाय तो ज्ञात होगा कि उपाधियों का क्रमिक विकास हुआ है और शासकों ने ऊँची से ऊँची उपाधियाँ धारण की। आलोच्य काल के उड़ीसा के इतिहास में भी हम इस तथ्य को परिलक्षित करते हैं। पृथिवीविग्रह को केवल 'भट्टारक' उपाधि को ही धारण किए हुए पाते हैं, जबकि लोकविग्रह को परमदेवताधिदैवत परमभट्टारक। लोकविग्रह के शासन करने से पूर्व शासकों को हम 'परमदैवत' उपाधि का ही प्रयोग करते हुए परिलक्षित करते हैं।[3] इसके अतिरिक्त मानवंशी नृपति शंभूयश के लेखों से भी इस विकास क्रम का पता चलता है। सोरो नामक स्थान से प्राप्त लेख में, जिस पर २६० तिथि अंकित है, शंभूयश को केवल 'महाराज' उपाधि से अभिहित किया गया है। लेकिन उसके मान संवत २८३ में अंकित

१ उ० हि० रि० ज०, ४, पृ० ६ आगे, एपि० इं०, २८, पृ० ८२।
२ वही।
३ देखिये, पृष्टभूमि।

पटियकेला लेख में उसके लिए, त्रिग्रहवंशी लोकविग्रह की उपाधि की ही भांति, 'परमदेवताविदैवत परमभट्टारक' उपाधि का प्रयोग हुआ है।[१]

शंभूयश ने 'कलिंग राष्ट्र' के कुछ भाग (उत्तर तोषली) पर अधिकार कर लिया था जिसको पृथिवीविग्रह पुनः अपने अधीन नहीं कर सका।[२] किन्तु लोकविग्रह के अधिकार में हम इस (उत्तर तोषली) प्रदेश को पाते हैं। कणास ताम्रपत्र लेख में उसको 'तोषल्यां अष्टादश अटवी राज्यायां' का शासक कहा गया है। श्री राजगुरु ने कालिदास के साक्ष्य पर तोषल्यां अष्टादश अटवी राज्यायां' की पहचान 'कलिंग राष्ट्र' से की है।[3] इससे अनुमान किया जा सकता है कि उसने मानवंशी नृपति शंभूयश को अपने अधीन किया। ईसवी ६०० के लगभग महासेनगुप्त की शक्ति शिथिल पड़ जाने के कारण एवं उत्तर भारत के राज्यों में लड़ाई होने के कारण उड़ीसा के राज्यों को स्वतन्त्र होने का अवसर मिला। लोकविग्रह ने इस अवसर से लाभ भी उठाया और परमदेवताधिदैवत् परमभट्टारक जैसे सम्राटोचित उपाधि को धारण किया। किन्तु मानवंशी नृपति ने अपनी खोई हुई स्थिति को शीघ्र ही प्राप्त कर ली। इस बार उसका (शंभूयश का) उत्तर तोषली के अतिरिक्त दक्षिण तोषली पर भी अधिकार हो गया। इस प्रकार उसका अधिकार उड़ीसा के बालासोर जिले से लेकर पुरी जिले तक हो गया। 'विग्रहों' को पराजित करने के पश्चात् ही उसने (शंभूयश) 'परमदेवताधिदैवत परमभट्टारक' जैसे सम्राटोचित उपाधि को धारण किया।

इसके अतिरिक्त डा० सरकार ने कणास ताम्रपत्र लेख के मुखभाग पंक्ति संख्या २ और पृष्टभाग पंक्ति संख्या १५ में अंकित तिथि को एक ही तिथि (२८०) पढ़कर श्री राजगुरु के मत का खण्डन कर दिया। डा० सरकार ने लेख के २८० को गुप्त संवत में अंकित बतलाया है।[४]

---

१ एपि० इं०, २३, पृ० १९७ आगे।

२ देखिये, पीछे।

३ उ० हि० रि० ज०, १, पृ० ३४।

४ एपि० इं०, २८, पृ० ८४।

इस प्रकार 'विग्रह कुल' के पतन का कारण 'मानवंशी' हुए।[1] मानवंशियों का आलोच्य काल में अब तक केवल दो ही अभिलेख मिले हैं।[2] इनके पाटियकेला लेख के महाराज शिवराज के अधिपति के नाम पर विद्वानों में मतैक्य नहीं है। मतैक्य न होने का मूल कारण है गलत पाठ करना। राखालदास बनर्जी ने 'शम्गुय्यने' पढ़ा,[3] कोनो ने 'शम्भुयय्येनु'।[4] किन्तु इन दोनों पाठों को गलत बतलाते हुए श्री मजूमदार ने उसका पाठ 'शम्भुयशस्य' किया और इस नाम को सोरो लेख के शम्भुयश से समीकृत किया।[5] शंभुयश 'मुद्गल' अथवा 'मौदगल्य' गोत्र का था।[6] इसके शासन के १७ वष पश्चात् कोंगोद मण्डल पर मौदगल्य गोत्र के ही महाराजाधिराज शशांक का शासन हुआ। शशांक का शंभूयश के कुल से क्या सम्बन्ध था यह ज्ञात नहीं हो सका है।

पटियकेला लेख में 'मान' संवत् का उल्लेख हुआ है। लोकविग्रह के कणास लेख के पश्चात् पटियकेला लेख को रखने से मान संवत् का प्रारंभिक वर्ष मालूम हो जाता है। वलभी संवत् के प्रारम्भिक वर्ष की भांति मान संवत् का भी प्रारम्भिक वर्ष ईसवी ३१९ हीं रहा होगा। ईसवी ३१९ को मान संवत् का प्रारम्भिक वर्ष मानने से ही उड़ीसा का विवेच्य इतिहास स्वाभाविक बन सकेगा।

---

१ वही, पृ० ३३०।
२ देखिये. उ० हि० रि० ज०, ४, पृ० ८, ६ और एपि० इं०, २३, पृ० १६७ आगे।
३ एपि० इं०, ६, पृ० २८७।
४ वही।
५ वही, २३, पृ० २००।
६ ज० रा० ए० सो० बं०, ले० ११ पृ० ४ आगे।

परिशिष्ट ३

वलभी के मैत्रक शासकों के सिक्के

जिस प्रकार गुप्त सम्राटों के सिक्के विभिन्न रूपों और प्रचुर मात्रा में मिलते हैं, उस प्रकार तद्युगीन छोटे-छोटे राजवंशों के सिक्के नहीं मिलते। इसका प्रधान कारण है गुप्त सम्राटों का केंद्रीय सत्तात्मक शासन। किन्तु गुप्त शासन की शिथिलता के साथ ही अधीनस्थ राज्यों ने धीरे-धीरे अपने-अपने सिक्के ढालने प्रारम्भ कर दिये। वलभी के मैत्रकों ने भी अपने कुछ सिक्के चलाए। मुद्रा-प्रचलन के इस प्रसार में उनके सिक्के यद्यपि प्रचुर मात्रा और विभिन्न रूपों में नहीं मिलते, अनुल्लेखनीय नहीं।

वलभी के सिक्कों पर उत्कीर्ण विरूद को विद्वानों ने विभिन्न रूपों में पढ़ा है[1]। डा० वीरजी ने अपने पाठ के आधार पर सिक्कों पर उत्कीर्ण 'भट्टारक' की पहचान मैत्रकवंशी सेनापति 'भट्टार्क' से की है[2]। किन्तु यह पहचान तर्कसंगत नहीं है[3]। प्रो० मिराशी का पाठ ही ठीक जान पड़ता[4] है जिसे प्रो० अल्तेकर ने शुद्ध किया है[5]। इन विद्वानों ने सिक्के के 'भट्टारक' को विरुद बतलाया है[6]। अल्तेकर द्वारा शुद्ध किया हुआ मिराशी का पाठ निम्म है—

'राज्ञो महाक्षत्रप (प) रमादित्य भक्त सम्मर्दसर श्री शर्व्व भट्टारकस'

वलभी के इस 'प्रकार' के सिक्के सभी प्रकार से पश्चिमी क्षत्रपों के ढंग पर बने हैं। इस पाठ के आधार पर इस 'प्रकार' के सिक्कों को

---

१ कनिंघम, आर्क० सर्वे० इं० रि० ६, आचार्य, न्यू० स०, नं० ४७, सिलवर जुबली नं०, पृ० ६६, मिराशी, ज० न्यू० सो० इं० ६, पृ० १४—१८।

२ एंसेंट हिस्ट्री आफ सौराष्ट्र, पृ० २२८—२६।

३ वही पृ० १७ (प्रो० मिराशी ने इस विषय पर कई कारण बतलाए हैं किन्तु उन आधारों पर 'भट्टार्क' की समता बैठती ही नहीं।)

४ ज० न्यू० सो० इं०. ६, पृ० १६—१७।

५ वही, पृ० १६ नो० ४।

६ वही।

सर्वप्रथम चलाने वाला शर्व्व भट्टारक निश्चित हुआ। सिक्कों के 'प्रकार' को देखकर उसकी तिथि का अनुमान भी किया जा सकता है। विद्वानों ने इसकी तिथि को चौथी शती ईसवी में आंका है[1]। चौथी शती ईसवी में इसकी तिथि रखने से पश्चिमी भारत के उस तेरह वर्ष के इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है जो अंधकारमय कहा गया है[2]। प्रो० मिराशी ने, पाठ में 'महासामन्त' पढ़ने के कारण शर्व्व भट्टारक को गुप्तों अथवा त्रैकूटकों के अधीन सामन्त बतालाया है। किन्तु डा० अल्तेकर ने मिराशी के पाठ को शुद्ध कर जहां उन्होंने 'महासामन्त' पढ़ा है 'सम्मर्दसर' पाठ कर 'शर्व्व' को एक स्वतन्त्र नृपति बतलाया है।[3]

शर्व्व भट्टारक को गुप्तों के अधान सामन्त होने के विरुद्ध डा० अल्तेकर ने कहा है कि गुप्तों के अधीन किसी भी सामन्त नृपति को सिक्के ढालने का अधिकार नहीं था। अतः यह बड़े आश्चर्य की बात होगी यदि गुप्त सम्राटों ने अपने अधीन सामन्त नृपति शर्व्व को सिक्के ढालने का अधिकार दिया[4]। शर्व्व भट्टारक को त्रैकूटकों के अधीन सामन्त नृपति होने के विरुद्ध भी डा० अल्तेकर का मत है[5]। अतः यही निश्चित हुआ कि शर्व्व भट्टारक[6] एक स्वतन्त्र नृपति था जिसने ३५१ इसवी में रूद्रसेन तृतीय से लड़कर अपनी सत्ता की स्थापना की[6]।

कहा जा सकता है कि वलभी के शासकों ने शर्व भट्टारक के ही सिक्कों का अनुकरण क्यों किया? मैत्रक गुप्तों के समकालीन थे और इस काल में कई प्रकार के सिक्कों का प्रचलन था—इनमें किसी एक को क्यों नहीं चुना 'शर्व्व' द्वारा चलाये सिक्कों को ही क्यों चलाया? इसका समाधान प्रो० अल्तेकर ने किया है। इनके मतानुसार वलभी

---

१ वही, पृ० १६—२३।
२ वही।
३ वही, पृ० २१।
४ वही, पृ० २०।
५ वही।
६ वही, पृ० २१

के शासकों ने 'शर्व्व' द्वारा चलाये सिक्कों का प्रचलन सम्भवतः इसलिए किया कि वे 'शर्व्व' के वंशज थे।[1]

---

१ ज० न्यू० सो० इं० ६, पृ० २२।
(It is therefore not improbable that Bhattaraka 'Sarva was a distant ancestor of Senapati Bhattarka and he therefore naturally decided to popularise a type, once introduced by one of his illustrious ancestors.)

Inscriptions of the 4th Century A. D.

Sl. No.	Year	Kings name	Inscriptions	Find spot	References
1.	S. 228	Kshatrap Rudra Simha II	Inscription of Kshatrap Rudra Simha II		I. A. XLI p. 173 ff
2.	S. 241	Saka Sridhara Varman	Kankhera Inscription	Bhopal State, M. P.	Ep. Ind. XVI p. 232 ff ; J.P.A.S.B. XIX p. 327 ff
3.	R.y. 27	Saka Sridhar Varman	Eran Inscription (Pahlejpur Inscription)	Saugar, M.P.	C.I.I. IV p. 605 ; Ind. Ep. An. Rep. 1951-52 p. 21 No. 126 Appd. B
4.	S. 272	Rudrasena III	Gonadal Fregmentary Inscription		Ep. Ind. XXXV pp. 191-92 ; Ind. Ep. An. Rep. 1959-60 p. 68 No. 225 App. B
5.	S. 282	Rudra Simha	Junagadha Stone Inscription	Saurastra	Ind. Ep. An. Rep. 1954-55 p.72 No. 512 Appd. B
6.	G. 64	Maharaj Trikamala	Bodha Gaya Inscription	Gaya Distt. Bihar	A.S.I. An. Rep. 1922-23 p. 169.

Sl. No.	Year	Kings name	Inscriptions	Find spot	References
7.	G. 67	Maharaj Swamidas	Indore grant	M. P.	Ep. Ind. XV p. 289
8.	Undated	Maharaj Chandra Varman	Susunia Inscription	Bankura Distt. Bengal	Ep. Ind. XII p. 317 ; Ep. Ind. XIII p. 133 ; A.S.I. An. Rep. 1927-28 pp. 188.89.
9.	,,	Mattila (Probably of the Allahabad pillar Inscription)	Bulandshahar terracotta seal	U. P.	— I. A. XVIII p. 289 .
10.	,,	Maharaj Maheswarnaga	Lahore Copper Seal Inscription	Lahore distt. (Pakistan)	C.I.I. III p. 283
11.	,,	Maharaj SankerSimha	Bhita clay seal	Allahabad U. P.	A.S.I. An. Rep. 1911-12 p. 53.
12.	,,	Maharaj Mahasenapati Yaudheya	Bijayagadha Inscription	Bharatpur state	I.A. XIV p. 8; C.I.I. III p. 252
13.	V. 428	Visnuvardhan of varika Tribe	Bijayagadha piller Inscription	Bharatapur state	A.S.I. Rep. VI p. 59 . ; C.I.I. III p. 253 ; R. Cr. Bhandarkar comm. vol. p. 187.

Sl. No.	Year	Kings name	Inscriptions	Find spot	References
14.	Undated	Maharajadhiraj Samudragupta	Allahabad piller Inscription	U. P.	Ind. Ep. An. Rep. 1954-55 p. 72 No. 512 Append. B. JBORS XVIII p. 207-11 ; JAHRS. XIII p. 141-44 ; S. I. Bk. III No. 2 p. 254 ; ABORI XXXIX p. 34-46

Inscriptions of the 5th century A. D.

Sl. No.	Year	Kings name	Inscriptions	Find Spot	References
1.	V. 461	Narvarman (Aulikar)	Mandasor fregmentary Inscription	Gwaliar state	I.A. XLIIP. 161 ;.199 ; 217 ; Ep. Ind. XII p. 320.
2.	V. 474	Narvarman (Aulikar)	Bihar Kotra stone Inscription	M. P.	Ep. Ind. XXVI p. 130-32
3.	V. 480	Viswavarman (Aulikar)	Gangadhar Inscription	Jhalwar State (Rajasthan)	C.I.I. IIIp. 74; I. A. XL 11p, 161; S. I. No. 52; JB-RS. XLIp. 309-10
4.	V. 493 & 529	Bandhuvarman (Aulikar)	Mandasore Inscription	Gwaliar State	JBBR AS. XVIp. 382; CI.I. III p. 1; JBBRAS. XVIIIp. 94; I.C. IVp. 361-63; V p. 331-32
5.	V. 524	Prabhakar	Mandasore Fort wall Inscription	Gwaliar State	Ep. Ind. XXVIIp. 12.

Sl. No.	Year	Kings names	Inscriptions	Find spot	References
6.	Undated	King Chadra (Gupta king)	Meharauli Iron piller Inscription	Delhi	JBBRAS. Xp. 63; C.I.I III p. 141; JAHRS. Xp. 86-88 S. I. No, 14; I. H. Q. XXI pp. 202-12; XXVIp. 184
7.	G. 82	Maharaj Sankanika	Udaigiri cave Inscription of the time of Chandra gupta II	Gowaliar State	C.I.I. IIIp. 25; S. I. No. 10 Indian Ep. An. Rep. 1961-62 No. 1718 Appd. C
8.	Undated	Maharaj Viswamitra Swami	Besanagar Seal Inscriptions	do	A. S. I. An Rep. 1914-15 p 81
9.	do	Iswarrat	Katachhala fregmentary Inscription	Chhota Udaipur (Kathiawar)	Ep Ind. XXXIII p. 303
10.	G, 139	Maharaj Bhimavarman	Kosam Image Inscription	Allahabad (U. P.)	C. I.I. III. p. 267
11.	G. 156	Maharaj Hastin	Khoh plate	Nagaudh State	JASB XXXp, 6; A. S. I. Rep, IXp. II; C. I. I. III p. 95

Sl. No.	Year	Kings name	Inscriptions	Find Spot	References
12.	G. 158	Maharaj Lakshmana	Pali plate	Allahabad distt	Ep. Ind. II p. 364
13.	G. 163	Maharaj Hastin	Khoh plate	Nagaudha State	C. I.I. III p. 102
14.	G. 165	Maharaj Surasmichandra	Eran Inscription	Saugar.	C. I,I. IIIp. 89
15.	G. 170	Maharaj Hastin	Jabbalpur Inscription	Jabbalpur dis tt	Ep. Ind. XXII p, 264-67
16.	G. 174	Maharaj Jayanth	Karitalai plate	do	C. I.I. IIIp. 118
17.	G. 177	Maharaj Jayanath	Khoh plate	Jabbalpur Distt.	I.A. XVIIp. 215; I.A. XIXp. 227; I.A. LV p. 103
18.	V. 547	Maharaj Gouri	Chhoti Sadari Inscription	Udaipur (Rajasthan)	Ep. Ind. XXXp. 120-27; XXXIIIp. 205-9
19.	V. 547	do	Bhramarmata temple Inscription	do	JBRS XLIp. 310-11; ना-प्र०प० XIII pp. 7-11
20.	undated	Adityavardhana	Mandasore stone slab Inscription	Gowaliar state	Ep. Ind. XXXp. 127
21.	do	Maharaj Udayan	Kalanjar Rock Inscription	Banda, (U. P.)	Ep, Ind. IV p. 257

Sl. No.	Year	Kings Name	Inscriptions	Find Spot	References
22.	R.y. 2	Bharatabal	Bamhani plates of Panduvamsiking	Shahdol Distt (M. P.)	Ep. Ind. XXVIIp.132
23.	Undated	Nripamitra	Mathura Inscription	Mathura (U. P.)	Ep. Ind. XXXIVpp. 11-13
24.	do	Yasogupta	New Mandasore piller Inscription	Gwaliar S'ate	I.H. Q XXXIII pp. 62-64

Inscriptions of the 6th century A. D.

Sl.	No. year	Kings name	Inscriptions	Find spot	References
1.	G. 183	Maharaja Dronasimha	Bhamodra Mohota Inscription.	Bhavanagar State	JBBRAS. XXp, I Ep.Ind XVIp. 18.
2.	G. 191	Bhanu gupta	Eran Sati piller Inscription	Sangar distt.	C. 1.1. IIIp. 92; S.I. No. 38
3.	G. 191	Maharaja Hastin	Majhagawan plates	Nagaudha State	C 1.1. III P, 107
4.	G. 198	do	Navagrama Copper plate	M.P.	Ep. Ind. XXIp. 124-26
5.	G. 199	Maharaja Samkshobha	Betul plates	do	Ep. Ind. VIIIp. 284
6.	G. 206	Mahasamant Maharaja Dhruvasena 1	Palitana plates	Kathiawar	Ep. Ind. XIp. 106
7.	do	do	Cambay plates	Bombay presidency	Ep. Ind. XVIIp. 110
8.	G. 207	Maharaja Dhruvasena 1	Palitana plates	Kathiawar	Ep. Ind. XVIIp. 107
9.	do	M. M. do	Ganesgadha plates	Baroda State	Ep. Ind. IIIp. 320

Sl.	No. Year	Kings Name	Inscriptions	Find spot	References
10.	do	Maharaja do	Bhavanagar plates	Kathiawar	I.A. Vp. 205
11.	G. 209	Maharaja Samkshobha	Khoh plates	Nagaudha State	C. 1.1. IIIp. 114
12.	G. 210	Mahasamanta Maharaja Dhruvasena 1	Bhavanagar plates	Kathiawar	Ep. Ind. XV256
13.	do	do	Palitana plates	do	Ep. Ind. XIp. 110
14.	do	do	Lyaveja	do	Ep: Ind XIXp. 126
15.	do	Ṣamanta Maharaja Dhruvasena 1	Bombay prince of wales Museum plate	do	JBBRAS. (N.S.) Ip. 66
16	do	M. M Dhruvasena I	Palitana plates	Kathiawar	Ep. Ind. XIp. 113
17.	G. 216	M.M. M.M. Dhruvasena I	Wala plates	do	I. A. IVp. 105
18.	G, 217	do	British Museum plates	do	JRAS 1895p. 382
19.	G. 221	Maharaja Dhrūvasena I	Vardia Jogiya plates	Kathiawar	Vienna Oriental journal VIIp. 297
20.	G 224	Jivitagupta	Damodarpur plates	Dinajapur (Bengal)	Ep. Ind. XVp. 142; Ibid XVIIp. 193

Sl. No.	Year	Kings name	Inscriptions	Find spot	References
21.	G 226	Dhurvasena I	Wala Museum plates	Kathiawar	JBBRAS. (N.S.) I p. 18
22.	G 230	Varahadas	Wala C. P. grants of the time of Dhurvasena I	do	JUB. III p. 79
23.	G 232	Nandana	Amauna plates	Gaya Distt	Ep. Ind. X p. 50
24.	G 234	Bhutivarma	Badganga Rock Inscription	Assam	JARS. VIII p. 138-39; Ep. Ind. XXVIIp. 18-23; Ep. Ind. XXXp. 62-67
25.	240 (?)	Guhasena			I. A. VIIp. 67
26.	G 246	do	Wala plate	Kathiawar	I. A. IVp. 174 Ep. Ind XIIIp. 339
27.	do	do	do	do	do
28.	G 247	do	Wala fregmentary Inscription	do	I. A. XIV p. 75
29.	G 248	do	Bhavanagar plate	do	I. A. V p. 207

Sl. No.	Year	Kings name	Inscriptions	Find spot	References
30.	G. 250	Prithvivigraha	Sumandala C. P. Inscription	Orissa	I. H. Q. XXVIp. 75 O. H. R. J. I p. 66
				Baroda State	I. A. XV p. 187
31.	G 252	Dharasena II	Jhar plates	Kathiawar	A. B. I. IV p. 38
32.	do	do	Bhadva plates	do	Ep. Ind. XI p. 81
33.	do	do	Palitana plates	Junagadh State	C. I. I. III p. 165
34.	do	do	Maliya plates	do	I. A. VII p. 68
35.	do	do	Soratha plates		I. A. VIII p· 301
36.	do	do	Bombay Asiatic society plates		
37.	do	do	Katapur plates		Bhavanagar Inscription p, 35
38.	G 255	Simhaditya	Palitana plater	Kathiawar	Ep. Ind. XI p, 17
39.	G 257	Dharasena II	Bantia plates	do	An. Rep. Watson Museum, Rajkot 1925-26 p.13

Sl. No. years	Kings Name	Inscriptions	Find spot	References
40. G 269	Dharasena II	Wala plates	Kathiawar	I. A. VI p. II
41. G 270	do	Prince of Wales Museum plates	Bombay	JBBRAS (N. S.) I p. 67
42. do	do	Alina plates		I. A. VII p. 71
43. V. 589	Yasodharman Visnuvardhan	Mandasora Inscription	Gwaliar state	I. A. XVp. 222; XVIIp. 220; XXp. 180 C.I.I. IIIp. 152
44. Undated	Yasodharman	do	do	I. A. XVp. 256; C. I.I. IIIp. 146 .; JBBRAS. XXII p. 96; I.A. XVIIIp. 219 and XXp. 188
45. do	Yasovarmadeva	Nalanda stone Inscription	Bihar	Ep. Ind XXp. 37-46; I.H.Q. VIIIp. 371-73; 228-30, 615-17; Mod. Rev. 1931p. 306-7
46. R. y. 3	Dharmaditya	Faridapur Inscription	Bengal	I. A. XXXIXp. 195 ; JPASB VIIp. 289 Xp. 425 JRAS 1912p. 710 ; Ep. Ind XV p. 128

Sl. No.	year	Kings Name	Inscriptions	Find spot	Referenees
47.	Undated	do	do	do	I.A. XXXIXp. 195
48.	do	Hastin	Bhumara Inscription	M. P.	C.I.I. III p.III I.H.Q. XXIp. 137-38; Ep. Ind. XXXIIIp. 167-72
49.	R. Y. I	Toramana	Eran stone Boar Inscription	Saugar Distt.	C. I.I. IIIp. 159 S. I. No. 55
50.	Undated	do	Kura Inscription	Punjab	Ep. Ind. I p. 239; S. I. No. 56
51.	R. Y. 13	Gopachandra	Mallasarula Inscription	Bengal	Ep. Ind. XXIIIp. 155-61
52,	R. Y. 15	Mibirakula	Gwalian for Inscription	Gwalian state	C. I.I. IIIp. 162 S. I. No. 57
53.	R. Y. 18	Gopachandra	Faridapur C. P. I.	Bengal Distt.	I.A. XXXIXp. 204
54.	R. Y. 14	Samacharadeva	Ghugrahati plate	Faridapur Distt.	JRAS. 1912p. 710 Ep. Ind XVp. 128 Ep. Ind. XVIIIp. 76

Sl. No.	Year	Kings Name	Inscriptions	Find Spots	References
55.	R. Y. 7	do	Kurpala C. P. I.		Unpublished.
56.	Undated	do	Nalanda Seal Inscription	Bihar	MASI No. 66 p. 31
57.	do	Jayanagadeva	Mallia plate	Bengal	Ep. Ind. XVIIIp. 63; -86-7
58.	Undated	Isvarvarman	Jaunpur Inscription	U. P.	C. I. I. III p. 229
59.	do	Harivarman	Nalanda T. C. plaque Inscription	Bihar	ASI (NIS) LI No. 17
60.	V. 611	Isanvarman	Harha Inscription	Barabanki (U. P.)	I.A. XLVIp. 125; Ep. Ind. XIVp, 110·20; I.C. XIp. 123-24
61	Undated	do	Naland T.C. fag. seal Inscription	Bihar	ASI (NIS) LI No. 13
62.	do	Avantivarman	Sohnag T. C. seal Inscription		Ep. Ind. XXVIIp. 62·65
63.	do	do	Nalanda seal	Bihar	Ep. Ind. XXIVp. 283·85; S.I. Bihar p. 18

Sl. No.	Year	Kings Name	Inscriptins	Find spot	References
64.	do	do	Barabar Hill Cave Inscription	do	ASI (NIS) LIp. 37-38; S.I. Bihar p. 16
65.	do	do	Nagarjuni Hill Cave Inscription	do	C. I.I. IIIp. 224; I.A. XX 189, 227; S.I. Biharp. 1[illegible]-18
66.	do	Sasankadeva	Rohatasgadha stone scal	Arrah Distt Bihar	C. I I. IIIp. 284 H
67.	R. Y. 6	Sarvavarman	Nirmand plate of Mahasamanta Maharaja Sumudrasena	Kangara Distt (Punjab)	C. I.I. IIIp. 2[illegible]8.; JPASB XLVIIIp. 212
68.	K. 292	Samagamsimha	Sunaokala plates	Broach Distt.	JBBRAS. XXp 213 Ep. Ind. Xp. 74
69.	K. 347	Samkergana	Abhona plates	Nasik Distt.	Ep. Ind. IXp. 297
70.	Undated	Harigupta	Copper coins of Hari gupta	Ahichhatra	Ep. Ind. XXXIII pp. 9[illegible]-98
71.	Mana. 260	Shambhuyash	Soro plate	Balasore Distt.	Ep. Ind. XXIIIp. 197
72,	G. 280	Lokavigraha	Kanas plates	do	Ep. Ind. XXVIIIp. 82 O.H.R.J. IVp. 6
73.	Mana. 283	Shambhuyash	Patiakella	do	Ep. IXp. 287 O H.R J. IVp. 8

सहायक ग्रंथ सूची

Altekar, A.S. : Catalogue of the Gupta Cold Coins in the Bayana Hoard Bombay, 1954.

Allan, J. : Catalogue of the Coins of Ancient India (in the British Museum), London, 1936.

,, : Catalogue of the Coins of the Gupta Dynasties and of Sasanka King of Gauda (in the British Museum), London. 1914.

Aravamuthan, T.C, : The Kaveri, Maukhris and the Sangam Age. Madras, 1925.

Brown, C.J. : Catalogue of the Coins of the Guptas, Maukharis etc. in the Provincial Museum, Lucknow, Allahabad, 1920.

Basak, R.G. : History of North Eastern India, Calcutta, 1934.

Banerjee, R.D. : The Age of the Imperial Guptas, Banaras, 1933.

,, : History of Orisa, Vol. I, Calcutta, 1930.

Bhandarkar, R.G. : Collected works; 4 Vols., Poona, 1929.

Bhattacharya, P. : Kamarupasasnavali (Bengali) Rangpur, 1931.

Barua, K.L. : The Early History of Kamarupa, Shillong, 1933.

,, B.K. : A Cultural History of Assam, Nawagong, 1951.

Basham, A.L. : The wonder that was India, London, 1953.

Buhler and Indraji : Twenty three Inscriptions from Nepal, Bombay, 1885.

Bell, Charles : The Religons of Tibet, Oxford, 1931.

Beal, S. : Life of Hiuen Tsang, London, 1911.

,, : Si-Yu-Ki, Buddhist Records of the western world. 2 Vols., London, 1906.

Chattopadhyaya, S. : The Sakas in India, Shantiniketan, 1955.

,, : Early History of North India, Calcutta, 1958.

Cunningham, A. : Ancient Geography of India, London, 1871.
,, Later Indo-Scythians, Varanasi, 1962.
Chaudhari, R.K. : Select Inscriptions of Bihar, Patna, 1958.
,, P.C. : Early History of Assam.
Dandekar, R.N. : History of the Guptas, Poona, 1941.
Drekmcier, Charles : Kingship and Community in Early India, Oxford University Press, 1962.
Fleet, J.F. : Corpus Inscriptionum Indicarum Vol. III, Varnasi. 1963.
Gopalachari, K. : Early History of Andhra country, Madras, 1941.
Gokhale, B.G. : Samudragupta Life and Times, Bombay, 1962.
Gnoli, R. : Nepalese Inscriptions in Guptas Characters, Rome, 1956.
Ghosal, U N. : A History of Indian Political Ideas, Oxford University Press, 1959.
,, : Studies in Indian History and Culture, Calcutta, 1957.
Griffith : The British Impact on India, London, 1952.
Gibbon : Decline and Fall of the Roman Empire.
Giles, H.A. : The Travels of Fa'hsien or Record of Buddhistic Kingdoms, Cambridge, 1923.
Hiralal : Descriptive list of Inscriptions in the C.P. and Berar, Nagapur, 1916.
Jayaswal, K.P. : Imperial History of India, Lahore, 1934.
Krishna Rao, B.V. : History of the Early Dynasties of Andhradesh, Madras, 1942.
Krishnamachariar, M. : History of Classical Sanskrit Literature, Madras, 1937.
Kosambi, D.D. : An Introduction to the Study of Indian History, Bombay.
Mazumdar & Altekar : The Vakataka Gupta Age, Varanasi, 1960.

Mazujmdar, R.C. : The History of Bengal, Vol. I, Dacca, 1943.
,, : Ancient India Varanasi, 1952.
,, : Ramacharit of Sandhyakar Nandi, Rajashahi. 1939.
,, B.C. : Orissa in the Making, Calcutta, 1925.
,, M.R. : Historical and Cultural Chronology of Gujarat, Baroda, 1960.
Mukerjee, R.K. : The Gupta Empire, Bombay, 1948.
,, : Harsha, Varnasi, 1959.
Mirashi, V.V. : Gorpus Inscriptionum Indicarum Vol. IV Cotacamund 1955.
,, : Studies in Indology, 2 Vols., Nagapur, 1960-61.
Mahatab, H. : The History of Orissa, Cuttack, 1959.
Misra, Y. : Early History of Vaisali. Patna, 1962.
Muni, R.P. Vijaya : Shraman Bhagawan Mahavir, Vol. II, Ahmadabad, 1952.
Maity, S.K. : Economic Life of Northern India in the Gupta Period, Calcutta.
Mac Govern : The Early Empire of Central Asia, Chapel Hill, 1951.
Narain, A.K. : The Indo-Greeks, Oxford, 1957.
Pargitar, F.E. : The Puranic Text of the Dynasties of the Kali Age, Oxford, 1913.
Prasad, Beni : The State in Ancient India, Allahabad, 1928.
Pires, E A. : The Maukharis, Madras, 1934.
Regmi D.R. : Ancient Nepal, Caluctta, 1960.
Rapson, E.J. : Indian Coins, Stressburga, 1897,
Ray, H.C. : Dynastic History of Northern India 2 Vols., Calcutta, 1931, 1936.
,, S.C. : Early History and Culture of Kashmir, Calcutta. 1957.
Raychaudhari, H.C. : Political History of Andent India, Calcutta, 1938, 1953.

Smith, V.A. : Catalogue of the Coins in Indian Museum Vol. I, Oxford, 1906.

„ : Early History of India Oxford, 1914.

Sircar, D.C. : The Select Inscriptions bearing on Indian Hist. and Civilization, Vol. I, Calcutta, 1942.

„ Studies in the Geography of Ancient and Medieval India, Varanasi, 1960.

Sharma. G.R. : Excavations at Kaushambi, Allahabad, 1960.

Suryaramsi, B. : The Abhiras, Baroda, 1962.

Sharma, R.S. : Aspects 'of Political Ideas and Istitutions in Ancient India, Patna, 1959.

Salatore, B. A. : Ancient Indian Political Thoughts and Institutions, Bombay, 1963.

, R. N. : Life in the Gupta Age Bombay, 1943.

Sinha, B. P. : Decline of the Kingdom of Magadha, Patna, 1954.

Sen, B. C. : Some Historical Aspects of the Inscriptions of Bengal, Calcutta, 1942.

Stein, M. A. : Kalhana's Rajatarangini, Varanasi, 1961.

Samaddor, J. N. : The Clories of Magadha, Patna, 1924.

Sankalia, H. D. : The Archaeology of Gujrat, Bombay, 1941.

Tarn : The Greeks in Bactria and India, Cambridge, 1938.

Tripathi, R. S. : History of Ranauj, Banaras, 1937.

Upadhyaya, B. S. : India in Kalidas, Alahabad, 1947.

Vaidya, C. V. : History of Mediaeval Hindu India, 3 Vols., Poona, 1921-26.

Virjee, K. J. : Ancient History of Saurastra, Bombay, 1955.

Watters, T. : On Yuan-Chwang's Travels in India, 2 Vols., London, 1904-5.

Wright, D. : History of Nepal, Cambridge, 1897.

Whithead, R. B. : Catalogue of the Coins in the punjab Museum, Lahore, Vol. I, Oxford, 1914.

Yazdani, G. : The Early History of the Deccan, Oxford University press, 1960.

Sacred Book of the East IX.

Cambridge History of India, I.

The Classical Age.

Manusmriti with the Bhashya of Bhatta Medhatithi, Bombay, 1920.

History of Nepal in the Light of New Inscriptions—T. R. Pandey, Ph. D. Thesis, B. H. U., 1955.

The Nagas in Northern India—U. N. Mukerjee, Ph. D. Thesis, B. H. U., 1955.

A Political and Social Study of Albiruni's India—J. S. Mishra, Ph. D. Thesis, B, H. U., 1963

Brihat-Samhita; H. Kern, Calcutta, 1865.

Harshacharit. Ed. Parab,

Harshacharit, Translated Cowel—Thomas, Varanasi 1961,

अग्रवाल, वा० श० : हर्षचरित एक सांस्कृतिक अध्ययन, पटना. १९५३ ।

अल्तेकर, अ० स० : प्राचीन भारतीय शासन-पद्धति, इलाहाबाद, १९५६ ।

,, : गुप्तकालीन मुद्राएँ , पटना १९५४ ।

उपाध्याय, वा० : गुप्त साम्राज्य का इतिहास, इलाहाबाद. १९५७ ।

,, : प्राचीन भारतीय अभिलेखों का अध्ययन, पटना, १९६१ ।

,, भ०श०: प्राचीन भारत का इतिहास, पटना, १९४६ ।

त्रिपाठी, र०श०: प्राचीन भारत का इतिहास, बनारस, १९५१ ।

जायसवाल, का० प्र० : हिन्दू राजतन्त्र (१), काशी, १९५१ ।

,, : अंधकारयुगीन भारत, काशी, १९३५ ।

बनर्जी रा० दा० : प्राचीन मुद्रा, काशी, १९२४ ।

रायबहादुर हीरालाल : मध्यप्रदेश का इतिहास काशी ।

व्योहार राजेन्द्रसिंह : त्रिपुरी का इतिहास, जबलपुर, १९३९ ।

विद्यालंकार, जयचन्द्र : भारतीय इतिहास की मीमांसा, प्रयाग, १९५६

,, : इतिहास प्रवेश, प्रयाग, १९५७ ।

शर्मा, द्वारकाप्रसाद : संस्कृत-शब्दार्थ-कौस्तुभ, इलाहाबाद, १९५७ ।

सांस्कृत्यायन, राहुल : तिब्बत में बोद्ध धर्म, किताब महल, १९४८ ।

Ahmad, N. : On the Copper Coins of Ramagupta, JNSI, XXV, P. 1 ff.

Acharya, P. : Ancient Routes in Orissa, OHRJ, IV, P. 43 ff.

Altekar, A.S. : Was Jivadaman a Mahakshatrap more than once ?, JNSI, I, P. 18 ff.

,, : New Naga Coins and the Identity of Bhavanaga, JNSI, V, P. 21 ff.

,, : Furthern Discussion about Ramagupta, JBORS, XV, pp. 116-28.

,, : Interregnum in the Reign of Mahakshtrap Swami Rudrasena III, JNSI, VI, pp. 19-23.

,, : Coins and the Identity of Prakasaditya, PAIOC, XIV, p. 242 ff.

Appa Rao, V. : The Meghas of Kosala, JAHRS, IV, pp. 47-48.

Buddha Prakash : The Abhiras Their Antiquity History and Culture, JBRS., XL. pp. 249-65.

,, : The Political Geography of India on the Eve of Gupta Ascendency, IC, XIII, pp. 85-91.

Bajpai, K.D : Ramagupta, A Gupta king, JNSI, XXIII, p 340 ff.

,, : A New Copper Coins of Ramagupta, JNSI, XVIII, p. 108 ff.

,, A Fresh Light on the Problem of Ramagupta, IHQ, XXXVIII, p. 80 ff.

Banerjee, H.C. : Ancient and Medieaval Coins of Orissa, JNSI, IX, p. 105 ff.

,, J.N. : The Reading and Interpretation of Some Yaudheya Coin legends, JNSI, XIII, pp.1160-63.

Banerjee, P.T. : Five Siller Coins of Ranhastin, JNSI, XIII, p. XIX XX. 193-96.

,, S.K. : Sasanka-king of Bengal, IHQ., XXVII, p. 312ff.

Barua, B.M. : The Common Ancestory of the Pre-Ahom Rulers and some other Problems of the Early History of Assam, IHQ., XXIII, p. 290 ff.

Bhattasali, N.K. : New Light on the History of Assam, IHQ., XXI, p. 19 ff.

Bhattacharya, B. : New Light in the History of the Imperial Gupta Dynasty, JBORS, XXX, pp. 1-45.

Buhler, G. : Bhagawanlal Indraji's some considerations on the History of Nepal, IA, XIII, pp. 411-28.

Ball, V. : Later Gupttas of Magadha, JBORS, XIV, pp. 254-65.

,, Chronology of Later Guptas, ABORI, I, pp. 67-80.

Bhandarkar, D.R. : Nripati Parivrajaka, JC, pp. 227 ff.

,, : Meharauli Pillar Inscription of Chandra, JAHRS, X, pp. 86-88.

Biswas, A. B. : A Note on the Ajanta Inscription of the Vakatakas, I.C. VII, pp. 372-75.

Chattopandhyaya, K.C : Date of Kaumudimahotsava, IHQ, XIV, p. 582 ff.

,, : Ramagupta, IC, IV, pp. 216-22.

Chakravarti, B. : Chronology Kamarupa Kings, IC, VI, p. 341 ff.

Curtis, J.W. Bhanugupta Prakasaditya : Aspects on his reign inlight of New Suvrna variety, JNSI, XX, pp. 73-76.

Chaudhari, S.B. : The Malavas, IHQ., XXIV. p. 171 ff.

,, : The Aryavarta, IHQ, XXV, p. 110 ff.

,, R.K. : Some Historical Aspects of Feudalism in Anc. India. JIH, XXXVIII, pp. 385-406.

,, : A Criticle Study of the Coinage of the Hunas, JNSI, XXV, p. 172 ff.

,, : The Huna Invasion of India, JBRS. XXXXV, p. 112 ff.

,, : Govindagupta of Vaisali Seal and Mandasore Inscription, PIHC, 1960, p. 50 ff.

,, : Ajatasatru and the Licchavis of Vaisali, JOI, XIII, pp. 141-48.

Divekar, H.R. : Pusyamitras in the Gupta Period, ABOI, 1919-20, p. 99 ff.

Dasgupta, N.N. : Ramgupta, IC, V, pp. 297-303.

,, K.K. : Last days of the Maukharis, IHQ, XXXVIII, pp. 242-46.

Dayal, P. : A New Hoard of Yaudheya Coins from Deharadun Distt., JNSI 11, p. 109 ff.

Diskalkar, D.B. : Bamnala (Holkar State) find bf twenty one gold coins of the Gupta Dynasty, JNSI, V, p. 135 ff.

De, S.C. : A Peep into the dark period of the history of Orissa. OHRJ, 111, p. 1000 ff.

Fleet, J.F. : Mandasore duplicate Pillar inscription of Yaso-dharman, IA, XV, p. 257 ff.

,, : Mandasore Pillar inscriptions of Yasodharman, IA, XV, p. 253 ff.

,, : Mandasore inscription of Yasodharman and Visnu-vardhan, M. E, 589, IA, XV, p. 222 ff.

,, : The Coins and history of Toramana IA, XVIII, p. 225 ff.

Fleet, J.F. : Chronology of the Early Rulers of Nepal, IA, XIV, p. 342 ff.

Gupta, P.L. : The legitimacy of Skandagupta's succession, JIH, XL, p. 243 ff.

,, : The Coins of Ramagupta, JNSI, XII, pp. 103-111.

,, : Plaee of Ghatotakachagupta in Gupta Chronogy, JNSI, XIV, p. 99 ff.

,, : Samvatsar in Parivrajaka Inscriptions, IHQ, XXXVII, p. 197 ff.

,, : Ghatotakachgupta, IHQ, XXII, pp. 316-29.

,, : Attribution of the colns of Ranhastin, JNSI, XX, p. 189 ff.

,, : The Coins of Jisnu, JNSI, XV, pp. 89-93.

,, : The attribution of the coins of Prakasaditya, JNSI, XII, p. 34 ff.

Ganguli, D.C. : The original home of the Imperial Guptas, IHQ, XXVIII, p. 386 ff.

, : Sasanka, IHQ, XII, p. 456 ff

,, : Early Home of the Imperial Guptas, IHQ, XIV p. 532.

Garde, : Wala plates of Garulaka Maharaja Varahadas year 230, JUB, III, p. 77 ff.

Gopal, L. : Samanta-Its varying significances in Ancient India, JRAS, 1963, p. 25 ff.

,, : The Sukraniti-A ninteenth century texst. BSOAS, 1962 pp. 524-56

Heras, H. : The Final defeat of Mihirakula, IHQ. III, p. 1-12.

,, : Kachagupta and Ramagupta, JBORS, XXXIV, p. 19 ff.

,, : Relations between Guptas-Kadambas and Vakatakhs, JBORS, XII, pp. 455-64.

Hoernle, A.F.R. : Some Problems of Ancient India History, JRAS, 1903, pp. 445-70.

,, : Notes on Some Ancient Nepalese coins, PASB, 1888 pp. 114-16.

Jagannath : The Political situation in Magadha in the 3rd century A.D., JUPHS, XII, pp. 101-106.

,, : The Pusyamitras of Bhitari Pillar Inscriptions, IHQ, XXII, p. 112 ff.

,, ; Early History of the Maitrakas of Valabni, IC, V, P. 407 ff.

Jai Prakash : A note on the Aphsad Inscrition of Aditya-sena, 'Bharati', 1960-61, 85 ff.

,, : On Ramagupta of Coins, JNSI, XXV, pp. 155-71.

Jayaswal, K.P. : Chronology and History of Nepal, JBORS, XXII, pp. 157-264.

,, P.K. : The Original home of the Kshaharatas of Maharastra and Mathura and Their life, Madhya Bharati, No. 1, pp. 60-68.

Kala, S.C. : Some Interesting coins of the Yaudheyas, JNSI, VIII, p. 36 ff.

Konow, S. : Note on Toramana, IHQ., XII, p. 530. ff.

,, : Devichandragupta and its author, JBORS, XXXIII, p. 444 ff.

Kar, R.C. : King Chandra of the Meharauli iron pillar Inscription, IHQ., XXVI, p. 184-92.

Law, B.C. : The Kosalas in Ancient India, IHQ, I, p. 192 ff.

Mookerjee, D. : The Harsha Inscription of Maukhari Maharajadhiraja Isanvarman, IC, V, p. 104 ff.

,, R.K. : Later Guptas of Magadha, JBORS, XV, p. 251 ff.

,, : Some Aspects of Gupta Coinage, JNSI, V, 51 ff.

Mitra, K:P. : Toramana in Kuvalayamala, IHQ, XXXIII p. 353 ff.

,, D. : The Abhiras and ther contribution to the Indian Culture, PIHC, 1951, p, 91·ff.

Mittla, A.C. ; Mandasaur, JOI, XIII, pp. 260-80.

Modi, JJ. : Early History of the Hunas, JBBRAS, XXIV, p. 594 ff.

Mazumdar, R.C. : Original Home of the Imperial Guptas, JBRS, XXXVIII, p. 410 ff.

,, : The Eras in Nepal, JAS, I, pp. 47-49.

,, : Bihar Stone Pillar Inscription of Skandagupta, IC, X, p. 170 ff.

,, : The Successors of Skandgupta, JUPHS, XVIII, pp. 70-73.

,, : The Sailodbhava Dynasty, JAHRS, X, pp. 1-15.

,, : The value of Astronomical Data in Ancient Indian Inscriptions, JBRS. XLV pp. 10-12

Mirashi, V.V. : Further light on Ramagupta, IA, LXII, pp. 201-205.

,, : The legend of Valabhi Coins, JNSI, VI, pp. 14-8.

,, : Eran Pillar inscription of Sridharvarman, PIHC 1951, p. 23 ff.

Mac Dowell, D.W. : The Coinage of Ancient Nepal, JNSI, XXI, pp. 3953.

Newton. : On the Shah, Gupta and other ancient dynasties of Kathiawar and Gujarat, JBBRAS, VII, p. 1 ff.

Narain, A.K. : Coins of Toramana and Mihirakula, JNSI, XXIII, p. 41 ff.,

,, : The Coins of Ramagupta, JNSI, XII, pp. 103-111.

Nath, R.M. : Chronology of Kamarupa kings, IC, VI, pp. 458-60.

Ojha, K.C. : An Analysis of the Ramagupta tradition, JBRS, XXXVII, p. 39 ff.

Prasad, D. : Nava Naga in Early Indian coins, JBORS, XXII, p. 77 ff.

Pandey, H. : Dates of Skandagupta and his successors, JBORS, IV, pp. 340-50.

,, M.S. : A fresh study of the early Gupta chronology and lichavi-Gupta relationship, JBRS. XLVI pp. 117-20

Pathak, K.B. : The Date of Mihirakula, IA, XLVII, p. 19 ff.

,, V.S. : Notes on the Gupta Coinage, JNSI, XIX, pp. 135-44.

Petech, L. : The Chronology of the early Inscriptions of Nepal —East and West XII No. 4 Dec. 1961.

Ray, S.C. : The identity of Toramana of Kashmir Coins, JNSI, XIII, pp. 152-57.

,, H.C. : The line of Krisnagupta, IC, VIII, pp. 133-36.

,, N.R. : Maitrakas of Valabhi, IHQ. IV, pp. 453-74.

Reisharma, G. : Chandra of the Maharauli Pillar Inscription, IHQ, XXI. pp. 202-12.

Reddy, M.P.R. : Thoughta on Indian Feudalism, JIH, XXXVIIII, pp. 175-83.

Raichaudhari, H.C. A Note on the Later Gupta, JBORS, XV, p. 651 ff.

Rajguru, S. : The Mana Samvat of Orissa, PIHC, 1953, p. 49 ff.

Rath, A. K. : Did the Guptas Rule over Orissa ? IHQ, XXXVIII, pp. 213-21.

Rajan, K.V.S. : Comments on the balance of power in Central India, IHQ, XXXVIII, p. 183 ff.

Shastri, H. · Nalanda and its epigraphical materials, MASI, No. 66.

,, A. Sources of Indian History from 319 after Christ, the beginning of Muhammadan conquest of India, JBORS, XXVII, pp. 131-86.

,, A : Malavas 4th Century B. C. to 4th Century A.C. JBORS, XXIII, p. 287 ff.

Sharma, D. : The legitimacy of Skandagupta's Succession and connected problem, JIH, XXXVII, p. 145 ff.

,, The non-posthumous character of the Meharauli iron of pillar inscription, IC, v, p. 206 ff.

,, The Origin and Original Home of the Imperial Guptas, JBRS, XXXIX, p. 265 ff.

,, : Identification of Ranhastin with Vatsaraja Pratihar, JNSI, XV , . 222 ff.

,, : Nripati parivrajaka and Raval, IC, XII, p. 13 ff.

,, : The Puranas on the Imperial Guptas, IHQ, XXX, p. 364 ff.

,, R.S. : Gaps in non-political History of Northern India, JBRS, XLV pp. 261-64.

Sircar, D.C. : Legends of the Malavas and Vaimaki coins, JNSI, XXIV, p. 1 ff.

,, : Rudradeva and Nagadatta of the Allahabad pillar Inscription, PIHC, 1954, p. 78 ff.

,, : The Maukharis and the Later Guptas, JRASB Lt, XI, pp. 69-74.

,, : Gauda-Kamarupa struggle in the 6th and 7th centuries, IHQ, XXVI, pp. 241-46.

,, : Ancient Orissa, OHRJ, IV, p. 51 ff.

,, : Aswamedhas celebrated by the kings of Kamarupa, IHQ, XXI, p. 143 ff.

,, : Gupta Rule in Orissa, IHQ XXVI, p. 75 ff.

,, : Maukhari Inscription from Jaunpur, JIH, XLII, pp. 127-30.

Sircar, D. C. : Paramadaivata—Indian Studies, V, 1963, pp. 89-92.

,, : Unhistoricity of the Kaumudimahotsava, JAHRS, XI, pp. 59-67.

Sankar, K. G. : Early Chronology of Nepal, IHQ, XI, p. 304ff.

Sinha. B. P. : Sasanka, JBRS, XXXV, pp. 111-153.

,, : Bearing of Numismatics on the history of the later Imperial Ouptas, JBRS, XXXIV, pp. 18-26.

Sohni, S. V. : Western Front of Chandrsgupta II and Kumargupta I JBRS, XLII, p. 396 ff.

,, : Chandragupta I Kumardevi coin type, a re-examination, JNSI, XIX, pp. 145-54.

Srivastava, S. P. : India under the Cuptas, PIHC, 1944, p, 127 ff.

Smith, V. A. : History and Coinage of the Gupta period, JASB, 1894, p. 164 ff.

,, :White Huna (Epthalite) Coins from Punjab, JRAS, 1907, pp. 91-98.

Singh, M. M. : The Kushanas in Bihar, JBRS, XLVII pp. 394-97.

Trivedi, H. V. : A Silver coin of Ranhastin, JNSI, XVI, pp. 282-83.

,, : A New Mandasore stone inscription, PIHC, 1954, p. 94 ff.

,, : Coins of New Kings from Padmavati, JNSI, XVII, p. 53.

,, : Coins of king Jisnu, JNSI, XIII, p. 192 ff.

,, : New Variety of Jisnu coins, JNSI, XVI, pp. 105-6.

,, : Some more new coins from Padamavati, JNSI, XVIII, pp. 97-70.

Tripathi, R. S. : Mankharis of Kanauj, JBORS, XX, pp. 49-79.

Thomas, E. : On the dynasty of the Shah kings of Saurastra, JRAS, XII, p. 1 ff.

Upadhyaya, S. C. : Coins of Jisnu, A new king of Malawa, JNSI, XIII,

,, B. : The Last Maukharis prince, IHQ, XI, p. 320 ff.

,, : The Final defeat of Mihirakula, IHQ, XV, p. 302 ff.

Upendra Thakus : Some Observations on Chandragupta I Kumardevi coin type, JNSI, XXII, pp. 172-76.

,, : Skandgupta and the Hunas, JBRS. XLVII pp. 72-88.

Venkat Rao, G. : The Problems of the Baladitya's in the Gupta Period, PIHC, 1952, p. 51 ff.

Vats, M. S. : Sohnaga T. C. Seal of Avantivarman, PIHC, 1946 p. 74 ff.

Walsh, B. H. : The Coinage of Nepal, JRAS, 1908, p, 669 ff.

Gazetteer of Bombay Presidency, Vol. I, Bombay, 1896.

JOURNALS AND PERIODICAL PUBLICATIONS

Annals of the Bhandarkar Oriental Research Institute.
Annual Bulletin of the Nagapur University Historical Societk.
Archaeological Survey of India, Annual Reports.
Archaeological Survey Reports (Cunningham).
Ancient India.
Bulletin of the School or Oriental and African Studies.
Bharati, Bulletin of the College of Indology, BHU.
Calcutta Review.
Epigraphia Indica.
Indian Epigraphy Annual Report.
Indian Antiquary.
Indian Culture.
Indian Historical Quarterly.
Indian Studies (past and present).
Indian Archaeology Review.
Journals of oriental Institute.
Journal of the Andhra Historical Research Society, Rajahmundry.
Journal of the Assam Research Society.
Journal of the Bihar and Orissa Research Society.
Journal of the Bihar Research Society.
Journal of the Bombay Branch of Royal Asiatic Society.
Journal of the Department of Letters.
Journal of the Ganganath Jha Research Institute.
Journal of Indian History.
Journal of the Numismatic Society of India.
Journal of the Royal Asiattc Society. Great Britan & Ireland.
Journal of the Royal Asiatic Society Bengal.
Journal of the Asiatic Society Bengal.

Journal of the Asiatic Soctety.
Journal of the Royal Asiatic Society Bengal (Letters),
Madhya Bharati, Bulletin of thr Jabalpur Univesity.
Memoirs of the Archaeological Survey of India.
Nagari Pracharinl Patrika.
Nagapur University Journal.
Now Indian Antiquary.
Crissa Historical Research Journal.
Proceedings and Transaction of the All India Oriental Conference.
Proceedings of the Indian History Congress.

———

ABBREVIATIONS.

A.B.O.R.I. : Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute.

A.S.I.R. : Archaeological Survey of India Reports, Cunningham.

A.S I.An.Rep. : Archaeological Survey India, Annual Report.

A.S I. (N.I.S) Archaeological Survey of India (New Imperial Series.

A.B I. : Annals of Bhandarkar Institute.

C.I I. : Corpus Inscriptionum Indicarum.

Ep. Ind. : Epigraphia Indica.

I.A. : Indian Antiquary.

Ind. E.An. Rep. : Indian Epigraphy Annual Report.

I.C. : Indian Culture.

I.H.Q. : Indian Historical Quarterly.

J.P.A.S.B. : Journal and Proceedings of the Asiatic Society Bengal

J.B.O.R.S. : Journal of the Bihar and Orissa Research society.

J.A.H.R.S, : Journal of the Andhra Historical Research Society.

J.B.R.S. : Journal of the Bihar Research Society.

J.B.B.R.A.S. : Journal of the Bombay Branch of the Royal Asiatic Society.

J.A.S.B. : Journal of the asiatic Society Bengal.

J.A.R.S. : Journal of the Assam Research Society.

J.U.B. : Journal of the University of Bombay.

J.R.A.S. : Journal of the Royal Asiatic Society.

Mod. Rev. : Modern Review.

M.A.S.I. : Memoirs of the Archaeological Survey of India.

O H R.J. : Orissa Historical Research Journal.

S I. : Select Inscriptions Bearing on Indian History and Civilization., Vol. I.

PIHC. : Proceedings of the Indian History Congress.

J.I.H. : Journal of Indian History.

J.N.S.I. : Journal of the Numismatic Society of India.

J.R.A.S.B. (Lt.): Journal of the Royal Asiatic Society Bengal (Letters).

J.O.I. : Journal of the Oriental Institute.

P.A.I.O.C. : Proceedings and transactions of All India Oriental Conference.


गुप्तकालीन उत्तर भारत
आभीर
भूटान
पाण्डव
आटविराज्य
ढाका

I feel that the work bears a stamp of originality and critical judgement.

Prof. K. D. Bajpai.

In the present thesis the candidate has brought into prominent contours, various facts and features of ancient Indian History, which are generally eclipsed by the glamour of the Gupta empire. Many minor dynasties and Kings, which played important roles either in building up or in demolition of the Gupta empire have so far been neglected. The thesis does a useful service in high-lighting them. For this, all relevant materials are collected, shifted, and judiciously utilised in reconstructing this aspect of the Gupta history. It is undoubtedly a positive contribution to the fund of historical knowledge.

Prof Dr. Raj Bali Pandey.

The thesis entitled "The Minor Kings and dynasties of Northern India during Gupta Period" is indeed a valuable contribution to our knowledge of the early history of India. Historians have hitherto included these minor kings and dynasties and the proper perspective for the political history of the period is, therefore, lost. It is very essential to understand the role of these minor kings and dynasties for a really critical and comprehensive history of the period 300-600 A. D. Mr. P. K. Jaiswal has very painstakingly collected the available material on the subject and his critical treatment of it has indeed enabled him to throw considerable light on the difficult and obscure aspects of the political history of the period. Another note worthy feature of his thesis is that he has not dealt with the history of the period in dynastic pattern, but has taken Northern India as a whole and has written the history in term of factors and forces responsible for historical events and development. He has thrown welcome light on the rise and growth of feudalism in the period and he has critically examined to what extent it influenced contemprary history.

Prof. Dr. A. K. Narain.